हिंदी आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन
(1980 से अब तक)

HINDI AATMKATHAON MEIN ABHIVYAKT STREE-JEEVAN
(1980 SE AB TAK)

WOMEN-LIFE AS EXPRESSED IN HINDI AUTOBIOGRAPHIES
(1980 - TILL NOW)

पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी
स्वीटी यादव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated 21 /07/ 2017

DECLARATION

I declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled **"HINDI AATMKATHAON MEIN ABHIVYAKT STREE-JEEVAN (1980 SE AB TAK)" WOMEN-LIFE AS EXPRESSED IN HINDI AUTOBIOGRAPHIES (1980 - TILL NOW)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Sweety 21/07/17

SWEETY YADAV
(Research Scholar)

DR. OMPRAKSH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

समर्पित...

मम्मी–पापा को,

जिनका विश्वास ही मेरा वजूद है।

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	**i - vi**
अध्याय एक : आत्मकथा की अवधारणा, स्वरूप और परंपरा	**1—65**
(क) आत्मकथा की परिभाषा, स्वरुप एवं अवधारणा	
(ख) हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता	
(ग) महिला आत्मकथा लेखन : प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण	
(घ) दलित आत्मकथाएं : उत्पीड़न और मुक्ति का स्वर	
अध्याय दो : हिंदी की पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री—जीवन	**66—130**
(क) पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री : धर्म, परंपरा समाज और संस्कृति	
(ख) स्त्रियों के विविध रूप : माँ, बहिन, पत्नी, बेटी और बहू	
(ग) विवाह और दाम्पत्य	
(घ) प्रेम और विवाहेतर सम्बन्ध	
अध्याय तीन : हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन	**131—214**
(क) बचपन : निर्मिति और परिवेश	
(ख) प्रेम, विवाह और दाम्पत्य	
(ग) मातृत्व : अनिवार्यता बनाम स्वेच्छा	
(घ) पितृसत्ता के दंश	
(च) आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न	
अध्याय चार : हिंदी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री—जीवन	**215—267**
(क) दलित स्त्री : शोषण के रूप	
(ख) वर्णव्यवस्था बनाम पितृसत्ता	
(ग) विवाह और तलाक का प्रश्न	
(घ) शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता	
(च) दलित लेखकों की स्त्री दृष्टि	

.....क्रमशः जारी

अध्याय पाँच : स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन : समानता और असमानता के बिन्दु **268–312**

(क) अनुभव और संवेदना की प्रकृति का अंतर
(ख) दृष्टिगत भेद
(ग) भाषिक भिन्नता

उपसंहार **313–321**

परिशिष्ट : साक्षात्कार **322–385**

- कुसुम अंसल
- कृष्णा अग्निहोत्री
- अशोक वाजपेयी
- सूरजपाल चौहान
- मैत्रेयी पुष्पा
- मन्नू भंडारी
- सुशीला टाकभौरे

संदर्भ ग्रंथ सूची **386–406**

भूमिका

आत्मकथा को लेखक की जीवन यात्रा का निष्पक्ष पुनरावलोकन होना चाहिए क्योंकि यहाँ कल्पना से परे जीवन के शुद्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति की तलाश की जाती है। सच्चे अर्थों में आत्मकथा निजी जीवन को सार्वजनिक करना है। यहाँ व्यक्ति यथार्थ से आत्म–साक्षात्कार द्वारा जीवन की वास्तविकता से रूबरू होता है। व्यक्ति में जीवन भर व्याप्त रहने वाले द्वंद्व और दुविधा एवं इच्छा और कर्म की स्वच्छन्दता की ईमानदार स्वीकारोक्ति होती है। आत्मकथा इसी द्वंद्व में से जीवन की सार्थकता की तलाश करती है। आत्मकथा व्यक्ति की इसी सार्थक जीवन जीने की तलाश में निहित जीवन के सत्य को सामने लाती है। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में यह सबसे अधिक यथार्थवादी विधा है। यहाँ जीवन के विशुद्ध अनुभव और संघर्ष महत्त्वपूर्ण होते हैं। आत्मकथा व्यक्ति को वह आईना दिखाती है जिसमें आस्था और अनास्था की टकराहट में वह कभी डूबता है, तैरता है, तो कभी पार जाने की कोशिश करता है।

अन्य विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा जीवन के सर्वाधिक निकट है। यही कारण है कि स्त्री–जीवन के विभिन्न आयामों के अध्ययन के लिए मैंने आत्मकथा विधा पर काम करने की चुनौती को स्वीकारा।

यह शोधकार्य मूलतः 1980 से लेकर 2012 तक लिखी गयी चुनिंदा हिंदी आत्मकथाओं पर केन्द्रित है। इस अवधि में लिखी गयी जिन हिंदी आत्मकथाओं को मैंने शोध का आधार बनाया है, वे आत्मकथाएं हैं –

अमृतलाल नागर की 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' (1986), कमलेश्वर की 'जो मैंने जिया' (1992), 'यादों का चिराग' (1997), 'जलती हुई नदी' (1999), अशोक वाजपेयी की 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' (1999), भगवतीचरण वर्मा की 'कहि न जाए का कहिए' (2001), राजेन्द्र यादव की 'मुड़–मुड़के देखता हूँ' (2001), विष्णु प्रभाकर की 'पंखहीन' (2004), 'मुक्तगगन में' (2004), 'और पंछी उड़ गया' (2006), मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–1 (1995), एवं 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–2 (2000), ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1997), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002) तथा 'संतप्त' (2006), डॉ. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' (2010) एवं 'मणिकर्णिका' (2014), कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' (1996), कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997) एवं 'और... और... औरत' (2010),

पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी' (1999), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' (2007), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2008), चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की 'पिंजरे की मैना' (2008), सुशीला टाकभौरे की 'शिंकजे का दर्द' (2010)।

अपने शोधकार्य में मैंने इन आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन के विभिन्न बिन्दुओं को खोजने की कोशिश की है। आत्मकथा विधा में स्त्री–जीवन की खोज साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक प्रामाणिक है। यही कारण है कि स्त्री–जीवन के यथार्थ को जानने के लिए मैंने आत्मकथा विधा को आधार बनाया है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह कि मैंने शोध के लिए 1980 से 2012 तक के कालक्रम को ही क्यों चुना? इस कालक्रम को शोध का आधार बनाने का प्रमुख कारण यह है कि स्त्रियों और दलितों द्वारा आत्मकथा लेखन मुख्य रूप से 1980 के बाद से ही प्रारंभ होता है। यदि हम हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा पर गौर करें तो आत्मकथा लेखन हमें 1980 के बाद ही अपने चरम पर दिखता है। स्त्रियों और दलितों की आत्मकथाओं की बात करें तो 1980 से पहले गिनी चुनी आत्मकथाएं थीं और 1980 के बाद आत्मकथा ही दलित एवं स्त्री लेखन की मुख्य विधा बन गयी। न केवल स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री की बोल्डनेस सामने आयी, बल्कि पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में भी स्त्री की पंरपरागत छवि में बदलाव नजर आया। स्त्री–जीवन को एक स्त्री की दृष्टि से देखने के साथ ही एक पुरुष की दृष्टि से देखने पर स्त्री–जीवन के विविध पहलुओं की समग्रता में जाँच–पड़ताल की जा सकती है। यही कारण है कि मैंने स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के साथ ही पुरुषों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को शोध का आधार बनाया है। स्त्री चाहे वह सवर्ण हो या दलित, उसके प्रति एक पुरुष चाहे वह सवर्ण हो या दलित, का क्या दृष्टिकोण है? अपने शोध में मैंने इसे जानने–समझने के साथ ही स्त्री जीवन से जुड़े विभिन्न पक्षों को विश्लेषित करने का प्रयास भी किया है।

आत्मकथाओं के माध्यम से एक स्त्री की इच्छा, अनिच्छा, उसके सुख–दुख, उसके वे सपने जिन्हें वह पूरा कर कामयाब होने का जज्बा रखती है, अभिव्यक्त होता है। हौसले के सहारे मुसीबतों से लड़ने की ताकत समाज को संदेश देने के साथ ही पीड़ा और संघर्ष का एक इतिहास भी हमारे सामने खड़ा करती है। अमानवीयता के क्रूर और नग्न चित्र आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री जाति के उस सच को उजागर करते हैं, जिन्हें हम माँ कह कर पूजते हैं पर पत्नी के रूप में वही स्त्री हमारी दासी हो जाती है। आखिर क्यों? अपने शोध में मैंने स्त्री–जीवन

से जुड़े इन तमाम प्रश्नों के साथ स्त्री–जीवन को उसकी समग्रता और सम्पूर्णता में जानने की कोशिश की है।

शोध प्रबंध पांच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय है – 'आत्मकथा की अवधारणा, स्वरूप और परंपरा'। इस अध्याय में आत्मकथा की परिभाषा, स्वरूप एवं अवधारणा पर विचार किया गया है। साथ ही आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में आत्मकथा के स्वरूप और शैली पर विचार करते हुए प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती स्त्री आत्मकथाओं और उत्पीड़न एवं मुक्ति के स्वर की प्रबल समर्थक दलित आत्मकथाओं के समकालीन परिदृश्य को समझने की कोशिश की गई है।

दूसरा अध्याय है – 'हिंदी की पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन'। इस अध्याय में अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, अशोक वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र यादव, मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान और तुलसीराम की आत्मकथाओं को आधार बनाया गया है। इस अध्याय में स्त्रियों के प्रति इन लेखकों के दृष्टिकोण को सामने लाने की कोशिश की गई है। इन लेखकों के लेखन के माध्यम से स्त्री के प्रति पुरुष दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही धर्म, परंपरा, समाज और संस्कृति द्वारा निर्देशित स्त्री की छवि पर भी विचार किया गया है। वर्तमान समय में स्त्री की बदलती छवि को लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं में कितना व किस प्रकार दर्ज किया है? पुरुषों के जीवन में स्त्रियाँ किन–किन रूपों में आयी हैं और उन स्त्रियों के प्रति लेखकों का क्या दृष्टिकोण रहा है? इस अध्याय में इन सभी बिन्दुओं पर विचार किया गया है। आत्मकथाओं में स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं – मां, बहिन, पत्नी, बेटी, बहू पर विचार करते हुए विवाह और दाम्पत्य संबंध, प्रेम और विवाहेतर सम्बन्ध पर भी चर्चा की गई है।

शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय है – 'हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन'। इस अध्याय में कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, पद्मा सचदेव, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा, कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाओं को आधार बनाया गया है। इस अध्याय में लेखिकाओं के जीवन के विविध रूपों – बचपन, प्रेम, विवाह और दाम्पत्य, मातृत्व, आर्थिक निर्भरता आदि को सामने रखा गया है। स्त्री अपने जीवन में किन पड़ावों, चुनौतियों और जटिलताओं से जूझती है? इस पर भी विचार किया गया है। मातृत्व स्त्री के लिए स्वैच्छिक चुनाव है या अनिवार्यता का प्रश्न? वर्चस्व की संस्कृति का वहन करती स्त्रियाँ पराधीनता के अभिशाप को कितना व किस हद तक झेलती हैं? स्त्रियों के जीवन में आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न किस प्रकार सामने आया है?

अपने जीवन में स्त्रियाँ पितृसत्ता के किन–किन दंशों को कैसे व किस प्रकार झेलती हैं? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए स्त्री–जीवन को समग्रता में जानने की कोशिश की गई है।

चौथा अध्याय है – 'हिंदी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन'। इस अध्याय में मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, तुलसीराम, कौसल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाओं को आधार बनाया गया है। इस अध्याय में दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। दलित स्त्री अपने जीवन में शोषण के किन–किन रूपों को झेलती है? शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता के मामले में दलित स्त्री कितनी स्वतंत्र है या कितनी परतंत्र? विवाह और तलाक सम्बन्धी प्रश्न इन आत्मकथाओं में किन रूपों में आए हैं? दलित लेखकों का स्त्री के प्रति क्या दृष्टिकोण है? साथ ही वर्णव्यवस्था और पितृसत्ता के दंशों को उजागर करते हुए दलित स्त्री के जीवन की चुनौतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

पांचवां और अंतिम अध्याय है – 'स्त्री–पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन : समानता और असमानता के बिन्दु।' इस अध्याय में स्त्री–जीवन के संदर्भ में स्त्री और पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। स्त्री के प्रति लेखक व लेखिकाओं के दृष्टिगत भेद को उजागर करते हुए भाषिक भिन्नता को भी पहचानने की कोशिश की गई है। साथ ही पुरुष और स्त्री आत्मकथाकारों की संवेदना और अनुभव के प्रकृतिगत अंतर को भी स्पष्ट किया गया है।

उपसंहार शीर्षक के अंतर्गत शोध में प्राप्त निर्भ्रांत निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट में साक्षात्कार शीर्षक के अंतर्गत कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, अशोक वाजपेयी, सूरजपाल चौहान, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नू भंडारी और सुशीला टाकभौरे से लिए गए साक्षात्कारों को शामिल किया गया है। लेखक के कृतित्व और व्यक्तित्व में एक द्वन्द्व की स्थिति हमेशा चलती रहती है। लेखक और लेखिकाओं से लिए गए साक्षात्कार के माध्यम से मैंने इसी द्वन्द्व को समझने की कोशिश की है। साक्षात्कार में शामिल लगभग सभी प्रश्न स्त्री–जीवन से सम्बन्धित हैं। लेखक और लेखिकाओं के साक्षात्कार के माध्यम से स्त्री–जीवन के विभिन्न पक्षों को यथार्थ में समझने का प्रयास किया गया है। विवाह, प्रेम, विवाहेतर सम्बन्ध के विषय में इन लेखकों और लेखिकाओं का क्या दृष्टिकोण है? स्त्रियों के विभिन्न रूप आत्मकथाओं में किस प्रकार आए हैं? लेखिकाओं के जीवन–संघर्ष का मुख्य केंद्रबिंदु क्या रहा

है? समकालीन लेखन में ग्रामीण और किसान–मजदूर महिलाओं का जीवन–संघर्ष कितना व किस हद तक दर्ज है? स्त्री–जीवन के संदर्भ में लेखक/लेखिकाओं के क्या विचार हैं? धर्म, परंपरा और संस्कृति द्वारा निर्धारित स्त्री की छवि के विषय में लेखक/लेखिकाओं का क्या दृष्टिकोण है? वर्तमान समय में महिलाओं की क्या स्थिति है? इन सभी प्रश्नों के साथ ही स्त्री–जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं को साक्षात्कार के माध्यम से जीवन के वास्तविक और वर्तमान धरातल पर खोजने की कोशिश की गई है।

इस शोध–प्रबंध के पूर्ण होने में मेरे शोध निर्देशक और श्रद्धेय गुरु डॉ. ओमप्रकाश सिंह के मार्गदर्शन और सहयोग को शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता। विषय चयन से लेकर शोध प्रबंध के इस रूप में आने तक सर के निर्देशन और सुझावों का अमूल्य योगदान रहा है। जेएनयू में एम.ए. के दौरान क्लास में सर के अनुशासन और समय–प्रतिबद्धता के कारण मन में बैठी सर की कठोर छवि पीएच.डी. तक आते–आते सरल, सहज और उदार छवि में बदलती चली गई। सर के व्यक्तित्व की सहजता ने मेरे मन में बैठे भय को दूर करने का काम किया। सर के महत्त्वपूर्ण सुझावों ने शोध संबंधी समस्याओं के निवारण के साथ ही शोध को मजबूती देने का काम किया है। सर के सहयोग और निर्देशन की मैं आभारी हूँ।

मैत्रेयी पुष्पा, कुसुम अंसल, मन्नू भंडारी, अशोक वाजपेयी की मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपनी व्यस्तता के बावजूद साक्षात्कार के लिए समय दिया। कृष्णा अग्निहोत्री, सूरजपाल चौहान और सुशीला टाकभौरे को धन्यवाद जिन्होंने पत्र के माध्यम से साक्षात्कार में पूछ गए सभी प्रश्नों का उत्तर भेजने में सहयोग दिया।

जीवन जीने और बनने के क्रम में सबसे पहला नाम आता है – बाई (दादी) का, जो आज इस दुनिया में नहीं हैं, लेकिन यादों के रूप में वह आज भी मेरे लिए जीवित व्यक्तित्व हैं। उनका प्रभावी व्यक्तित्व हमेशा से मुझे हौसला देता रहा है। उनसे मिली रिश्तों को निभाने और बनाए रखने की सीख जीवन को समझने और जीने में काफी महत्त्वपूर्ण रही है।

आज जब मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हो सका तो इसे संभव बनाने में परिस्थितियों के साथ ही आत्मीयता से जुड़े रिश्ते भी अपना बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आज मैं जो कुछ और जैसी भी हूँ, अपने मम्मी–पापा के आशीर्वाद और स्नेह से हूँ। शिक्षा के प्रति पापा की महत्त्वाकांक्षा मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका अदा करती रही है। पापा की इसी महत्त्वाकांक्षा ने जेएनयू में पढ़ाई के लिए रुचि पैदा करने का काम किया। मम्मी के पूर्ण विश्वास ने जीवन को गति, दिशा देने के साथ ही हर प्रकार के तनावों से दूर रखा। दीदी का मुझ पर

एक बेटी की तरह स्नेह और अटूट विश्वास संबल देने के साथ ही जिंदगी जीना भी सिखाता है। जीजाजी का स्नेहिल व्यक्तित्व मेरे जीवन में काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रीती और छोटे भाई सुशान्त से की गई नोंक–झोंक मन को हल्का करने का काम करती रही है। बड़े भैया और भाभी का सहयोग भी जीवन में काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। आर्यन, श्रयांकी, अंशिका और अरनव की शरारतें मन को ताजा करने का काम करती रही हैं।

शोध कार्य को व्यवस्थित बनाने में व्योम सर का महत्त्वपूर्ण योगदान है। शोधकार्य के दौरान रीतिका के भावनात्मक सहयोग को कैसे भूला जा सकता है। शिवप्रताप सर की त्रुटिहीन टाइपिंग के कारण ही शोध प्रबंध समय पर टाइप हो सका। उनके सहयोग की मैं आभारी हूँ।

जेएनयू के उन्मुक्त वातावरण ने जीवन को एक अलग ढंग से समझने की दृष्टि प्रदान की। जेएनयू की उस खुली हवा का हिस्सा होने में, मैं कभी–कभी गर्व भी महसूस करती हूँ जिसने आजादी, सम्मान और वजूद के साथ जीना सिखाया। उस उन्मुक्त खुली और स्वच्छन्द हवा का भी आभार।

अंत में, शब्दों में खुद को रचती देखती हूँ...।

स्वीटी यादव

अध्याय एक
आत्मकथा की अवधारणा, स्वरूप और परंपरा

(क) आत्मकथा की परिभाषा, स्वरुप एवं अवधारणा

(ख) हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता

(ग) महिला आत्मकथा लेखन : प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण

(घ) दलित आत्मकथाएं : उत्पीड़न और मुक्ति का स्वर

आत्मकथा की अवधारणा स्वरूप और परंपरा

आत्मकथा लेखन व्यक्ति की अस्मिता से सीधे–सीधे जुड़ता है। आत्मकथा के माध्यम से व्यक्ति समय और समाज के संदर्भ में अपनी वैचारिकता और व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देता है। आत्म के विश्लेषण के क्रम में आत्मकथा का साहस के साथ अनिर्वाय सम्बन्ध है। आत्मकथा लेखन एक प्रकार से रचनाकार के व्यक्तित्व और समाज के बीच लगाव और तनाव की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। आत्मकथा के माध्यम से व्यक्ति अपनी आस्था और अध्यवसाय को संवेदनात्मक विवेक की कसौटी पर परखने की कोशिश करता है। सामाजिक संसर्ग की कसौटी पर निर्मित आत्मकथा के लिए समाज से मुखातिब होना अनिवार्य है।

व्यक्तित्व के उद्घाटन की प्रवृत्ति ही साहित्य और कला को जन्म देती है। काव्य, चित्र, संगीत, मूर्ति, वास्तुकला आदि इसी आत्मविज्ञापन की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं के बरक्स आत्मकथा पाठक से लेखक का सीधा साक्षात्कार कराती है। आत्मकथा के व्यक्तिगत विषय से 'अहं' को अलगाना बेहद आवश्यक है। आत्मकथा में अभिव्यक्त 'आत्म' अतीतकालीन विचारों और कर्मों का परिणाम है। इस 'आत्म' को ऐतिहासिक अर्थों में समझना भी आवश्यक होता है। इस संदर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'आत्मकथा का एक पैर साहित्य में और दूसरा इतिहास में होता है।' चर्चाओं और बहसों में नीति और सदाचार के असत्य को उघाड़कर आत्मकथा लेखन सत्य की रचनात्मक कोशिश के रूप में हमारे सामने आता है। चूँकि जीवन और साहित्य को समझने की दृष्टि से आत्मकथा आज की एक प्रमुख विधा बन गई है, इसलिए समकालीन साहित्य को समझने के लिए आत्मकथा का मूल्यांकन उपयोगी ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। आत्मकथा रचनाकार के साथ–साथ समाज को बदलने–बनाने की व्यापक सामाजिक प्रक्रिया की विशिष्ट आलोचनात्मक कार्रवाई भी है।

आत्मकथा सही मायने में व्यक्ति का इतिहास होती है। अगर उस व्यक्ति को संदेह हो कि उसके इतिहास को विकृत भी किया जा सकता है तो वह अपना इतिहास स्वयं ही लिखने को प्रवृत्त होता है। जिस तरह इतिहास लेखन की कई विधियां, दिशाएं और अवधारणाएं हैं, ठीक उसी तरह आत्मकथा लेखन की भी। यही कारण है कि इतिहास लेखन की ही भांति आत्मकथाओं पर भी कई तरह के आरोप लगते रहे हैं। कभी उस पर किसी की छवि धूमिल करने के आरोप लगते हैं तो कभी आत्मप्रशस्ति या अन्य तरह के। कहने का आशय यह है कि इतिहास लेखक की भांति आत्मकथा लेखक भी कभी निर्विवाद नहीं रहा। उसकी तटस्थ आलोचना की गुंजाइश हमेशा बनी रही है।

(क) आत्मकथा की परिभाषा, स्वरुप एवं अवधारणा

'आत्मकथा' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – आत्म+कथा। "आत्म का तात्पर्य अपने संदर्भ में व्यक्ति के सचेतन अनुभवों, विचारों, चिंतन एवं भावनाओं की समग्रता से है।"[1] कथा का अर्थ है – कहानी। आत्मकथा व्यक्ति के अनुभव अभिव्यक्ति, सम्बन्धों आदि के अन्वेषण की विधा है। आत्मकथा व्यक्ति के उन संघर्षों का इतिहास भी होती है जो उसे रचनात्मक शक्ति देते हैं। आत्मकथा एक प्रकार से व्यक्ति के जीवन का आलोचनात्मक दस्तावेज है। आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसमें आत्मा के सच को बिना किसी दुराव–छिपाव के उजागर करना अनिवार्य होता है।

आत्मकथा का अर्थ है – व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपनी कथा का लेखन। आत्मकथा में अभिव्यक्त आत्म न तो गीतकार का घनीभूत आत्म है और न ही निबंधकार का प्रतिक्रियात्मक आत्म। आत्मकथा में अभिव्यक्त 'आत्म' व्यक्ति की जीवनयात्रा के आत्म के रूप में सामने आता है। आत्मकथा व्यक्ति के भोगे हुए जीवन की यात्रा होती है। इसमें घटनाओं से जीवन नहीं बल्कि जीवन से घटनाएं जन्म लेती हैं। यहाँ आत्म चरित्र को गढा नहीं जाता बल्कि जीवन में से चरित्र उद्‌भासित होता है।

"मुंशी प्रेमचंद्र ने जब आत्मकथा को "अपने हृदय पट को, अपनी ठोकरों को, अपने हारों को प्रकट करना" कहा, तब यह भी कहा कि उसके माध्यम से "एक आदमी अपने जीवन के तत्त्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शांत करना चाहता है। आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है।"[2] आत्मकथा व्यक्ति को संसार से जोड़ने का काम करती है। आत्मकथा एक प्रकार से व्यक्ति के जीवन के सुख–दुख को तय करती आयी सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों, शक्तियों और उनसे अपनी सत्ता के सम्बन्धों की प्रकृति को उजागर करने का काम करती है। आत्मकथा के माध्यम से व्यक्ति अपने सुख–दुख, साहस–भय, पराभव–पुरुषार्थ, प्रतिभा आदि को समाज के साथ साझा करता है।

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि ऑडेन ने आत्मकथा की बड़ी चुस्त और सटीक परिभाषा करते हुए कहा था "अपने–आप को समझने की ओर उन्मुख, एक सच्चा और गंभीर आत्मपरीक्षण" है। इसलिए वह लेखक की जिंदगी के ब्यौरों तक ही महदूद नहीं रहती, बल्कि उनसे आगे जाकर जीवन–सत्य का अनुसंधान करती है।"[3] आत्मकथा एक प्रकार से जीवन की सार्थकता को तलाशने का माध्यम है।

आत्मकथा व्यक्ति के इतिहास का वैचारिक सिंहावलोकन है। आत्मकथा व्यक्ति के जीवन के साथ ही उसके परिवेश की व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया को भी सामने रखती है। आत्मकथा को अनेक नामों से पुकारा जाता है – आत्मचरित्र, आपबीती, आत्मवृत्तांत, आत्मजीवनी, जीवन–यात्रा आदि। आत्मकथा एक ओर अपने 'आत्म' को पहचानने का साधन है तो दूसरी ओर वह सार्वजनिक चौराहे पर अपने 'आत्म' को निष्कवच प्रस्तुत करने का माध्यम भी। आत्मकथा के माध्यम से लेखक खुद को जानने की प्रक्रिया में दुनिया को भी जानता है। आत्मकथा में अभिव्यक्त आत्म व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक भी होता है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार "अच्छी आत्मकथा लेखक की आत्मा का आईना होती है।"[4]

आत्मकथा अपने बहाने दूसरों के बारे में और दूसरों के बहाने अपने बारे में जानने की प्रक्रिया है। आत्मकथा एक साथ अपने को और दूसरों को एक–दूसरे के माध्यम से जानने की कोशिश है। "'आत्मकथा' का विग्रह करें तो पायेंगे की 'आत्म' अपना है और 'कथा' सबकी है। दोनों के संघात से वह चीज तैयार होती है जिसे हम इतिहास का मर्म कह सकते हैं।"[5] आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसे जीवन वास्तव के अधीन रहना होता है क्योंकि आत्मकथा में व्यक्ति अपने जीवन को ही अभिव्यक्त करता है। आत्मकथा व्यक्तिगत इतिहास के रूप में जीवन को खास औचित्य और अर्थ प्रदान करने की पद्धति है। आत्मकथा लेखन की प्रक्रिया में आत्म के बहाने समय और समाज के विकास–क्रम को भी चित्रित किया जाता है। इसलिए आत्मकथा जीवन और समाज के यथार्थ से सर्वाधिक घनिष्ठ रहती है। जीवन के सच को सामने लाकर आत्मकथा सामाजिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है। आत्मकथा रचनाकार के साथ–साथ उसके परिवेश को बदलने और बनाने की सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया की आलोचनात्मक कार्यवाही के रुप में सामने आती है। आत्मकथाकार अपने जीवन में भोगे गए यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। आत्मकथा में वह जो कुछ कहता है, उसका प्रत्यक्षदर्शी वह अकेला होता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह असत्य का प्रतिपादन न करे। "आत्मकथा विधा के लिए यह जरूरी माना गया है कि उसमें ऐतिहासिक सत्य के समान प्रामाणिक वर्णन किया जाए किंतु यह सत्य केवल आंकड़ों का सच नहीं हो बल्कि व्यक्ति सत्य और भाव सत्य हो।"[6]

आत्मकथा सच्चे अर्थों में जीवन की आलोचना है। आत्मकथा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पाठक आत्मकथाकार के वैयक्तिक जीवन को जानने के लिए प्रेरित होता है। पाठक आत्मकथाकार के सामाजिक जीवन को जानने की प्रक्रिया में जीवन के उत्थान–पतन के विशिष्ट कारणों को भी जानने की कोशिश करता है। आत्मकथा लोकतांत्रिक विधा के साथ ही सबसे ज्यादा परिवर्तनकामी विधा भी है।

"डिल्थे ने ज्यादा संपूर्ण व्याख्या करते हुए कहा कि आत्मकथा वह "सर्वोच्च और गहनतम रचना–विधान है, जिसमें जिंदगी की समझ हमारे सामने प्रकट होती है।" उसमें आख्यान और विवेक, इतिहास और चिंतन साथ–साथ चलते हैं। जो अपने जिए हुए इतिहास का वह बहुत निथरा हुआ, मार्मिक और विश्लेषणपरक सिंहावलोकन है।"[7] आत्मकथा एक प्रकार से जीवन की सार्थकता की खोज का साहित्य रूप है। आत्मकथा स्वत्व के बनने–बिगड़ने की कथा होती है जिसमें आदमी की खोज और पहचान का आख्यान होता है। आत्मकथा के लिए लेखक द्वारा आत्मविश्लेषण के साथ नैतिक द्वंद्वों, दुविधाओं और संदेहों आदि की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। सिर्फ यथार्थ वर्णन ही आत्मकथा लेखन नहीं होता क्योंकि कोरा यथार्थ एक प्रकार से अखबारी लेखन के समान होता है। आत्मकथा में वे स्थितियाँ, घटनाएं भी महत्त्वपूर्ण होती हैं जो व्यक्ति को बनाती या बिगाड़ती हैं। व्यक्ति की मानसिक बनावट और बुनावट में महत्त्वपूर्ण स्थितियां, परिस्थितियां आत्मकथा के लिए अपरिहार्य होती हैं।

"वस्तुतः जाति, धर्म, पितृसत्ता, परिवार, सामाजिक परिवर्तन, व्यक्ति और समाज के अंतर्सम्बन्धों को बेहतर ढंग से समझने में ये 'आत्मचरित्र' मददगार साबित हो सकते हैं। इन आत्मचरितों के अध्ययन से न केवल उस व्यक्ति से संबंधित लोगों के बारे में, बल्कि व्यापक समाज और समाज के उस हिस्से के बारे में नयी अंतर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।"[8] आत्मचरित आपबीती और जगबीती के बीच संचरण करते हैं। इन आत्मचरितों में भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है अतः इन्हें कल्पना की उड़ान कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। ये आत्मचरित जीवन–जगत को समझने की सार्थक कोशिश के रूप में हमारे सामने आते हैं। मानव जीवन के गुह्यतम रहस्यों तक पहुंचने का रास्ता इन्हीं आत्मचरितों से होकर गुजरता है। "वस्तुतः ये आख्यान जानने की वैकल्पिक विधि की ओर संकेत करते हैं और वह आधार प्रदान करते हैं जिसके सहारे हम मानव व्यवहार की जटिलतम समग्रता को समझ सकते हैं क्योंकि जैसा कि आर.सी.पी. सिन्हा ने लिखा है कि 'एक अच्छी आत्मकथा न तो पूरी तरह आत्मगत (सब्जेक्टिव) होती है और न ही सिर्फ वस्तुनिष्ठ।' सबसे बड़ी बात यह है कि इन आत्मचरितों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि व्यक्ति और वैयक्तिकता की अवधारणा संस्कृति सापेक्ष होती है।"[9]

विभिन्न कोशों में आत्मकथा को परिभाषित किया गया है। मानक हिंदी कोश में आत्मकथा के विषय में लिखा है, "आत्मकथा 'आत्मन' और' कथा' का सामासिक रूप है जिसमें आत्मन का अर्थ है – अपना, निज का आत्मा का, मन का और कथा का अर्थ है अपनी जीवन कहानी। इस प्रकार आत्मकथा का अर्थ हुआ अपने जीवन

की कहानी।"[10] भार्गव शब्दकोश में आत्मकथा को 'स्वलिखित जीवनी' कहा गया है। समानान्तर कोश में आत्मकथा को 'आत्मचरित, तुजुक, आत्मचरित्र, मेरी कहानी' कहा गया है। हिंदी साहित्य कोश के अनुसार 'आत्मकथा लेखक के जीवन का सम्बद्ध वर्णन है।' हिंदी शब्द सागर में आत्मकथा को 'जीवन चरित्र अर्थात् जीवनभर का वृतांत' कहा गया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में आत्मकथा के विषय में लिखा है कि 'आत्मकथा व्यक्ति के जिए हुए जीवन का ब्यौरा है जो कि स्वयं उसके द्वारा लिखा जाता है।' 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में आत्मकथा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'आत्मकथा स्वयं का स्वलिखित इतिहास है।' 'मॉडर्न एनसाइक्लोपीडिया' में आत्मकथा को व्यक्ति के जीवन का विवरण बताया गया है।

रवींद्रनाथ टैगोर ने आत्मकथा को अज्ञात चितेरे के द्वारा बनाया हुआ चित्र बताया है। हरिवंशराय बच्चन ने आत्मकथा को 'जीवन की तस्वीर' कहा है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार 'जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है, तब उसे आत्मकथा कहते हैं।' मैनेजर पाण्डेय के अनुसार आत्मकथा जीवन का पुनर्निर्माण है और विस्मृति के विरुद्ध स्मृति का संघर्ष। विष्णु प्रभाकर ने आत्मकथा के विषय में लिखा है, "अतीत में झाँकना बहुत अच्छा लगता है पर उसको परखने की अपनी–अपनी दृष्टि होती है। अतीत हमेशा समृद्ध होता है, समृद्धि का अर्थ मात्र ऐश्वर्य और वैभव नहीं बल्कि दुख, पीड़ा, वेदना और दर्द भी है, बल्कि वही अधिक है।... तो इसी तलाश की प्रक्रिया के साथ मैं जुड़ना चाहता हूँ अपने अतीत से। अतीत से जुड़ना इसलिए आवश्यक है कि वहीं तो मेरी चेतना के अंकुर फूटे थे। ये अंकुर जीवन के अंतिम क्षण तक मुझे अपने अस्तित्व का बोध कराते रहेंगे।"[11] हरिवंशराय बच्चन के अनुसार 'आत्मकथा का अर्थ है आत्मचित्रण।' हरिवंशराय बच्चन के अनुसार आत्मकथा दुनिया के साधारण जनों के साथ अपनी एकता का अनुभव कराने का माध्यम है। अमृता प्रीतम के अनुसार आत्मकथा यथार्थ से यथार्थ तक पहुंचने की प्रक्रिया है। मन्नू भंडारी के अनुसार आत्मकथा अपने निजी और सार्वजनिक अतीत को देखने और दिखाने की प्रक्रिया है।

महात्मा गांधी के अनुसार आत्मकथा मात्र सिद्धांतों का वर्णन भर नहीं है बल्कि उस वर्णन में रचनात्मकता भी अपरिहार्य है। महात्मा गांधी के अनुसार आत्मकथा जीवन के अनुभवों को प्रकाश में लाने का काम करती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आत्मकथा के विषय में लिखा है, "आत्मकथा जीवन का सत्यान्वेषण है, कल्पना के अवकाश की कोरी उड़ान नहीं है।"[12] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार आत्मकथा अत्यधिक निजी होते हुए भी सार्वजनिक होती है।

रूसो ने अपनी आत्मकथा 'आत्मस्वीकृतियाँ' में लिखा है, "यह जो कुछ मैंने किया है, जो कुछ मैंने सोचा है, जो कुछ मैं था, मैंने अपनी अच्छाई और बुराई दोनों को ही एक समान बेबाकी के साथ बयान किया है। न तो मैंने कुछ बुरा छिपाया है और न ही कुछ अच्छा गढ़ा है।"[13] रूसो आत्मकथा के लिए लेखक की प्राकृतिक ईमानदारी को बेहद आवश्यक मानते हैं। रूसो की आत्मकथा मनुष्य को समझने की दृष्टि देने के साथ ही मानव–अस्तित्व के विभिन्न स्तरों को भी उद्घाटित करती है। रूसो के लिए यह सृष्टि एक प्रेमिका की तरह थी जिसे वे दूसरों की नजरों से दूर अकेले में प्रेम करना चाहते थे। यही प्रेम उनके लिए आनंद था। अपने दर्शन से रूसो ने समाज को एक बेहतर विकल्प देने की कोशिश की जिसमें मनुष्य अधिक स्वतंत्रता और स्वाभाविकता के साथ जीवन को जी सके। अपनी आत्मकथा में रूसो ने अपने जीवन की गलतियों और कमजोरियों को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। अपनी आत्मग्लानि, अपराध–बोध आदि को रूसो ने अपनी आत्मकथा में पूरी तरह से उधेड़ कर रख दिया। आत्मकथा में अतीत की स्मृतियों को अंकित करते हुए रूसो ने लिखा है, "मेरे सर्वोत्तम वर्षों की मीठी यादों ने, जिनमें भोलेपन और मानसिक शांति की बराबर की मात्रा थी – मुझ पर हजारों मोहक प्रभाव छोड़े हैं, जिन्हें बार–बार याद करना मुझे बहुत आनंद देता है।"[14]

यशपाल ने आत्मकथा के लिए घटनाओं से आत्मकथाकार के महत्त्व को दूर रखना बेहद आवश्यक माना है ताकि न्यूनताओं और विवशताओं के समग्र चित्र को भी प्रस्तुत किया जा सके। 'सिंहावलोकन' में यशपाल ने लिखा है, "हम सभी लोग समाज की व्यापक हांडी के एक–एक चावल हैं। हांडी की अवस्था जानने के लिए कुछ चावलों को निकाल कर परख लिया जाता है। इस कहानी के रूप में मैं पाठकों के सम्मुख स्वयं को और अपने साथियों को कुछ चावल के रुप में प्रस्तुत करने का साहस कर रहा हूं, क्योंकि मैं अपने समाज की हांडी की अवस्था परखी जाने के लिए ही प्रस्तुत हूँ।"[15]

डॉ. नगेन्द्र ने आत्मकथा के विषय में लिखा है, "आत्मकथाकार अपने सम्बन्ध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न सृष्टि नहीं रचता वरन् अपने गत जीवन के खट्टे–मीठे, उजले–अंधेरे, प्रसन्न–विषण्ण, साधारण–असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है। अतीत को पुनः कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य सम्बन्ध सूत्रों का अन्वेषण करता है।"[16] विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आत्मकथा को जीवन के रहस्यों का प्रकाशक बताते हुए लिखा है, "आत्मकथा वस्तुतः रहस्य के प्रकाशन के लिए लिखी जाती है।... व्यक्ति का जो स्वरूप सामान्यतया, साधारणतया समाज के सामने नहीं आता उसे

लाना ही आत्मकथा का प्रयोजन है।"[17] प्रेमचंद ने आत्मकथा के लिए आत्मानुभवों पर विशेष जोर देते हुए लिखा है, "केवल आत्मानुभव लिखे जावे, जिसमें कल्पना का लेश भी न हो।"[18]

प्रभा खेतान आत्मकथा लेखन को चौराहे पर खड़े होने के समान मानते हुए लिखती हैं, "वैसे आत्मकथा लिखना तो स्ट्रीप्टीस का नाच है। आप चौराहे पर एक–एक कर कपड़े उतारते जाते हैं। लिखने वाले के मन में आत्मप्रदर्शन का भाव किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है, मन के किसी कोने में हल्की–सी चाहत रहती है कि उसे सही परिप्रेक्ष्य में लिया जाए, पट दर्शक वृन्द अपना–अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र हैं। उनका मन, वे इस नाच को देखें या फिर पलटकर चले जाएं।"[19] कृष्णा अग्निहोत्री आत्मकथा को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हुए लिखती हैं, "जीवन तो सभी जीते हैं, परंतु कुछ कहने–सुनने से ही समय की कहानियाँ बनती हैं – बहुत झेला, बहुत भोगा, बहुत सहा... नहीं सहन हुआ तो लिख डाला।"[20] चन्द्रकिरण सौनरेक्शा आत्मकथा को समाज से जोड़ते हुए लिखती हैं, "आत्मकथा किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा होती है... यह जीवन यात्रा तभी समाज के लिए उपयोगी होगी जब उस यात्रा कथा में पाठक को समाज या युग या मनुष्य का वर्णन रसमय और वास्तविक रुप से प्रतिबिंबित मिले। उसे पढ़कर पाठक उन बुराइयों के प्रति सचेत हो जो समाज को पिछड़ापन देती हैं।"[21] आत्मकथा के माध्यम से व्यक्ति अपने समय, समाज और परिस्थितियों के साथ ही अपने विचारों, अनुभवों और व्यक्तित्व को तलाशने का काम करता है।

आत्मकथा के उद्देश्य पर बात करें तो इसे इस प्रकार समझा जा सकता है, "एक प्रकार के आत्मकथात्मक साहित्य का उद्देश्य होता है आत्मनिर्माण, आत्मपरीक्षण या आत्मसमर्थन, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व के उलझावों में अपने आपको अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास। आत्म सम्बन्धी साहित्य लिखने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान ऐतिहासिक आंदोलनों और घटनाओं के संपर्क में रहने से डायरी, संस्मरण या आत्मकथा लेखक को यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगों में उसकी रचना उसके युग तथा समाज के प्रमाणरूप में पढ़ी जाएगी। यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्य के इतिहास निर्माण में किसी व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवश्य ही पाठक उस व्यक्ति के बारे में उसकी लिखी बातों को पढ़ना पसंद करेंगे। इन दोनों स्वतः सिद्ध उपयोगों के अतिरिक्त आत्मकथा लेखन के मूल में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी पद–मर्यादा अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।"[22] एक

प्रकार से आत्मकथा निजी जीवन दर्शन के साथ ही नए अनुभवों को भी सामने लाने का काम करती है। आत्मकथा व्यक्ति के जीवन–दर्शन की प्रस्तुति है। "उदाहरण के लिए महात्मा गांधी के सत्य के वे प्रयोग, जो उनके निजी थे और संसार के लिए एक जीवन–दर्शन प्रस्तुत कर सकते थे, उन्होंने ही उनकी आत्मकथा में स्थान प्राप्त किया है। यही मुख्यतः उनका जीवन–दर्शन था। जीवन–दर्शन से अभिप्राय सत्यासत्य, पाप–पुण्य, सफलता–असफलता, सुख–दुख आदि के सम्बन्ध में लेखक की मान्यताएं और उनके लिए किया गया त्याग, बलिदान एवं संघर्ष है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति यह मानता हो कि सत्य बोलना चाहिए और आचरण में भी सत्य होना चाहिए तब उसी के लिए वह त्याग और बलिदान करता हुआ जीवनपर्यंत अपनी आस्था पर अडिग रहता है तो ऐसे व्यक्ति का चरित्र अन्य व्यक्तियों के लिए मार्ग सूचक स्तंभ का कार्य कर सकता है। जिस तरह से सत्य जीवन का एक मूल्य है, उसी प्रकार अहिंसा, अपरिग्रह आदि जीवन–मूल्यों की अभिव्यक्ति भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्मकथा द्वारा हो सकती है।"[23]

आत्मकथाकार आत्म–मंथन, आत्मालोचन और आत्मान्वेषण के द्वारा आत्मकथा के माध्यम से मानवीय अस्तित्व के केंद्रीय सत्य को सामने लाने का प्रयत्न करता है। आत्मकथा में व्यष्टि और समष्टि के बीच संतुलन बेहद आवश्यक है ताकि दोनों को परस्पर सम्बद्ध रूप में देखा जा सके। आत्मकथा में अभिव्यक्त 'आत्म' अतीतकालीन विचारों का परिणाम है। अतः आत्मकथा का ऐतिहासिक अर्थ भी आवश्यक और अपरिहार्य होता है। अन्य साहित्य रूपों की तुलना में आत्मकथा के महत्त्व को उजागर करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, "साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्मानुभव भी। जहाँ जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्मकथा का आशय है कि केवल आत्मानुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो।"[24]

आत्मकथा पर विचार करते समय यह भी महत्वपूर्ण है कि आत्मकथा लेखक ने आत्मकथा कब और क्यों लिखी? जैसा कि मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "प्रायः आत्मकथाएं वे ही लिखते हैं जिनको समाज में अपने महत्त्वपूर्ण होने का बोध या कभी–कभी भ्रम होता है, क्योंकि जो महत्त्वपूर्ण होता है उसी की जिंदगी में दूसरों की दिलचस्पी होती है। लोग उसके जीवन के सच और झूठ को जानना भी चाहते हैं।"[25] राजेन्द्र यादव भी लिखते हैं, "आत्मकथाएं प्रायः उन्होंने ही लिखी हैं जो कहीं पहुंच चुके हैं और उनके पास यह अवकाश और सुविधा रही है कि पलटकर अपनी यात्राओं का जायजा ले सकें। चूंकि वे वही लिखते हैं जो देखना चाहते हैं इसलिए उन्हें सफलताओं का संपादित संकलन भी कह सकते हैं।"[26] कभी–कभी आत्मकथाकार

सम्मान और यश पाने के लिए भी आत्मकथा लिखता है। ऐसी स्थिति में लेखक अपने को विशिष्ट अंकित करते हुए अपनी गलतियों या असफलताओं का वर्णन भी शहीदाना भाव से करता है। ऐसी आत्मकथाएं सफलता और उपलब्धियों के द्वीपों पर बैठकर जीवन का पुनरावलोकन मात्र होती हैं। कभी–कभी आत्मकथा में आत्ममुग्धता की स्थिति भी पैदा हो जाती है और हम देखते हैं कि आत्मकथा का उपयोग स्वयं को महान बनाने की कोशिश और दूसरों पर दोषारोपण करने के लिए किया जाता है। ये दोनों ही स्थितियां आत्मकथा के लिए खतरनाक हैं। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "कुछ लोग आत्मकथा इसलिए लिखते हैं कि जीते जी वे अपना ताजमहल बनवाना चाहते हैं। आत्मकथा लेखन यदि स्मारक निर्माण है तो जाहिर है कि वह जीवित चीज नहीं होगी और वहाँ जाने के बाद हर किसी की इच्छा मर जाने की होगी जीने की नहीं।"[27]

आत्मकथा के लिए आवश्यक है कि आत्म से एक दूरी कायम करते हुए व्यष्टि और समष्टि के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश की जाए। वही आत्मकथाएं महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं जिनमें समाज में फैले पाखंड को उजागर करने के साथ ही अपने जीवन की पोल खोलने का साहस किया गया हो। आत्मकथा के लिए आत्ममुग्धता, आत्म–श्लाघा नहीं वरन् आत्म–निर्मम आलोचना आवश्यक है। पंकज चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है, "आत्मकथा में हम अपने सब कुछ को सार्वजनिक कर देने के साहस और फिर उस सार्वजनिकता में से अपने को दुबारा पा लेने के अचरज के बीच लगातार आवाजाही करते हैं।"[28]

आत्मकथा में अभिव्यक्त आत्म को व्यक्ति के जीवन की कथा के रूप में देखते समय यह जानना भी जरूरी है कि आत्मकथा में किस प्रकार की आत्मा की अभिव्यक्ति हुई है? वह संघर्षों में विकसित बेचैन आत्मा है या सुविधाओं में पली आश्वस्त आत्मा? आत्मकथा के लिए समृति के सम्मोहन से स्मृति के विवेक का अलगाव करते हुए झूठी और सच्ची स्मृतियों के बीच फर्क करना बेहद जरूरी है। कुछ स्मृतियां संघर्ष, यातना और दमन की होती हैं और कुछ स्मृतियां सफलता, सुख, ऐश्वर्य और विलासिता की। संघर्ष, यातना और दमन की स्मृतियां भविष्य में संघर्ष का संकल्प संजोती हैं। आत्मकथा लेखन के समय स्मृति के मोह और स्मृति के विवेक में फर्क करना भी आवश्यक है। "आत्मकथा का लेखन एक स्तर पर विस्मृति के विरुद्ध स्मृति के लिए संघर्ष से जुड़ा होता है। असल में आत्मकथा में स्मृतियां प्रायः वैसी नहीं होतीं जैसी वे वास्तव में होती हैं। आत्मकथा का लेखक जिन्हें याद करता है, वही स्मृतियां आत्मकथा में आ पाती हैं। यही नहीं आत्मकथा में जीवन भी वैसा नहीं होता जैसा वह जिया जाता है, बल्कि जिया गया जीवन

जैसा याद आता है या जैसा याद किया जाता है, वही आत्मकथा में व्यक्त होता है। वॉल्टर बेंजामिन ने ठीक ही लिखा है कि आत्मकथा स्मृति और विस्मृति के द्वंद्व से पैदा होती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जीवन में घटनाओं का अनुभव सीमित होता है। वह देशकाल से बंधा हुआ भी होता है, जबकि याद किए जाने पर वह स्मृति के रूप में असीम बन जाता है, क्योंकि वह अतीत को वर्तमान से जोड़ता है।"[29]

आत्मकथा नये अनुभवों को प्रस्तुत करने और निजी जीवन–दर्शन को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रयोजन से लिखी जाती है। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में आत्मकथा जीवन के सबसे ज्यादा समीप है। अनुभव, आचरण और व्यक्तित्व की विविधता ही आत्मकथा के लिए प्रेरक का काम करती है। विभिन्न विद्वानों ने आत्मकथा के प्रयोजनों पर विचार किया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में आत्मकथा के निम्न प्रयोजन बताए गए हैं –

"1. आत्मोन्नति के लिए आत्म परीक्षण
2. अतीत की स्मृतियों से चिपकने का मोह
3. स्वानुभूतियों को प्रेषित करने का मोह
4. अस्मिता की स्थापना
5. कलात्मक अभिव्यक्ति की इच्छा
6. उच्च पद अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा।"[30]

हिंदी साहित्य कोश के अनुसार आत्मकथा लेखन के निम्न प्रयोजन हैं –

1. अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह
2. जटिल विश्व के उलझावों में अपने आपको अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास
3. लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान ऐतिहासिक आंदोलनों और घटनाओं के संपर्क में रहने से डायरी, संस्मरण या आत्मकथा लेखक को यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगों में उसकी रचना उसके युग तथा समय के प्रमाण रूप में पढ़ी जाएगी।
4. कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी हो सकती है।
5. अपनी पद मर्यादा अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।"[31]

विभिन्न विद्वानों ने आत्मकथा लेखन के अनेक प्रयोजन बतलाए हैं। प्रश्न यह उठता है आत्मकथा लेखन के पीछे लेखक का क्या उद्देश्य निहित होता है? पाठक साहित्य के अन्य प्रकारों की अपेक्षा आत्मकथा पढ़ने के लिए क्यों प्रवृत्त होता

है? वास्तविकता यह है कि आत्मकथा में जीवन के यथार्थ गूढ़ सत्य निहित होते हैं। इन सत्यों से जीवन को उन्नत बनाने में सुविधा रहती है। दूसरे के जीवन में झांकने की नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण भी पाठक अन्य विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा पढ़ना अधिक पसंद करता है। आत्मकथा के माध्यम से समसामयिक इतिहास का बोध भी होता है। 'आत्मकथा में पाठक की रुचि का एक कारण पाठक द्वारा आत्मकथाकार के जीवन के माध्यम से अपने अधूरे स्वप्न और संकल्पों को पूर्ण करने की आकांक्षा भी है।

लेखक और पाठक की दृष्टि से आत्मकथा के निम्न प्रयोजन हैं –

"1. आत्मप्रशंसा (आत्मप्रचार)
2. आत्मस्वीकृति (कन्फैशन) अथवा पश्चात्ताप, आत्मज्ञान, आत्मपरीक्षण
3. मृत्यु भीति और अमरता की आकांक्षा
4. अपने अनुभवों और प्रयोगों से अपने अनुगामियों को लाभान्वित करने की इच्छा
5. सहानुभूति प्राप्त करने के हेतु
6. अपने अहं की तुष्टि के लिए
7. अपनी प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता से आर्थिक लाभ उठाने की इच्छा
8. प्रतिशोध की भावना
9. सामाजिक प्रतिष्ठा की अभिलाषा
10. मानसिक तनाव से मुक्ति (अभिव्यक्ति) तथा
11. अतीत का मोह।"[32]

आत्मकथा की प्रकृति और विशिष्ट रूप को समझने के लिए इसे अन्य सहधर्मी विधाओं – डायरी, संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज के बरक्स रखना उचित होगा। क्योंकि आत्मानुभव प्रधान होने के कारण इन विधाओं को आत्मकथा का ही स्वरूप समझ लिया जाता है।

आत्मकथा और जीवनी – "जीवनी भी आखिरकार जीवन का इतिहास ही है। यह सच है कि जीवनी हमें अन्य के अंतरंग जीवन के करीब जाने का अवसर देती है लेकिन यह अन्य के निजी जीवन की निजता का उल्लंघन भी है। लेकिन इस उल्लंघन को सामाजिक मान्यता प्राप्त है। लेकिन जीवनी की सीमा यह भी है कि वह अन्य के अंतरंग को पूरी तरह उजागर नहीं कर सकती। इसीलिए कोई जीवनी उस चरितनायक की अंतिम जीवनी नहीं होती। हर जीवनी तदर्थ है, अधूरी है।"[33]

आत्मकथा और जीवनी दोनों का ही आधार व्यक्तित्व है किंतु दोनों में एक बड़ा अंतर है – आत्मकथा का लेखक स्वयं वही व्यक्ति होता है जिसका वर्णन

आत्मकथा में होता है जबकि जीवनी का लेखक दृष्टा होता है जो दूसरे व्यक्ति के जीवन का वर्णन करता है। आत्मकथा आत्मनिष्ठ होती है जबकि जीवनी वस्तुनिष्ठ। आत्मकथा का लेखक स्वयं भोक्ता होता है जबकि जीवनी का लेखक मात्र दृष्टा। आत्मकथाकार स्वयं अपने जीवन के अनुभवों को प्रस्तुत करता है जबकि जीवनी लेखक प्राप्त सामग्री के आधार पर किसी व्यक्ति के जीवन को सामने रखता है। अतः आत्मकथा जीवनी की तुलना में अधिक विश्वसनीय विधा है। आत्मकथा लेखन में स्मृति एक मुख्य तत्त्व के रूप में कार्य करती है जबकि जीवनी में स्मृति का उतना महत्त्व नहीं है। एक व्यक्ति की आत्मकथा एक ही होती है जबकि एक ही व्यक्ति की जीवनियाँ अनेक हो सकती हैं। अतः आत्मकथा जीवनी से अधिक प्रामाणिक है।

आत्मकथा और संस्मरण – आत्मकथा और संस्मरण दोनों में ही अतीत की स्मृतियाँ प्रमुख होती हैं किंतु दृष्टिकोण के आधार पर दोनों में भिन्नता है। संस्मरण की मुख्य विशेषता लेखक का अतीत के प्रति प्रेम है। संस्मरण आत्मपरक या व्यक्तिपरक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। पाश्चात्य आलोचकों ने संस्मरण के दो भेद बताए हैं – रैमिनिसेन्ज तथा मैमोयर्स। हिंदी में इन्हें 'आत्मपरक' तथा 'व्यक्तिपरक' संस्मरण कहा जा सकता है। जीवन की विशेष घटनाओं का स्मृति के आधार पर वर्णन 'आत्मपरक' एवं व्यक्तियों को आधार बनाकर लिखे गए संस्मरण 'व्यक्तिपरक' संस्मरण कहलाते हैं। बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएं' आत्मपरक संस्मरण है जबकि महादेवी वर्मा का 'गिल्लू' व्यक्तिपरक संस्मरण है। डिल्थे के अनुसार, "संस्मरण में लेखक अपने जीवन की घटनाओं को सिर्फ एक बाहरी प्रेक्षक की मुद्रा में बयान करता है, जबकि आत्मकथा लिखते समय वह इन घटनाओं को दृश्य के भीतर से समझने और उन्हें एक संगठित निजी अर्थ देने की कोशिश करता है।"[34] एक तरह से संस्मरण को आत्मकथा की सामग्री तो कहा जा सकता है लेकिन आत्मकथा नहीं।

"आत्मकथा जैसी विधा की गंभीर विदुषी लॉरा मरकुस ने आत्मकथा और संस्मरण में अंतर करते हुए लिखा है, "यह अंतर केवल रूपगत नहीं है। आत्मकथा लेखक आत्म–चिंतन कर सकते हैं और संस्मरण लेखक में यह क्षमता नहीं होती।"[35]

आत्मकथा तथा रेखाचित्र – किसी व्यक्ति का शब्दों के द्वारा ऐसा चित्र प्रस्तुत करना जिससे उसका व्यक्तित्व सजीव हो उठे, रेखाचित्र कहलाता है। चित्रात्मकता रेखाचित्र का मुख्य गुण है। रेखाचित्र में स्मृति के साथ भावना तथा कल्पना का भी समावेश रहता है जबकि आत्मकथा में कल्पना का कहीं कोई स्थान नहीं। रेखाचित्र में न तो विस्तार होता है और न ही समग्रता। रेखाचित्र में संपूर्ण विवरण उतना आवश्यक नहीं जितना आत्मकथा में। वहाँ केवल कुछ गिने–चुने

शब्द या वाक्य ही उस व्यक्ति के स्वरुप को उद्घाटित करने में सफल होते हैं जबकि आत्मकथा में संपूर्ण विवरण आवश्यक ही नहीं वरन् महत्त्वपूर्ण भी होता है। शैली के आधार पर भी आत्मकथा और रेखाचित्र में भिन्नता है। रेखाचित्र में शब्द ही रेखाओं को साकार कर देते हैं इसलिए इसकी शैली लाक्षणिक या व्यंजनामूलक होती है। वहीं दूसरी ओर आत्मकथाकार अपने जीवन की कथा को सामने रखता है इसलिए उसकी शैली विवरण या व्याख्या प्रधान होती है।

आत्मकथा तथा डायरी – आत्मकथा सम्पूर्ण जीवन का वर्णन है जबकि डायरी किसी विशेष दिन की अनुभूति का अंकन। आत्मकथा के लिए क्रमबद्धता, नैरंतर्य बोध आवश्यक है जबकि डायरी में अभिव्यक्त दैनिक अनुभव एक–दूसरे से कटे होने के कारण वहाँ पूर्वापरता का अभाव होता है। डायरी लेखक केवल उस दिन विशेष का विश्लेषण करता है जबकि आत्मकथाकार संपूर्ण जीवन का पुनरावलोकन करता है। डायरी तत्कालीन अनुभूति की प्रस्तुति मात्र होती है। इस कारण से उसमें तारतम्यता का अभाव रहता है। डायरी में 'आत्म' का वर्णन तो होता है लेकिन कथा का नहीं। अतीत को वर्तमान के आलोक में रखने के लिए आत्मकथाकार डायरी को आत्मकथा में अभिव्यक्त कर सकता है। अतः डायरी को आत्मकथा की सामग्री कहा जा सकता है लेकिन आत्मकथा नहीं। मूलभूत उद्देश्यों और पद्धतियों में भिन्नता के कारण दोनों ही विधाएं एक–दूसरे से भिन्न हैं।

"डायरी एक अधूरी विधा है। उसमें कोई भी चीज राउंड अप नहीं होती। हाँ, जीवन के कुछ प्रदीप्त, कुछ धुंधले अंश जरूर दिखते हैं और वह खुरदुरापन पाठकों को विकर्षित नहीं करती बल्कि गोपन को जानने की उत्सुकता का प्रवाह पाठकों को अपने जद में ले लेता है। हर किसी का जीवन समुद्र की तरह होता है। आप जब भी डुबकी लगाएंगे एकाध कंकड़ हाथ आएगा। उससे मुकम्मिल चेहरा बनाना मुश्किल है। किसी को जानने के लिए डायरी के क्षण नहीं, जिंदगी का फैलाव चाहिए।"[36]

आत्मकथा तथा यात्रावृत्त – यात्रावृत्त यात्राओं का विवरण देता है, आत्मा का नहीं। इसके साथ ही यात्रावृत्तांत कुछ दिन, महीनों या वर्ष का होता है जबकि आत्मकथा जीवनभर की कथा होती है। अतः यात्रावृत्त आत्मकथा से भिन्न है।

आत्मकथा तथा रिपोर्ताज – रिपोर्ताज का सामान्य अर्थ है 'रिपोर्ट' या 'रपट'। रिपोर्ताज किसी वस्तु या घटना का आंखों देखा या कानों सुना ब्यौरा होता है। आत्मकथा में व्यक्ति का जीवन–संघर्ष मुख्य होता है जबकि रिपोर्ताज में ऐसे किसी संघर्ष की प्रस्तुति नहीं मिलती है। इस दृष्टि से आत्मकथा और रिपोर्ताज परस्पर भिन्न विधाएं हैं।

आत्मकथा तथा आत्मकथात्मक उपन्यास – सहधर्मी विधाओं में आत्मकथात्मक उपन्यास, आत्मकथा के अधिक निकट है किंतु दोनों में भिन्नता है। कल्पना के प्रयोग के कारण आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक को मनमाना प्रयोग करने की छूट होती है जबकि आत्मकथा में ऐसा नहीं है। अनेक बार आत्मकथात्मक उपन्यास के मुखौटे में लेखक अपने जीवन की कथा आत्मकथा को ही सामने रखता है। "'शेखर एक जीवनी' के उपन्यासकार अज्ञेय से एक बार प्रश्न पूछा गया कि क्या 'शेखर : एक जीवनी' आपकी आत्मकथा है? अज्ञेय ने इसके उत्तर में मना किया लेकिन यह कहा – "लेकिन इतना जरूर कहूंगा कि आत्मकथा को आत्मकथा में लिखने से ज्यादा आसान है उसे उपन्यास में लिपिबद्ध करना।"[37]

आत्मकथा के लिए साहस एक अनिवार्य और प्रमुख तत्व है। आत्म की छवि के प्रति अत्यधिक लगाव के कारण कभी–कभी लेखक अपने जीवन की कथा की प्रस्तुति के लिए आत्मकथात्मक उपन्यास का सहारा लेता है। अभिव्यक्ति के खतरों के चलते लेखक अनेक बार अपनी आत्मकथा को आत्मकथात्मक उपन्यास का नाम दे देता है। वस्तुतः यह उपन्यास आत्मकथा ही होते हैं, उदाहरण के लिए मैत्रेयी पुष्पा का 'कस्तूरी कुण्डल बसै'। इनमें मुख्य अंतर प्रस्तुतीकरण का होता है। आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक कल्पना के प्रयोग, तथ्यों के सुविधानुसार प्रस्तुतिकरण के लिए स्वतंत्र होता है। कल्पना के प्रयोग की गुंजाइश आत्मकथात्मक उपन्यास को आत्मकथा से अलग करती है। अंतः 'मैं' शैली में होने के बावजूद आत्मकथात्मक उपन्यास, आत्मकथा से भिन्न है।

इस प्रकार साहित्य की इन विधाओं से समानता के बावजूद 'आत्मकथा' एक स्वतंत्र विधा है। 'हिंदी साहित्य कोश' में यह कहा गया है कि "जाने–अनजाने आत्मांकन करना ही इन विविध रचना प्रकारों का उद्देश्य होता है।"[38] अतः निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि बहुत सूक्ष्म अंतर होते हुए भी आत्मकथा अपने विशिष्ट अर्थ में इन सहधर्मी विधाओं से एक भिन्न विधा है।

आत्मकथा न तो किसी से संकोच करती है और न किसी को अस्पृश्य मानती है। वह तो बिना किसी भेदभाव के सभी से अपना रिश्ता कायम करती है। आत्मकथा लेखन के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि व्यक्ति विशेष ही आत्मकथा लिख सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन दूसरे से पृथक और महत्त्वपूर्ण होता है। प्रेमचंद ने लिखा है, "मेरा ख्याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनमें हमें प्रकाश मिल सकता है। किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है, जिसमें बड़े–से–बड़े महच्चरितों के लिए भी कुछ–न–कुछ विचार की सामग्री न हो। महच्चरित इसी तरह बनते हैं।"[39]

आत्मकथा के तत्व

आत्मकथा में वैयक्तिकता का होना अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण है। बी.जी. नायक ने आत्मकथा के विषय में लिखा है कि आत्मकथाकार अपनी कृति में अपना ही विश्लेषण करता है। आत्मकथा में लेखक को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का पूरा अवकाश मिलता है। प्रसिद्ध लेखक श्री एच.जी. वेल्स ने लिखा है, "आत्मकथा में मैं अपना ही पीछा करता हूँ।"[40] एक ओर आत्मकथा सत्यता और ईमानदारी की मांग करती है वहीं दूसरी ओर पूर्ण तटस्थता की भी। इस दृष्टि से आत्मकथा लेखन पूर्ण आत्म–स्वीकार के साहस की माँग करता है। आत्मकथाकार द्वारा जीवन–प्रसंगों का वास्तविक चित्रण करने के लिए भय, संकोच, आडम्बर, अहंकार, विनम्रता जैसे आत्मगत अवरोधों का अतिक्रमण आवश्यक है। एक ओर आत्मकथा लेखन का रास्ता कठिनाइयों से भरा है वहीं दूसरी ओर इसका अन्त अत्यन्त ही सुखद है। कुबेरनाथ राय ने ठीक ही लिखा है, "आत्मकथा साहस, भय और अंधकार के बीच संसार के वरुणालय के मध्य भटकती यात्रा का गीत है, जिसके अंत में हाँफता–तिरता, बेसुध, थका नायक अरुणोदय का इंतजार करता है, इसलिए कि उसकी दुख की रात का अवसान हो जाए।"[41]

सामाजिक जीवन की जटिलता और रहस्यों तक हमें आत्मकथा ही ले जा सकती है। वास्तविक जीवन से सीधे सम्बद्ध होने के कारण आत्मकथा किसी एक विन्यास के बंधन में बंधने के लिए बाध्य नहीं होती है। वह किसी भी शिल्प में हो सकती है। आत्मकथा में चूंकि जीवन होता है और जीवन जीने का कोई पूर्वनिर्धारित पैमाना नहीं होता है। ठीक उसी भांति आत्मकथा पूर्वनिर्धारित विन्यास को स्वीकार नहीं करती है। आत्मकथा के तत्वों की बात करें तो पूर्वनिर्धारित और पूर्वनियोजित तत्वों का ढाँचा आत्मकथा पर लागू नहीं किया जा सकता है। हाँ, कुछ तत्व ऐसे अवश्य हैं जो आत्मकथा लेखन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। ये तत्व जीवन जीने के क्रम में स्वयमेव ही आ जाते हैं। यही कारण है कि एक आत्मकथा, दूसरी आत्मकथा से अपना पृथक् अस्तित्व लिए होती है। जीवन में कब क्या घटित हो जाए, यह पूर्वनिर्धारित नहीं होता। आत्मकथा उसी जीवन का पुनर्जन्म है, फिर उसे पूर्वनिर्धारित कैसे किया जा सकता है? यह सच है कि आत्मकथा किसी विन्यास–बंधन को स्वीकार नहीं करती है और न ही तत्त्वों का परम्परागत ढाँचा इस विधा पर लागू होता है। फिर भी कुछ तत्व ऐसे अवश्य हैं जो आत्मकथा लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं वरन् आवश्यक भी हैं। ये तत्व है – आत्मतत्त्व, कथा तत्व, जीवन, तटस्थता, स्मृति, सत्यता, यथार्थता और ईमानदारी, देशकाल और वातावरण, भाषा और शैली, उद्देश्य, गहनता और पारदर्शिता।

1. आत्मतत्व

आत्मकथा में लेखक ही कृति का विषय होता है। आत्मकथा में 'आत्मतत्त्व' से अभिप्राय लेखक के व्यक्तित्व से है। यह व्यक्तित्व ही पाठक की उत्सुकता का प्रमुख केंद्र होता है। आत्मकथा में अभिव्यक्त व्यक्तित्व वास्तविक और विश्वस्त होता है। "आत्म का तात्पर्य अपने संदर्भ में व्यक्ति के संचेतन अनुभवों, विचारों, चिंतन एवं भावनाओं की समग्रता से है।"[42] आत्मकथा में आत्मतत्त्व के निरूपण के लिए 'आत्म' के साथ परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं। परिस्थितियों के घात–प्रतिघात से ही लेखक का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। आत्म और व्यक्तित्व के इस चित्रण में लेखक को आत्मोद्घाटन, आत्मविश्लेषण, आत्ममंथन और आत्मालोचन की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। आत्मकथा में अभिव्यक्त 'आत्म' प्रमुख और निर्णायक तत्व है जो वातावरण, परिस्थिति, समय आदि को सूत्र रूप में जोड़ने का काम करता है। आत्मतत्व के बिना आत्मकथा की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती है। "वैयक्तितकता आत्मकथा का प्राण तत्व है। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मकथा लिखता है तो जैसे वह स्वयं दर्पण के सामने खड़ा होता है और अपने प्रतिबिंब को अपने ही हाथों से संवारने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार आत्मकथा में व्यक्ति और विषय दोनों बिंब–प्रतिबिंब रुप में विद्यमान रहते हैं।"[43]

'आत्म' के चित्रण में व्यक्ति कभी–कभी स्वयं पर रीझने भी लगता है। आत्मगोपन तथा आत्मश्लाघा से बचने के लिए आत्मकथाकार के लिए आत्म से एक प्रकार की तटस्थता, निरासक्ति भाव और निरपेक्षता आवश्यक है। "प्रत्येक आत्मकथा लेखक के सामने सामाजिक मुखौटा और व्यक्तिगत ईमानदारी का द्वंद्व होता है। यह बात कहने और सुनने में अच्छी लगती है कि व्यक्तिगत चेहरे को सार्वजनिक चौराहे पर लाना महत्वपूर्ण है, लेकिन आत्मकथा लिखते हुए ऐसा करना आसान नहीं होता। मुखौटे से अस्मिता का द्वंद्व आत्मकथा लेखन में बार–बार प्रकट होता है और लेखक को उस द्वंद्व का सामना करना पड़ता है। एक अच्छी आत्मकथा यह बताती है कि जीवन जीना कितना मुश्किल काम है। हर व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के अंतर्विरोध होते हैं और उन अंतर्विरोधों के बीच से ही उसका आत्म बनता–बिगड़ता है। जो लेखक ऐसे अंतर्विरोधों पर पर्दा डालकर अपने स्वत्व की कथा कहने का प्रयत्न करते हैं, वे खुद को धोखा देते हैं और अपने पाठकों को भी।"[44] जहाँ आत्मकथा में आत्मविश्वास अपने अतिरेक रूप में होता है, वहाँ विवेक गायब हो जाता है। वही आत्मकथाएं महत्वपूर्ण मानी गई हैं जिनमें आत्म की बनने–बिगड़ने की छवि की परवाह किए बिना जीवन की वास्तविकता को सामने लाने का साहस किया गया हो। अतः 'आत्म' आत्मकथा का वह महत्वपूर्ण तत्व है जो जीवन को समझने की एक सार्थक दृष्टि देता है।

2. कथातत्व

आत्मकथा का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है – 'कथातत्व'। आत्मकथा जीवन की कथा है। यह एक प्रकार से जीवन की अनुकृति है। कथा होते हुए भी आत्मकथा सामान्य कथा से भिन्न है। जहाँ एक ओर सामान्य कथा कल्पित होने के कारण सुनियोजित और व्यवस्थित होती है, वहीं दूसरी ओर आत्मकथा वास्तविक जीवन की कथा होने के कारण अनियोजित और अपूर्ण होती है। "संभवतः इस अपूर्णता को लक्ष्य करके ही डन महोदय ने आत्मकथा को 'टारसो' कहा है, जिसका अर्थ होता है 'सिर' हाथ और पांव विहीन धड़'।"[45]

आत्मकथा में कथातत्व पूर्णतया सत्य पर आधारित है। अतः यह आवश्यक है कि यथार्थ और वास्तविक तथ्यों को बिना किसी कल्पना अथवा विकृति के प्रस्तुत किया जाए। आत्मकथा के लिए कथा की मार्मिकता मुख्य होती है। कथातत्व ही आत्मकथा में रोचकता और कौतूहलता बनाए रखता है। कथातत्व के लिए क्रमबद्धता एवं सुसंगतता आवश्यक है क्योंकि शिथिलता एवं असंबद्धता आत्मकथा से पाठक का संवाद तोड़ देती है। अतिविस्तार, अतिसंक्षेप, आत्मसमर्थन की स्थिति आत्मकथा के लिए घातक है।

3. परिवेश

परिवेश अथवा वातावरण आत्मकथा का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है। आत्मकथा को सजीवता प्रदान करने के लिए परिवेश या वातावरण अत्यन्त आवश्यक है। "इसके बिना चरित्र नायक कठपुतली सा शून्य में झूलता–सा प्रतीत होता है।"[46] आत्मकथा में तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आत्मकथाकार भी समाज का ही प्राणी होता है। तत्कालीन परिस्थितियों में ही वह अपनी विकास की सीमाओं को निर्धारित करता है। एक प्रकार से आत्मकथा स्थिति और परिस्थिति के घात–प्रतिघात का इतिहास प्रस्तुत करती है।

परिवेश उन समस्त परिस्थितियों का समग्र रुप है जिनसे आत्मकथाकार को संघर्ष करना पड़ता है। "आत्मकथा लेखक के चरित्र को असीमित ढंग से उद्‌घाटित करती है। वह लेखक के समकालीन जीवन पर भी एक 'सर्च लाइट' डालती है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि कुछ आत्मकथाएं किसी विशेष समय का इतिहास बताने में विशिष्ट पुस्तकों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मदद करती हैं।"[47]

आत्मकथा साहित्य का ऐसा रूप है जो आत्मकथाकार के जीवन से आरंभ होकर घर, समाज, राष्ट्र और विश्व तक को अपनी परिधि में समेटे हुए है। आत्मकथा में जीवन का स्वरूप निश्चित करने में परिवेश की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

परिवेश के द्वारा ही आत्मकथाकार के जीवन–चित्र की भूमिका का निर्माण होता है। डॉक्टर भारद्वाज इसके समर्थन में लिखते हैं, "परिवेश अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, हमारे अंतर्द्वंद्वों की अभिव्यक्ति के साथ–साथ वह भी अभिव्यक्त होता चलता है। मन का उद्वेलन परिस्थितियों से प्रभावित होता है और यही परिस्थितियां स्वाभाविक रूप से व्यक्ति को चारों ओर के परिवेश से जोड़ती हैं।"[48]

4. उद्देश्य

जहाँ तक आत्मकथा लेखक के उद्देश्य का प्रश्न है, यह अन्य विधाओं के लेखकों से पृथक होता है। आत्मकथा लेखक का उद्देश्य आत्मविश्लेषण, आत्मनिरीक्षण और आत्मविवेचन के साथ बाह्य विश्व के साथ अपने सम्बन्ध उद्घाटित करना भी है। डॉ. श्यामसुंदरदास ने अपनी आत्मकहानी लिखने के उद्देश्य के विषय में लिखा है, "बहुत दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि मैं अपनी कहानी स्वयं लिख डालता तो अच्छा होता, क्योंकि मेरे जीवन से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य–मुख्य घटनाओं को जान लेना तो किसी के लिए भी कठिन न होगा, पर हिंदी और विशेषकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बन्ध रखने वाली अनेक घटनाओं का विवरण, जिनका उस समय प्रकाशित होना असंभव–सा था परन्तु जिनका ज्ञान बना रहना परम आवश्यक है, मेरे साथ ही लुप्त हो जाएगा और ज्यों–ज्यों समय बीतता जाएगा मैं भी उन्हें कुछ–कुछ भूलता जाऊंगा। इसलिए मेरी यह इच्छा है कि इस समय इन घटनाओं का वृतान्त तथा अपना भी कुछ–कुछ लिख डालूँ जिससे समय पड़ने पर मैं इन बातों से काम ले सकूं और मेरे पीछे दूसरे लोग उन घटनाओं की वास्तविकता जानकर इस समय के ऐतिहासिक तथ्य का यथार्थ निर्णय कर सकें।"[49]

राहुल सांकृत्यायन ने अपनी आत्मकथा लिखने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "'मेरी जीवन यात्रा' मैंने क्यों लिखी, मैं बराबर इसे महसूस करता रहा कि ऐसे ही रास्तों से गुजरे हुए दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन यात्रा को लिख गए होते तो मेरा बहुत लाभ हुआ होता – ज्ञान के ख्याल से ही नहीं, समय के परिमाण में भी। मैं मानता हूँ कि दो जीवन यात्राएं बिल्कुल एक–सी नहीं हो सकतीं, तो भी इसमें संदेह नहीं कि सभी जीवनों को उसी आन्तरिक बाह्य विश्व की तरंगों में तैरना पड़ता है।"[50]

आत्मकथा लिखने का उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। साहित्य की विधाओं में आत्मकथा जीवन की निकटस्थ विधा है। अतः आत्मकथा कभी भी निरुद्देश्य नहीं हो सकती है। आत्मकथा किसी न किसी उद्देश्य के तहत ही लिखी जाती है। निजी जीवन दर्शन और नये अनुभवों की

प्रस्तुति के माध्यम से आत्मकथा मनुष्य के सर्वांगीण विकास की भी बात करती है। उदाहरण के लिए महात्मा गांधी के सत्य के वे प्रयोग जो संसार के लिए एक जीवन–दर्शन प्रस्तुत कर सकते थे, उन दर्शनों को ही उन्होंने आत्मकथा में अभिव्यक्त किया। अपने जीवन–दर्शन के माध्यम से आत्मकथाकार औरों को जीना सिखाता है। आत्म प्रशंसा या परनिंदा के उद्देश्य से लिखी गई आत्मकथाएं वास्तव में अपनी सार्थकता खो देती हैं।

5. भाषा–शैली

अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए आत्मकथाकार जिस माध्यम को अपनाता है, उसे ही भाषा कहते हैं। आत्मकथाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सरल, स्पष्ट तथा भावानुकूल भाषा का प्रयोग करे। ताकि पाठक को आत्मकथाकार की बात आसानी से समझ में आ सके। भाषा के प्रभाव के कारण ही संप्रेषणीयता लेखक से पाठक तक आत्मीयता के स्तर पर अपना सम्बन्ध बनाए चलती है।

जीवन की घटनाओं का वास्तविक और यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा जीवंत और लोक व्यवहृत होती है। भाषा के माध्यम से ही आत्मकथाकार पाठक से अंतरंग और आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करता है। उदाहरण के लिए कमलादास अपनी आत्मकथा में लिखती हैं, "अक्सर मैं चाह उठती हूं कि अपना अंग–अंग उधेड़कर किसी कैनवास पर 'कोलाज' बना दूं – एक बड़े से कैनवास पर चिपकाकर अपना दिल, जिगर, आंतें, प्रजनन अंग, खाल और बाल तक, और फिर दान कर दूं अपने पाठकों को वह पेंटिंग। गोपनीय, मेरा कुछ भी ढ़का–छिपा नहीं है उनसे, गोपनीय नहीं, कोई भेद नहीं। जब–जब भी रोयी हूँ मैं पाठक मेरे साथ रोए हैं।"[51] यह भाषा का ही प्रभाव है जिसके कारण आत्मकथाकार पाठक से सीधा संवाद स्थापित करता है। भाषा की दृष्टि से आत्मकथा को लेखक का निजी दस्तावेज कहा जा सकता है। भाषा के कारण ही आत्मकथा में अभिव्यक्त स्थानीय प्रभाव को स्पष्टतः देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए लज्जाराम मेहता की आत्मकथा में राजस्थानी, दिलीप कौर टिवाणा की आत्मकथा में पंजाबी एवं राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा में बिहारी प्रभाव को देखा जा सकता है।

शैली वह ढंग या तरीका है जिसके द्वारा आत्मकथाकार अपने जीवन की कथा को व्यक्त करता है। भाषा यदि शरीर है तो शैली उसका गठन। शैली आत्मकथा के वैशिष्ट्य का भी बोध कराती है। शैली का विन्यास आत्मकथाकार के व्यक्तित्व को उजागर कर देता है। शैली का प्रथम और अनिवार्य गुण है प्रभावात्मकता। आत्मकथाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार की शैली का प्रयोग करे

जिसका पाठक पर स्थायी रूप से प्रभाव पड़े। प्रभावपूर्ण शैली के कारण ही पाठक के अंदर रोचकता जाग्रत होती है। आत्मकथा में निम्न शैलियों का प्रयोग देखने को मिलता है –

1. सरल विवरणात्मक शैली
2. पूर्व दृश्य (फ्लैश बैक) शैली
3. पत्रात्मक शैली
4. वर्णनात्मक शैली
5. दैनंदिनी शैली
6. औपन्यासिक शैली

आत्मकथा साहित्य का वह माध्यम है जिसमें लेखक अपने जिए हुए जीवन का, मुख्य घटनाओं का विवरण यथार्थ के धरातल पर आत्मनिरीक्षण एवं आत्मपरीक्षण करते हुए प्रस्तुत करता है। आत्मकथा आधुनिकता की प्रतिनिधि साहित्यिक विधा है क्योंकि इसमें अभिव्यक्त व्यक्तित्व या स्वत्व को पूर्ण समग्रता के साथ प्रस्तुति की छूट मिलती है। समय और समाज की वास्तविक स्थिति को बयाँ करती आत्मकथा आज कई दृष्टियों से प्रासंगिक और बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन के सत्य को सामने लाकर आत्मकथा सच की सामाजिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है।

(ख) हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता

आत्मकथा की परंपरा पर विचार करने से पहले प्रश्न यह उठता है कि भारतीय साहित्य में आत्मकथा विधा का सूत्रपात इतने विलम्ब से क्यों हुआ? किन कारणों से आत्मप्रकाशन की संस्कृति को गौण मानकर आत्मगोपन की प्रवृत्ति को वरीयता दी गई? भारत में आत्मकथा विधा का उदय और विकास कब और किन सामाजिक–राजनैतिक कारणों के फलस्वरुप हुआ? हिंदी साहित्य में आत्मकथा का सम्यक आधुनिक रूप कब अपनाया गया? वे कौन सी परिस्थितियां थीं जिनके कारण आत्मकथा की परंपरा का सूत्रपात होने के बावजूद स्त्रियों की आत्माभिव्यक्ति पर अंकुश रखा गया? किन महत्त्वपूर्ण कृतियों के जरिए हिंदी में आत्मकथा विधा का विकास हुआ है? इन सभी कारणों की खोज करते हुए हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता पर बात करना उचित होगा।

हमारी साहित्यिक परंपरा में आत्मकथा लेखन की अनुपस्थिति के सांस्कृतिक कारण हैं। हिंदू दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है। भारतीय संस्कृति आत्मा को वास्तविक मानती है जोकि सभी मनुष्यों में समान है। इसलिए हिंदू दार्शनिकों का मत है कि सभी मनुष्य अन्ततः एक ही हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति के अनुसार वैयक्तिकता और मनुष्य की विशिष्टता का बोध 'माया' है। मनुष्य के पृथक् अस्तित्व को नश्वर मानते हुए भारतीय धर्म आत्मप्रकाशन की छूट नहीं देता है। "यों वैयक्तिकता की जगह बहुवाचकता और व्यक्ति की जगह समूहगत भिन्नता हिन्दू समाज की केंद्रीय पहचान है।"[52] आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसमें आत्म की अभिव्यक्ति ही सर्वप्रमुख है। आत्मकथा के विकसित और पनपने के लिए ऐसे परिवेश और संस्कृति की जरूरत होती है जहाँ वैयक्तिकता को पर्याप्त महत्त्व दिया गया हो। भारतीय संस्कृति चूँकि आत्म विसर्जन का पाठ पढ़ाती है इसलिए यहाँ आत्मकथा का प्रायः अभाव मिलता है। आत्मकथा के अभाव का एक अन्य कारण यह भी है – सच कहने का साहस प्रायः कम लोगों में ही मिलता है। "जहाँ जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता हो।"[53] वहाँ सच कहने–सुनने की आदत कैसे होगी? हिंदी में आत्मकथा लेखन के अभाव का मुख्य कारण व्यक्तिगत जीवन की सच्चाई कहने के साहस का अभाव भी है। आत्मकथा के धर्म की प्रथम पुकार सच की अभिव्यक्ति है लेकिन सामाजिक तौर पर प्रकट आत्म–छवि से लगाव एक बहुत बड़ी समस्या है।

हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन की न तो समृद्ध परंपरा रही है और न ही समृद्ध वर्तमान। अतीत में आत्माभिव्यक्ति को नश्वर और व्यर्थ माना गया। वहीं

दूसरी ओर आधुनिक काल में आत्मबद्धता और आत्ममुग्धता के प्रति आकर्षण का साम्राज्य देखने को मिलता है। कुल मिलाकर दोनों ही स्थितियों में यह सर्व–सामान्य है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की पूरी भारतीय परंपरा में 'आत्म' के सत्य को ईमानदारी और सत्यता के साथ उघाड़कर रख देने के नैतिक साहस का अभाव मिलता है। जिस समाज और परिवेश में आत्म–निर्मम यथार्थ चेतना की अभिव्यक्ति का अभाव हो, वहाँ आत्मकथा का विकास कैसे होगा? विरोध, विकृति और समाहार की संस्कृति में विश्वास रखने वाले भारतीय समाज में अपने जीवन के वास्तविक सच को अभिव्यक्त करते समय भय और असुरक्षा का भाव विद्यमान रहा है। इसके साथ ही शुद्धतावाद को सर्वोच्च मूल्य मानने वाले समाज में हीनता, ग्रन्थि और संकोच जैसी प्रवृत्तियों के कारण भी आत्म के प्रति उपेक्षा का भाव विद्यमान रहा।

"आत्मकथा वही समाज लिख सकता है, जिसने इतिहास, चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति को भलीभांति विकसित किया हो। भारत में इसकी भी कोई परंपरा नहीं रही। चूंकि परिवर्तन की प्रक्रिया को 'माया' के रूप में देखा गया, इसलिए ऐतिहासिक ब्यौरे केवल मूल्यहीन और महत्त्वहीन गल्प समझकर खारिज किए जाते रहे।"[54] भारतीय परंपरा में व्यक्ति के जीवन के ब्यौरों, भावनाओं आदि को महत्वहीन माना गया। अतः इन सभी कारणों से यह स्वाभाविक है कि भारत में आत्मकथा की परंपरा का आरम्भ और विकास कैसे होता?

भारतीय परंपरा में सत्य की अवधारणा के चलते आत्मकथा और इतिहास की चेतना का प्रायः अभाव मिलता है। भारतीय संस्कृति और परंपरा में आत्म को इस प्रकार गोपन रखा गया कि अनेक बार तो रचनाकारों, कलाकारों आदि ने अनाम रहना ही पसंद किया। "आनंद कुमारस्वामी ने 'अनामता' की इसी वास्तविकता को रेखांकित करते हुए लिखा है – "... इस तरह अनामता 'सत्य' की सुसंगति में है और यह हिंदू संस्कृति की सबसे गौरवपूर्ण विशिष्टताओं में से एक है। महाकाव्यों के 'रचयिताओं' के नाम केवल छायाएँ हैं और उत्तरवर्ती युगों के लेखकों का यह सतत् अभ्यास था कि वे अपने खुद के नामों को छिपाकर किसी मिथकीय अथवा सुप्रसिद्ध कवि के नाम से अपनी कृतियाँ जारी करते रहें। ... इसी तरह मुश्किल से ही कोई हिंदू शिल्पकार या चित्रकार अपने नाम से जाना जाता है और संस्कृत साहित्य के समूचे विस्तार में एक भी आत्मकथा नहीं मिलती और सिर्फ थोड़ा–बहुत इतिहास मिलता है।"[55]

सुप्रसिद्ध संस्कृति चिन्तक मुकुन्द लाट ने भारतीय परंपरा में आत्मकथा के अभाव को इतिहास लेखन के अभाव की भांति एक जटिल सवाल मानते हुए इस

पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। मुकुन्द लाट ने कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरणों के माध्यम से यह प्रमाणित किया है कि अन्य संस्कृतियों के लेखकों की तरह भारतीय लेखकों में भी यश, कीर्ति की कामना थी और वे निश्चय ही अनामता को पसन्द नहीं करते थे। उन्हें अपने कौशल पर गर्व था और वे अपने कृतित्व के वैशिष्ट्य को प्रस्तुत भी करते थे। नाटक आदि की काव्य प्रस्तावना में रचनाकार का नाम घोषित करने की परम्परा थी। अनेक रचनाकार अपने नाम के साथ कुछ व्यक्तिगत जानकारी भी जोड़ते थे। उदाहरण के लिए कालिदास ने अपने नए नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तुति के समय प्रेक्षकों से बिना किसी पूर्वाग्रह के नाटक की विशेषताओं के आधार पर मूल्यांकन करने के लिए कहा। कालिदास ने प्रेक्षकों से यह भी कहा कि महज इस आधार पर उन्हें अवमूल्यित न करें कि यह उनकी नई नाट्य–प्रस्तुति है। "कालिदास के इस कथन में गर्व की स्पष्ट ध्वनि है – "न तो पुराना सब–कुछ अच्छा होता है और न नया सब–कुछ बुरा।""[56]

आत्म–परिचय की यह प्रथा मात्र नाटककारों तक सीमित नहीं थी। उपन्यासों और प्राचीन कथाओं के लेखकों से भी आत्म–परिचय की अपेक्षा की जाती थी। रुद्रट की पुस्तक 'काव्यालंकार' में कवियों को कथा लिखते समय पाठकों से अपना परिचय स्पष्ट करने का निर्देश दिया गया है। सरहपा, कबीर आदि की रचनाओं के अंत में उनके नाम, वंश आदि का परिचय मिलता है। 'अनामता' के विरुद्ध अनेक साक्ष्य और प्रमाण जुटाने के बावजूद मुकुंद लाट यह स्वीकार करते हैं, "आत्म–परिचय या यश–कामना या अपने कृतित्व की विशिष्ट पहचान को रेखांकित करने की एक कलाकार की आकांक्षा और आत्मकथा–लेखन के बीच बहुत बड़ा फर्क है। हाँ, अनामता अगर पूरी तौर से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का आदर्श रही होती, तो यह माना जा सकता था कि आत्मकथा हमारे यहाँ एक सर्वथा अकल्पनीय साहित्य–विधा रही है। फिर भी आत्मकथा चूँकि हमारे लिए सचमुच अजानी ही थी, इसलिए उसकी सम्भाव्यता का बहुत धुंधला दृश्य ही दिखाई पड़ता है।"[57]

आत्मकथा की संस्कृति के अभाव का एक कारण आत्मप्रतिष्ठा के प्रति बेहद लगाव और सबकुछ को सार्वजनिक न कर पाने के साहस का अभाव भी है क्योंकि पूर्ण सत्य आत्मकथा की प्रथम और अनिवार्य शर्त है। व्यक्तिगत जीवन के प्रसंगों को कहने में नैतिक साहस का अभाव आदि चीज कुल मिलाकर आत्मकथा के प्रति एक हेय दृष्टि पैदा करती रहीं। "रचनात्मक प्रतिभा और क्षमता के बावजूद आत्माभिव्यक्ति के उपर्युक्त रूप में हमारी संस्कृति की रुचियाँ क्यों नहीं रहीं – इसके कारण बताते हुए कहा जाता है कि हम व्यक्ति की स्वतंत्रता और अद्वितीयता और उसकी उपलब्धियों को कोई महत्त्व नहीं देते रहे।"[58] आत्मकथा को मात्र आत्म की

अभिव्यक्ति मानकर इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि आत्मकथा आत्म की कथा के बहाने समय और समाज की भी कहानी है। व्यक्ति को समय और समाज से अलग कर कैसे देखा जा सकता है। आत्मकथा को समय और समाज से परे केवल व्यक्ति विशेष तक सीमित रखकर देखना एक प्रकार से आत्मकथा के वास्तविक अर्थों को कम करना ही है।

"अच्छी आत्मकथा लिखने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक में अप्रिय सच कहने का साहस हो और उसके पाठकों में वैसे सच को सहने तथा स्वीकार करने का धैर्य भी हो। भारतीय साहित्य में आत्मकथा के अभाव का एक कारण शायद यह भी है कि यहाँ लगातार यह उपदेश दिया जाता रहा कि सच बोलो, पर अप्रिय सच नहीं। ऐसे उपदेशों से जो मानसिकता बनती है वह अप्रिय सच कहने के साहस का नाश करती है और उसे स्वीकार करने के धैर्य का भी। इस मानसिकता ने भारतीय समाज में सच कहने पर तरह–तरह के प्रतिबंध लगा रखे हैं। इसीलिए भारतीय साहित्य में आत्मकथा की परंपरा विकसित नहीं हुई है।"[59] यह वास्तविकता है कि भारतीय समाज में व्यक्ति चेतना को एक अपराध की तरह देखा गया है। आत्मकथा विधा से ही भारतीय मानस को विरक्ति रही है। 'रहिमन निज मन की विधा, मन ही राखो गोय' एक प्रकार से आंतरिक सच पर पर्दा डालने जैसा है।

हिंदी की पहली आत्मकथा सन् 1641 में रचित बनारसीदास जैन की 'अर्द्धकथानक' है। इस आत्मकथा में लेखक ने स्वयं को समस्त गुण दोषों के साथ प्रकट किया है। यही गुण आत्मकथा के लिए अत्यंत आवश्यक है। 'अर्धकथानक' एक मध्यवर्गीय साधारण व्यक्ति के जीवन की कथा है। जैन परंपरा के अनुसार व्यक्ति की उम्र 110 साल मानी गई है। बनारसीदास जैन ने जीवन के 55वें वर्ष में आत्मकथा लिखी थी। इसी कारण उन्होंने इसे 'अर्द्धकथानक' नाम दिया था। आत्मकथा के माध्यम से बनारसीदास जैन सत्य से जुड़े अपने आत्म–संघर्ष और अपनी गतिविधियों तथा उद्देश्यों में निहित मूलभूल इमानदारी के प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते थे। 'अर्धकथानक' के माध्यम से एक सामान्य मनुष्य के दैनंदिन जीवन में बिरादरी, समुदाय, धर्म, जीवन की तात्कालिक और निर्णायक सामाजिक वास्तविकताओं का पता चलता है। पंकज चतुर्वेदी ने 'अर्धकथानक' के विषय में लिखा है, "बनारसी ने सांसारिक चीजों से आंतरिक अलगाव और ज्ञान की आंतरिक आकांक्षा की सचाई पर जोर दिया था और इसके लिए शारीरिक आत्म–प्रताड़ना तथा आत्म–त्याग की तमाम परंपरा प्रचलित पद्धतियों को गैर–जरूरी माना था। इस अर्थ में 'अर्धकथानक' भी उनके इसी संघर्ष का एक आयाम है, या यों कहें कि

वह सत्य की उनकी खोज का भी साहित्य रूप है।"[60] 'अर्धकथानक' दोहा–चौपाई के शिल्प में लिखी गई आत्मकथा है। इसमें कुल 75 पृष्ठ और 675 दोहे–चौपाइयाँ हैं। इसकी भाषा सहज और मुहावरेदार है जिसमें ब्रज और खड़ी बोली का मिश्रण है।

'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास जैन के जीवन से संबंधित बाहरी और स्थूल प्रसंगों का वर्णन अधिक मिलता है। पूरा सच न बोलने के कारण 'अर्द्धकथानक' में जीवन का ढांचा तो मिलता है किंतु प्राण नहीं। अर्द्धकथानक में अंतरंग संप्रेषणीयता का अभाव है। जिन नौ चीजों को छिपाने की बात लेखक करता है, उनमें धनसंपत्ति, स्त्री संसर्ग, उम्र आदि मुख्य हैं। यद्यपि 'अर्द्धकथानक' में बेलाग आत्म स्वीकरण नहीं है किन्तु 'आत्म' को केंद्र में लाने के कारण यह आत्मकथा महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने यह आत्मकथा उस समय लिखी जबकि उनके सामने आत्मकथा लेखन का न तो कोई ठोस रचनात्मक आदर्श था और न ही सुनिश्चित प्रेरणा। लेखक की आत्माभिव्यक्ति और आत्म–उद्‌घाटन के प्रयास की दृष्टि से यह आत्मकथा उल्लेखनीय है।

बनारसीदास जैन 'अर्द्धकथानक' के माध्यम से साहित्य को व्यक्तित्व–विश्लेषण से जोड़ने का काम करते हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त 'अर्द्धकथानक' के विषय में लिखते हैं, "वह मध्यकालीन उत्तरी भारत की सामाजिक व्यवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख–दुख का यथार्थ परिचय देती है। बादशाहों की लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास लेखकों द्वारा लिखित तत्कालीन तारीखों से हमें शासन और युद्ध सम्बन्धी घटनाओं की अटूट शृंखलाएं भले ही मिल जाएं किंतु इतिहास के उस स्वर्णयुग में राजधानियों से दूर हिंदू जनता–विशेष करके उसके धनी और व्यापारी वर्ग को अहर्निश कितनी यातनाएं भोगनी पड़ती थीं, इसका अनुमान उन दिनचर्याओं और तारीखों से नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमें अर्द्धकथा' जैसी रचनाओं का ही आश्रय लेना पड़ेगा। जिस दिन अर्धकथानक की भांति कुछ अन्य रचनाएं भी प्रकाश में आएंगी, मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कुछ पृष्ठ निश्चय ही फिर से लिखने पड़ेंगे।"[61]

वस्तुतः इस आत्मकथा में समाज, इतिहास, युग और आत्मानुभूति का मार्मिक चित्र उपस्थित हो उठा है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'अर्धकथानक' के महत्त्व के विषय में लिखा है, "हिंदी के अधिकांश पाठकों को और शायद अनेक लेखकों को भी इस बात का पता न होगा कि जहाँ तक आत्मचरित लिखने की प्रथा का सम्बन्ध है आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिंदी का नंबर सबसे अव्वल आता है। कविवर बनारसीदास जैन का 'अर्धकथानक' आज से तीन सौ सत्रह वर्ष पूर्व सन् सोलह सौ एकतालीस में लिखा गया था। इससे अधिक पुराना आत्मचरित मराठी,

बंग्ला, गुजराती इत्यादि में मिलना संभव नहीं है। स्वयं रूसो का आत्मचरित जो उनकी स्पष्टवादिता के लिए प्रसिद्ध है इस ग्रंथ के कितने ही बाद लिखा गया था।"[62]

हिंदी में आत्मकथा लेखन के विकासक्रम में दूसरा नाम आता है – 1875 ई. में महर्षि दयानंद सरस्वती की आत्मकथा 'आत्मचरित'। इस आत्मकथा के दो रूप हैं – आत्मकथित जीवनी तथा आत्मलिखित जीवनी। दोनों ही रूप अपूर्ण हैं। 'स्वकथित आत्मचरित' में स्वामी जी के जन्म, बचपन, शिक्षा–दीक्षा, शिवरात्रि की महत्त्वपूर्ण घटना, गृहत्याग आदि का वर्णन है। 'स्वलिखित आत्मचरित' से स्वामी जी के निर्भीक, निडर एवं दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्तित्व का पता चलता है। यद्यपि यह आत्मकथा संक्षिप्त और अपूर्ण है किंतु आत्मविश्लेषण, यथार्थ वर्णन की दृष्टि से यह हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस प्रकार आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भ तक हिंदी में मात्र दो आत्मकथाएं प्राप्त होती हैं, वहीं दूसरी ओर हिंदीतर भाषाओं में प्राप्त आत्मकथाएं हैं – बाबर की 'तुजुकेबाबरी', गुरु गोविंद सिंह की 'विचित्र नाटक', मीर तकी मीर की 'जिक्रे मीर', तीमूर की 'तुजक– ए–तीमूर', मुंशी लुत्फुल्ला की 'एक आत्मकथा' आदि।

हिंदी में आत्मकथा लेखन की व्यवस्थित शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में होती है। अन्य गद्य रूपों की तरह आत्मकथा लेखन को भी भारतेन्दु युग में पनपने का अवसर मिला। भारतेन्दु युगीन आत्मकथाओं में भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा रचित 'एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मात्र दो पृष्ठों में लिखी इस आत्मकथा से भारतेन्दु के जीवन का कोई विशिष्ट पक्ष उभर कर न आ सका। यद्यपि यह आत्मकथा अपूर्ण है किंतु भविष्य में होने वाले आत्मकथा लेखन के लिए इसने एक बीज का काम किया। पंकज चतुर्वेदी ने इसके विषय में लिखा है, "भारतेन्दु ने कल्पना का कुछ पुट लिए हुए, आत्मकथा का एक अंश भर लिखा है – 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती।' पर यह नाम अपने आप में आत्मकथा की एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा की हैसियत रखता है। आत्मकथा जितना अपना आख्यान है, उतना ही अपने से अलग और बाहर, अपनी दुनिया का भी आख्यान है। जाहिर है कि भारतेन्दु ने अन्तःजगत् और बाह्य–जगत के बीच आत्मकथा की विशिष्ट अवस्थिति की बड़ी आदर्श भावना का परिचय दिया है।"[63]

भारतेन्दु मण्डल में सुधाकर द्विवेदी द्वारा लिखित 'रामकहानी' चर्चित आत्मकथा रही। भारतेन्दु मण्डल के अन्य लेखकों ने भी अपने जीवन के वृत्तांत लिखे। इनमें प्रमुख हैं – अंबिकादत्त व्यास द्वारा रचित 'निज वृत्तांत' (1901), सत्यानन्द अग्निहोत्री द्वारा रचित 'मुझ में दैव जीवन का विकास' (1909), भाई परमानंद का 'काले पानी

की कारावास कहानी अर्थात् भाई परमानंद की आपबीती' (1921), भगवान दयाल संन्यासी का 'भारतीय देशभक्तों की कारावास कहानी' (1921), स्वामी श्रद्धानन्द का 'कल्याण मार्ग का पथिक' (1924), लाला लाजपतराय की 'लाला लाजपतराय की सचित्र आत्मकथा' (1924), आचार्य रामदेव की 'मेरे जीवन के कुछ पृष्ठ' (1926), रामप्रसाद विस्मिल की 'आत्मकथा' (1927)। इसके अतिरिक्त इस युग में प्रकाशित लघु तथा खंड आत्मकथाएं हैं – राधाचरण गोस्वामी की 'राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित' (1905), बालमुकुंद गुप्त की 'आत्मकथात्मक निबंध' (1913), जगन्नाथदास रत्नाकर की 'पद्यों में जीवन' (1914), श्रीधर पाठक की 'स्वजीवनी' (1927), इलाचंद जोशी की 'मेरे जीवन की प्राथमिक स्मृतियां' (1969), आदि। इस प्रकार आत्मकथा विधा में व्यवस्थित लेखन आधुनिक काल में आरंभ होता है। शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और नए जीवन–मूल्यों के कारण अस्तित्व में आई नई वैज्ञानिक चेतना के फलस्वरुप आधुनिककाल में आत्मकथा–लेखन के लिए परिस्थितियां निर्मित हुईं।

आत्मकथा लेखन की विकास यात्रा में भारतेन्दु युग यदि उद्‌भव काल है तो द्विवेदी युग पल्लव और उन्नयन काल। आचार्य नगेंद्र ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है, "जिस प्रकार भारतेन्दु–युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जीवनी लेखन के क्षेत्र में अपने समकालीन लेखकों का मार्गदर्शन किया था उसी भांति आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इस गद्य विधा में यथासंभव रुचि ली। उनके द्वारा रचित जीवनियां प्राचीन पंडित और कवि (1918), सुकवि संकीर्तन (1924), चरित चर्चा (1929) आदि ग्रंथों में संकलित हैं।"[64] इस काल में लिखित मौलिक आत्मकथाएं इस प्रकार हैं – श्री संतराम बी.ए. – 'मेरे जीवन के अनुभव' (1914), तोताराम सनाढ्य – 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' (1914)। इसके अतिरिक्त इस काल में लिखे गए जीवन–चरित्र हैं – देवीप्रसाद का 'महाराजा प्रतापसिंह' (1903), रूपनारायण पांडे कृत 'गौरांग चरित' (1909), मुकुंदीलाल वर्मा कृत 'धर्मवीर गांधी' (1913), नंदलाल देव कृत 'महात्मा गोखले' (1914), रामनारायण मिश्र द्वारा लिखित 'महादेव गोविंद रानाडे' (1916) आदि।

आत्मकथा लेखन के विकास की दृष्टि से छायावाद युग का विशेष महत्व है। इस युग में बड़े पैमाने पर आत्मकथाएं लिखी गईं। यह काल संघर्षरत जनचेतना की अभिव्यक्ति का काल है। इस युग में आत्मकथा विधा के विकास की दृष्टि से सन् 1932 में प्रकाशित हंस पत्रिका के विशेषांक 'आत्मकथा अंक' का अभूतपूर्व और उल्लेखनीय योगदान है। इस अंक का संपादन और संयोजन प्रेमचंद ने किया था।

इस अंक में कुल 32 रचनाओं का प्रकाशन हुआ था। इसमें हिंदी के अनेक प्रसिद्ध रचनाकारों ने आत्मकथापरक प्रसंग लिखे हैं। इससे पूर्व किसी भी पत्रिका में आत्मकथा से संबंधित इतनी सामग्री प्रकाशित नहीं हुई थी। इस काल में 'आत्मकथा अंक' के अतिरिक्त अनेक आत्मकथाएं हमारे सामने आती हैं। प्रमुख आत्मकथाएं हैं – लज्जाराम मेहता शर्मा की 'आपबीती' (1933), भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' (1939), बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएं' (1941), श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' (1941), मूलचंद अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा' (1943) महात्मा नारायण स्वामी की 'आत्मकथा' (1943), राहुल संकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' (1944), लाला लाजपतराय की 'आत्मकथा' (1946), डॉ. राजेंद्रप्रसाद की 'आत्मकहानी' (1947) आदि। इसी समय अन्य भाषाओं से अनूदित आत्मकथाएं भी हिंदी में आती हैं, जिनमें प्रमुख हैं – महात्मा गांधी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' तथा जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी'। साथ ही कुछ विदेशी आत्मकथाकारों – टालस्टाय, हिटलर आदि की कृतियों से भी हिंदी का परिचय हुआ। छायावाद में हुए आत्मकथा लेखन के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं, "इतने बड़े पैमाने पर इस देश में आत्मकथाएं पहले शायद ही कभी लिखी गई हों। ये आत्मकथाएं इस युग के प्रचलित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा की द्योतक हैं। ये बतलाती हैं कि व्यक्ति अपने में अभिव्यक्त करने को कितना आकुल था। वह अपने भावों और विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता चाहता था। उसकी इस आकांक्षा में स्वाधीनता की कामना थी और अभिव्यंजना में साहस। हर देश में 'रोमेंटिसिज्म' का अभ्युदय प्रायः इसी आकांक्षा के साथ हुआ है।"[65]

बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित 'मेरी आत्मकहानी' हिंदी भाषा और साहित्य के एक पूरे युग को प्रतिफलित करती है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'मेरी जीवन यात्रा' रचनाकार के जीवन के साथ–साथ समय और समाज की कथा को भी हमारे सामने रखती है। यह आत्मकथा व्यक्तिगत और सामाजिक इतिहास का महत्वपूर्ण स्रोत है। महात्मा गांधी द्वारा लिखित 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ सामाजिक और राजनीतिक वातावरण के समग्र चित्र को प्रस्तुत करती है। यह आत्मकथा गुजराती में लिखित है जिसका हिंदी में अनुवाद श्री महावीर प्रसाद पोद्दार ने किया। महात्मा गांधी ने आत्मदर्शन के जीवनव्यापी प्रयत्नों और संघर्षों को आत्मकथा का रुप दिया था। गांधीजी की आत्मकथा मनुष्य के विकास, उत्थान और सर्वसामान्य मनुष्य सत्य की खोज का सार्थक प्रयास बनकर हमारे सामने आती है।

आत्मकथा के भारतीयकरण में महात्मा गांधी की आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। गांधीजी ने आत्मकथा में कुछ भी गोपन न

रखकर सबकुछ को सार्वजनिक कर आत्मकथा लेखन के लिए नए मार्ग को प्रशस्त करने का काम किया है। "अपने से पहले के लगभग सभी भारतीय आत्मकथा लेखकों के बरक्स गांधी ने अपनी सीमाओं, कमजोरियों और नैतिक व्याधियों की चर्चा उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ की। यह दिखाकर कि एक संत का भी पछताने लायक अतीत है और उसका आध्यात्मिक संघर्ष अब भी अपर्याप्त है, उन्होंने भारतीय जीवन में ईमानदारी, नैतिक विनम्रता और सामाजिक साहस–सरीखे मूल्यों की बहुत अखरने वाली कमी को दूर किया।"[66] अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने जीवन–कर्म से सम्बद्ध सत्य के प्रयोगों को स्थान दिया है। आत्मकथा लिखकर गांधीजी व्यापक जन समाज को सत्य और जीवन–मुक्ति की खोज, और साधना का भागीदार बनाना चाहते थे। "हिंदी साहित्य में अभी आत्मकथा की जो संस्कृति व्यापक तौर पर विकसित की जानी है, उसके लिए गांधीजी द्वारा जिए और शब्दबद्ध किए गए मूल्यों की प्रासंगिकता अपरिहार्य है।"[67]

आत्मकथा लेखन की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर युग वैभव काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में आत्मकथा के अतिरिक्त समाज सेवकों, इतिहास पुरुषों एवं राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ भी लिखी गईं। जीवनी के अतिरिक्त जीवन चरितार्थ उपन्यास, आत्मकथात्मक उपन्यास, जीवनीपरक निबंध भी लिखे गए। सर्जनात्मकता के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर काल ने साहित्य रूपों तथा कलाओं को नए आयाम प्रदान किए। इस काल में कथ्य, शिल्प एवं संवेदना की दृष्टि से उत्कृष्ट आत्मकथाएं प्रकाशित हुईं। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं, "साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाएं लिखकर इस विधा को समृद्ध किया। आधुनिक काल के पहले तीन कालखंडों की तुलना में इस कालखंड में साहित्यकारों की आत्मकथाएं अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। कवियों, कथाकारों, आलोचकों सभी ने अपनी–अपनी आत्मकथाएं लिखीं। ... इस कालखंड में राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले अनेक व्यक्तियों की भी आत्मकथाएं प्रकाशित हुईं। ... आलोच्य युग में हिंदी के आत्मकथा साहित्य को पत्रकारों, अध्यापकों, वकीलों, फिल्मी कलाकारों, पुलिस कर्मचारियों आदि ने भी समृद्ध किया।"[68]

स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रकाशित प्रमुख आत्मकथाएं हैं – श्री गणेश नारायण सोमाणी कि 'मेरी जीवन कहानी' (1948), वियोगी हरि कि 'मेरा जीवन प्रवाह' (1948), विनोद शंकर व्यास की 'उलझी स्मृतियां' (1950), सत्यदेव परिव्राजक की 'स्वतंत्रता की खोज' (1951), गंगाप्रसाद उपाध्याय की 'जीवन चक्र' (1951), मन्मथनाथ गुप्त की 'क्रांतिकारी की आत्मकथा' (1951), शांतिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की कथा' (1952), देवेंद्र सत्यार्थी की 'चांद–सूरज के बीरन' (1953),

किशोरीदास वाजपेयी की 'साहित्यिक जीवन के अनुभव' (1953), रमादेवी मुरारका की 'मेरी जीवन कहानी' (1956), जानकीदेवी बजाज की 'मेरी जीवन–यात्रा' (1956), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'मेरी अपनी कथा' (1958), सेठ गोविन्ददास की 'आत्मपरीक्षण, भाग–1, 2, 3 (1958), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (1960), नंददुलारे शास्त्री की 'मेरी आत्मकहानी' (1963), हरिवंश राय बच्चन की 'क्या भूलूं क्या याद करूं' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977), डॉ. देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (1970), वृंदावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1970), बलराज साहनी की 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' (1974), हंसराज रहबर की 'मेरे सात जनम', तीन भाग, (1985–1989), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (1895), यशपाल जैन की 'मेरी जीवनधारा' (1984), कमलेश्वर की 'जो मैंने जिया' (1992), 'यादों का चिराग' (1997), तथा 'जलती हुई नदी' (1999), गोपाल प्रसाद व्यास की 'कहो व्यास कैसी कटी' (1999), रवींद्र कालिया की 'गालिब छुटी शराब' (2000), नामवर सिंह की 'जीवन क्या जिया' (तद्भव में 2000 ई. में प्रकाशित), भगवतीचरण वर्मा की 'कहि न जाए का कहिए' (2000), राजेंद्र यादव की 'मुड़ मुड़के देखता हूं' (2001), भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003), अशोक वाजपेयी की 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' (2003), विष्णु प्रभाकर की 'पंखहीन', मुक्तगगन में तथा 'और पंछी उड़ गया' (2004), आदि।

स्वातंत्र्योत्तर काल में न केवल संख्या की दृष्टि से बल्कि गुणवत्ता की दृष्टि से भी श्रेष्ठ आत्मकथाएं सामने आयीं। भारतेन्दु और द्विवेदी युग में स्व के प्रति उपेक्षा का जो भाव था, वह धीरे–धीरे दूर हो गया। साहित्य में सामान्य जन की प्रतिष्ठा और महत्त्व के साथ ही जीवनी और आत्मकथा के प्रति उदासीनता भी दूर हो गई। इस युग में न केवल साहित्यकार बल्कि नेता, क्रांतिकारी, सिनेमा जगत तथा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोग भी आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित हुए। इसके साथ ही इस युग में अनेक भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित आत्मकथाएं भी सामने आईं। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर काल आत्मकथा लेखन के विकास की दृष्टि से समृद्ध काल रहा है।

"हिंदी के आत्मकथा–साहित्य में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' तीखी आत्मालोचना, समाज में व्याप्त पाखंड के प्रति निर्मम यथार्थ दृष्टि और गहरी चोट पहुंचाने वाली सशक्त तथा मार्मिक भाषा के चलते एक बेजोड़ और मूल्यवान कृति है।"[69] उग्र का विश्वास व्यक्ति के वास्तविक चित्रण में है। आत्मकथा के माध्यम से उग्र अपनी खबर देने के साथ ही दूसरों की खबर भी लेते हैं। "दरअसल उग्र जानते हैं कि दूसरे के छद्म को उघाड़ना तभी नैतिक है, जब हम सबसे पहले

अपने समस्त किए–धिए को सार्वजनिक तौर पर स्वीकार करने का रचनात्मक माद्दा रखते हों। वे आत्मकथा लिखने के दुहरे खतरे को पहचानते हैं – एक तरफ आत्म–मुग्धता से उपजने वाला आत्म–केंद्रित आख्यान है, दूसरी ओर दूसरों की निंदा करने की नकारात्मक प्रवृत्ति है।"[70] सत्य के लिए मर–मिटने को अपना सच्चा धर्म मानते हुए उग्र आत्मकथा के माध्यम से अपने जीवन–संघर्ष की व्यथा–कथा को पूरी ईमानदारी के साथ सामने रखते हैं।

आत्मकथा की संस्कृति में बदलाव लाने का काम करती है – स्त्री और दलितों की आत्मकथाएं। आत्मकथा को 'मैं' की केंद्रीयता से मुक्त कर ये आत्मकथाएं अपने समुदाय की कथा कहती हैं। हिंदी की प्रमुख दलित आत्मकथाएं हैं – मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–1, (1995), 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–2, (2000), ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1996), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन तक' (2002 सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002), तथा 'संतप्त' (2006), तुलसीराम की 'मुर्दहिया' (2010), तथा 'मणिकर्णिका' (2014), सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011), आदि। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित दलित आत्मकथाएं भी सामने आती हैं। मराठी से हिंदी में अनूदित प्रमुख दलित आत्मकथाएं हैं – दया पवार की 'अछूत', प्र.ई. सोनकांबले की 'यादों के पंछी', शरणकुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उठाईगीर' लक्ष्मण माने की 'उपरा', दादासाहेब मोरे की 'गबाल' आदि।

स्त्री आत्मकथाओं ने स्त्री को अस्मिता और स्वाधीनता की माँग से जोड़ते हुए व्यापक सामाजिकता का विस्तार किया है। हिंदी में प्रकाशित प्रमुख स्त्री आत्मकथाएं हैं – दिनेश नंदन डालमिया की 'कंदील का धुआँ' (1980), 'सूरज डूब गया' (1983), 'मुझे माफ करना' (1985), एवं 'आहों की बैसाखियाँ' (1989), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिंदगी की' (1990), तथा 'मोड़ जिंदगी का' (1996), कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' (1996), कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997), एवं 'और–और औरत' (2010), रमणिका गुप्ता की 'हादसे' (1997), पद्मा सचदेव की 'बूंद बावड़ी' (1999), मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' (2002), एवं 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008), प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' (2007), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2008), चंद्रकिरण सौनरेक्शा की 'पिंजरे की मैना' (2008), आदि। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित प्रमुख स्त्री आत्मकथाएं हैं – कमलादास की 'माय स्टोरी', नलिनी जमीला की 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट' आदि।

हिंदी साहित्य के इतिहास में आज भी आत्मकथा की परंपरा क्षीणकाय ही हैं। जैसा कि पंकज चतुर्वेदी लिखते हैं, "भारत की सांस्कृतिक परंपरा में रचनाकारों ने अपने नाम के दावे भी प्रस्तुत किए हैं, अपनी प्रतिभा पर गर्व भी किया है, कीर्ति की कामना भी की है, अपनी जीवन–स्थितियों के मार्मिक चित्र भी खींचे हैं, एक आत्म–व्यंग्यात्मक यथार्थपरक दृष्टि भी अर्जित की है और अपने अपमान पर बहुत क्षोभ तथा रोष भी व्यक्त किया है, लेकिन जैसा कि मैनेजर पाण्डेय कहते हैं – इन सबके बीच से अपने पापों, कुकर्मों और अपराधों के स्वीकार की आत्म–स्वीकार (कॉन्फेशन) की परंपरा सिरे से नदारद है।"[71] भारतीय परंपरा में आत्म के प्रति एक प्रकार की मुग्धता दिखाई देती है। आज के समय में आत्मकथा लेखन के लिए निर्मम आत्म–आलोचना की आवश्यकता है। कुल मिलाकर हम पाते हैं कि आधुनिक काल में भी हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परंपरा क्षीणकाय ही है। आत्मकथा के द्वारा न केवल सदियों से दबे कुचले वर्गों की सर्जनात्मक चेतना का निर्माण किया जा सकता है बल्कि स्त्रियों और दलितों की आत्माभिव्यक्ति के द्वारा दारुण अनुभवों के यथार्थ को भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

अर्धकथानक से प्रारम्भ हुई आत्मकथा लेखन की यह यात्रा आज भी जारी है। पंकज चतुर्वेदी के शब्दों में कहें तो – "जब हमारे समय में साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, तब भारत के बहुसंख्यक जन समाज की तमाम यातनाओं की अनदेखी और उसकी अभिव्यक्ति की आजादी का अपहरण सार्वधिक मूर्त होते हुए खतरे हैं। आत्मकथा लिखकर न सिर्फ इन दोनों आसन्न चुनौतियों का जवाब दिया जा सकता है बल्कि एक बेहतर जीवन तथा समाज को रचने की सांस्कृतिक प्रक्रिया को भी तेज किया जा सकता है।"[72]

(ग) महिला आत्मकथा लेखन : प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण

स्त्री जाति का इतिहास पराजय, दमन और यातनाओं से संबद्ध इतिहास है। अनेक अनुशासनों और नियंत्रणों में कैद स्त्री एक ऐसे अनुभव–संसार का निर्माण करती है जो त्रासदी, पीड़ा और अन्याय से मुक्ति के लिए निरंतर संघर्षरत है। स्त्रियों के व्यक्तित्व और उनकी स्वतंत्रता के नकार की मानसिकता लगभग हर समाज में मौजूद रही है। स्त्रियाँ अपने ढंग से जी नहीं सकतीं। स्त्रियों के लिए पुरुष वर्चस्व आधारित समाज में परंपरा को तोड़ना एक प्रकार से संस्कृति की सीमाएं लांघने जैसा है। लेकिन यदि स्वतंत्रता और समानता मनुष्य के सर्वप्रमुख अधिकार हैं तो फिर स्त्रियाँ इनसे वंचित क्यों? समाज और परिवार में झूठी मर्यादाओं और नैतिकताओं के दबाव में जीती स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन एक प्रकार से प्रतिरोध साथ ही बदलाव की संस्कृति के निर्माण का कार्य करता है। समाज द्वारा स्त्री के लिए निर्धारित रीतिरिवाजों, परंपराओं और मान्यताओं आदि को बदलने, उन्हें खारिज करने का संकल्प प्रतिरोध की संस्कृति के लिए आधार का कार्य करता है।

आत्मकथा लेखन जहाँ एक ओर स्त्री को यथार्थ से टकराने का हौसला देता है वहीं दूसरी ओर बदलते समय और परिवेश में अपने स्वत्व और अपनी अस्मिता को प्रमाणित करने की ताकत भी। आत्मकथा लेखन समय और समाज के बदल रहे संबंधों में स्त्री को अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और एक ऐसे संसार के निर्माण का अवसर देता है जो बिल्कुल उसका अपना हो। अब तक जो संस्कृति थी वह मान्यताओं की संस्कृति थी। ऐसी संस्कृति में अस्वीकार का प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रियों के लिए आत्मकथा लेखन मान्यताओं की संस्कृति के बरक्स जीवनमूल्यों की संस्कृति के निर्माण का कार्य करता है। आत्मकथा अर्थात् अपने जीवन का वर्णन। साहित्य की ऐसी विधा जिसमें लिखने वाला अपने ही जीवन का सिंहावलोकन करता है। स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन अपने जीवन के साथ ही समाज और उसमें मौजूद शोषणकारी तत्वों को जानने–समझने का मौका देता है। प्रतिरोध दोनों ओर से अर्थात् अपने अंदर मौजूद अहंकार, कुंठा आदि का प्रतिरोध और समाज में मौजूद असमानता, अन्याय आदि का प्रतिरोध। स्त्री आत्मकथाओं को प्रतिरोध के इन दोनों स्तरों पर देखना उचित होगा।

"स्त्री का बोलना अपने आप में प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करता है।"[73] एक स्त्री द्वारा स्वयं की अभिव्यक्ति एक प्रकार से अपनी अस्मिता को पाने की कोशिश है। स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लेखन का मुख्य उद्देश्य जीवन के सत्य को सामने लाकर समाज में बदलाव लाना है। बदलाव की संस्कृति के निर्माण में उसका

पहला विद्रोह देह और देह के आधार पर गढ़ी छवि से प्रारम्भ होता है। स्त्री अब पुरुषों के बनाए घेरे से बाहर निकलकर अपने शरीर के बारे में अपने तरीके से लिख रही है। हजारों सालों से पहनी जंजीरों को तोड़ जो औरत आजाद होती है वह अपने आप में प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती है। प्रतिरोध उस समाज से जहाँ "औरत का इस्तेमाल सिर्फ आदमियों के आनंद के लिए है। शरीर औरत का और अधिकार पुरुष का। पूरी जिन्दगी ही औरत एक हाथ से दूसरे हाथ में समर्पित होती है। उसके मालिक बदलते रहते हैं : पिता से प्रेमी, प्रेमी से पति, पति से पुत्र। नारी का जीवन नारी का नहीं है। पुरुष के साथ स्त्री तरह–तरह के रिश्तों की बेड़ियों में बंधी हुई है।"[74] पुराने संस्कारों को तोड़कर नए संस्कारों को गढ़ने के लिए आवश्यकता है बदलाव की। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाएं बदलाव की क्रांति की पक्षधर बनकर हमारे सामने आती हैं।

स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाएं पितृसत्ता और भारतीय जाति व्यवस्था के भीतर मौजूद स्त्री दमन के औजारों और साजिशों को हमारे सामने रखती हैं। इन आत्मकथाओं का लक्ष्य अपने प्रति सहानुभूति पैदा करना नहीं है। इनका संघर्ष स्त्री के अस्तित्व के लिए है। "स्त्रियाँ हमेशा से विजित, उपनिवेशित और शासित रही हैं, कहीं–कहीं अपवाद स्वरूप वे विधि–विधानों की आविष्कर्ता भी रहीं, लेकिन हमेशा उन्हें नस्ल, धर्म, वर्ग और लैंगिक पूर्वाग्रहों के कारण हाशिए पर धकेला जाता रहा है। रीला राबाथम का कहना समीचीन ही है कि स्त्रियों ने आत्मकथा लिखकर उनकी पहचान नष्ट करने वाली साजिशों का सांस्कृतिक/रचनात्मक प्रत्युत्तर दिया।"[75] लेखन के माध्यम से अभिव्यक्ति को मुखर करना प्रतिरोध का ही एक रूप है। स्त्री अपने अनुभवों, आकांक्षाओं और संघर्षों को व्यक्त करते हुए मुक्ति की आकांक्षा को हमारे सामने रखती है। स्त्रियों की आत्मकथाएं उस झेले गए को दिखाने की पुरजोर कोशिश के रूप में हमारे सामने आती हैं जिसे अब तक कहा नहीं गया या जो कहा गया उसे सुना नहीं गया।

आत्मकथा केवल अपनी ही कथा नहीं होती बल्कि अपने परिवेश और समाज की कथा भी होती है। स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि कितनी ही पिंजरे की मैनाएं घर की चारदीवारी के भीतर घुटने के लिए विवश हैं। घर की सुरक्षित चौहद्दी के भीतर और समाज में स्त्रियों के साथ होने वाले अन्यायों, अत्याचारों को इन आत्मकथ्यों ने ही सामने लाया है। स्त्रियों द्वारा अपने अनुभवों को सामने लाना एक प्रकार से पुरुषों द्वारा स्त्रियों की गढ़ी छवि को सिरे से खारिज करना है। अब तक पुरुषों ने स्त्रियों का, उनके चरित्र और समाज में उनकी स्थिति का वर्णन अपनी इच्छानुसार किया है। स्त्री आत्मकथाएं इस बनी बनायी छवि से बाहर निकलकर उन जीवन–प्रसंगों को भी हमारे सामने रखती हैं जिन पर इस

समाज ने पाबंदी लगा रखी है। स्त्रियों ने आत्मकथाओं में जिन चीजों का जिक्र किया है वे समाज द्वारा निर्धारित नियमों, कानूनों, बंदिशों को दूर करने के लिए ही हैं। स्त्री की स्थिति का अंदाजा हम इन आत्मकथाओं को पढ़कर लगा सकते हैं। स्त्री आत्मकथाएं एक प्रकार से प्रतिरोध का दस्तावेज हैं।

स्त्री ने आत्मकथा ही इसलिए लिखी कि उसे महसूस हुआ कि पुरुषों ने अब तक जो स्त्री के बारे में अभिव्यक्त किया था वह अनुमान पर आधारित था। स्त्री अपने बारे में क्या सोचती है? यह पुरुषों के लेखन में आया ही नहीं। पुरुषों ने स्त्रियों पर रहम किया, कृपा की और अधिक दिया तो सम्मान दिया लेकिन इन तीनों की ही जरूरत स्त्री को नहीं थी। इन तीनों की आड़ में पुरुषों ने स्त्री के हक, लोकतांत्रिक अधिकार छीन लिए थे। तब स्त्री ने सोचा कि क्यों न मैं अपनी स्थिति को स्वयं ही अभिव्यक्त करूँ। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाएं पुरुषों के लेखन के बरक्स स्त्री के वास्तविक अनुभवों को समाज के सामने लाती हैं। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाएं एक प्रकार से प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती हैं।

यदि स्त्री अपनी आत्मकथा नहीं लिखती तो स्त्री की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कैसे होता? साथ ही स्त्री को अपने होने और अपनी छवि का आभास कैसे होता? अब तक पुरुषों ने अपनी इच्छानुसार और सुविधानुसार स्त्रियों के बारे में लिखा है। एक स्त्री क्या सोचती है, क्या महसूस करती है? यह कोशिश लगभग न के बराबर हुई है। "स्त्री की हर आत्मकथा अपनी यातनाओं की ऐसी निजी दास्तान है जो घर–घर में घटित होती है। पुरुषों की आत्मकथाएं उनके निजी संघर्षों की विजय गाथाएं हैं। विपरीत और विषम स्थितियों से लड़ता हुआ पुरुष अपना अद्वितीय व्यक्तित्व गढ़ता है – वह किसी दूसरे व्यक्ति की कहानी नहीं हो सकती। हाँ, उसकी संकल्प–शक्ति और जिजीविषा औरों के लिए प्रेरणा बन सकती है। प्रेरणा स्त्री का संघर्ष भी बनता है, मगर उसकी कहानी हर दूसरी स्त्री की कहानी भी है। उसके संघर्षों के स्वरूप, उसके बनने–टूटने के आख्यान भी लगभग एक जैसे हैं, इसीलिए दलितों की आत्मकथाओं की तरह वहाँ अपमानों, संघर्षों और संकल्पों की पुनरावृत्तियाँ होती हैं – मगर स्त्री की आत्मकथा, समाज और परिवार की उन भीतरी सचाइयों से साक्षात्कार है जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहननेवाला ही जानता है।"[76]

शारीरिक संरचना और मातृत्व से जुड़ी जिम्मेदारियां स्त्री को उसके पृथक् अस्तित्व की छूट नहीं देती हैं। पुरुष स्त्री के व्यक्तित्व के विकास को केवल अपने स्वार्थ और सम्मान की सीमा तक बर्दाश्त करता है। अपनी इच्छानुसार जीवन जीने

वाली स्त्री के साथ किस तरह का व्यवहार करना है, यह पुरुष अच्छे से जानता है। "स्त्री शिक्षा, आत्मविश्वास और सामर्थ्य अर्जित करने के रास्ते में सबसे बड़ा सहारा और शत्रु पुरुष है जो संस्कृति, धर्म और मर्यादा बनकर खड़ा है। कभी–कभी उसे लगता है कि मानसिक और शारीरिक रूप से विवाह और परिवार नामक इस शत्रु से छुटकारा पाए बिना वह कुछ कर नहीं पाएगी। शायद यही कारण है कि उसका पहला विद्रोह देह और उसके आधार पर गढ़ी गई नैतिक छवि से ही शुरू होता है – जो उसे पुरुष ने बनाकर दी है और परिवार या विवाह–संस्था के अस्वीकार तक जाता है।"[77] हजारों सालों की दासता की जंजीरों को तोड़कर जब स्त्री अपने बारे में लिखती है तो वह अपने आप में प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती है। जब स्त्री अपने शरीर पर अपने अधिकार के बारे में लिखती है तो वह पुरुष वर्चस्व के बरक्स अपने अधिकार और स्वाधीनता को दर्ज करती है।

जब तक स्त्री उत्पीड़ित रहती है, लोग उसके प्रति सहानुभूति दिखाते हैं। जैसे ही स्त्री अपने शोषित और दमित होने के बारे में लिखती है, समाज द्वारा चरित्रहीन करार दी जाती है। "यह स्वाभाविक है, क्योंकि स्त्री चाहे किसी भी क्षेत्र में अपनी पहचान बना चुकी हो, उसे उसकी पहचान से परे पहले एक स्त्री के रूप में ही देखा जाता है। सदियों की बेड़ियां आसानी से नहीं टूटती हैं। चित्रकार अमृता शेरगिल ने जब अपना आत्मचित्र (सेल्फ पोर्ट्रेट) बनाया तो लोग चौंके। पुरुष स्त्री देह को अनावृत करे तो कोई बात नहीं लेकिन यदि स्त्री स्वयं अपनी देह को अनावृत करे तो कलाजगत भी चौंकता है।"[78] आत्मकथा के माध्यम से स्त्री अपने जीवन और अनुभव की पर्तों को खोलती है। आत्मकथा के जरिए स्त्री ने अपने जीवन के गोपन पक्षों को सार्वजनिक करने का साहस किया है। अपने नितांत दुख, सुख, प्रेम... आदि को उजागर कर स्त्री अपने अंतःसंबंधों को भी आत्मकथा के माध्यम से उजागर कर देती है। जब एक स्त्री अपनी आत्मकथा लिखती है तो वह केवल एक व्यक्ति की नहीं बल्कि पूरे स्त्री–समाज की आत्मकथा होती है। स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लेखन से आत्मकथा विधा के लेखन को व्यक्तिवाद से मुक्ति मिली है और रचनात्मकता के स्तर पर सामाजिकता का विस्तार हुआ है।

आत्मकथा में जीवन के वास्तविक अनुभव और सत्य को दर्ज किया जाता है। लेकिन यदि स्त्री आत्मकथा में अपने सच को दर्ज करती है तो उसे अनैतिक माना जाने लगता है। इसी समस्या को उजागर करते हुए रमणिका गुप्ता ने लिखा है, "अगर वर्तमान स्थिति में स्त्री सच बोलती है, अपने जीवन और लेखन में पारदर्शिता बरतती है तो लोग उसे अश्लीलता मानने लगते हैं जबकि इस अश्लीलता को जिंदगी में हर व्यक्ति, विशेषकर औरतें हर रोज भोगती हैं। पुरुष मन अपने संदर्भ में उसे अश्लील नहीं मानता लेकिन स्त्री के संदर्भ में वह उसे न सिर्फ

अश्लील कहता है बल्कि यहां तक कह देता है कि वह रस और चटकारे लेने के लिए लिखा गया है, जबकि हकीकत में वह सत्य ही होता है, जिस पर सदियों से पुरुष वर्ग चटकारे लेते आया है।"[79] इस डर से कभी–कभी स्त्रियां भी परोक्ष रूप से अपनी बातों को कह कर सच्चाई से बचने का प्रयास करती हैं। तसलीमा नसरीन जब अपने सत्य को आत्मकथा में दर्ज करती हैं तो अश्लील करार दी जाती हैं। सवाल यह उठता है कि तसलीमा के साथ बचपन में यौन सम्बन्ध कायम करने वाले कौन लोग थे? स्त्री यदि अपनी स्थितियों को चुपचाप सहकर अपने जीवन की पर्तों को नहीं खोलती है तो वह समाज द्वारा श्लीलता की श्रेणी में होती है। लेकिन यदि तसलीमा नसरीन की तरह शर्म की सारी परतों को खोल देती है तो अश्लीलता की श्रेणी में खड़ी कर दी जाती है।

'उत्ताल हवा' में जब तसलीमा ने पति से धोखा खाने की बात लिखी तो लोगों ने सहानुभूति जताई। लेकिन 'द्विखंडितो' में तस्लीमा ने जब दूसरे पुरुषों के साथ संबंधों का जिक्र किया तो तसलीमा पर चरित्रहीनता के आरोप लगाए गए। यह समाज की सच्चाई है कि जब स्त्री अपने शरीर और मन को व्यवस्था की जंजीरों से आजाद कर अपने शोषण व दमन के खिलाफ अपने अधिकारों के बारे में लिखती है तो वह समाज द्वारा चरित्रगत घेरे में खड़ी कर दी जाती है। 'द्विखंडितो' के विवाद का एक अन्य कारण है – यौनता की आजादी। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को यौनता की स्वतंत्रता देता ही कहाँ है?

जब एक पुरुष अपने संबंधों के बारे में लिखता है तो वह महानता की श्रेणी में आता है। वहीं दूसरी ओर स्त्री जब अपने प्रेम और संबंधों के बारे में लिखती है तो नैतिकता और मर्यादाओं के घेरे में खड़ी कर दी जाती है। पितृसत्ता ने संकोच, पवित्रता आदि गुणों को स्त्री के जीवन का अंग बताया है। यदि स्त्री पितृसत्ता, समाज और व्यवस्था के नियमों से आजाद होकर अपने अनुभवों को दर्ज करती है तो वह चली आ रही परंपरा के विरुद्ध प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती है। स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन एक बहुत बड़ा माध्यम है जिसके जरिए वह अपने अनुभवों को वास्तविक धरातल पर सामने लाने का काम करती है।

स्त्री के लिए अपनी पीड़ाओं और आत्मानुभूतियों को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम आत्मकथा है। यह विडंबना ही है कि हिंदी में स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लेखन की कोई बहुत लम्बी परंपरा नहीं मिलती है। जबकि वहीं दूसरी ओर बांग्ला व मराठी में महिला आत्मकथा लेखन की एक समृद्ध परंपरा है। बांग्ला में आत्मकथा लेखन की शुरुआत ही एक महिला रससुंदरी देवी द्वारा 1876 में लिखित 'आभार जीवन' नाम की आत्मकथा से मानी जाती है। मराठी में भी स्त्रियों

की अनेक आत्मकथाएं मिलती हैं लेकिन हिंदी में स्त्रियों की कुछ गिनी चुनी आत्मकथाएं ही सामने आती हैं। मैनेजर पाण्डेय इस स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए लिखते हैं, 'स्त्रियों की आत्मकथाएं तो इसलिए नहीं हैं कि उन्हें हमारे सामाजिक ढांचे में सच बोलने की स्वतंत्रता नहीं है, लेकिन पुरुषों की आत्मकथाएं इसलिए बहुत नहीं हैं कि स्वतंत्रता तो है पर आदत नहीं है।' सच बोलने की स्वतंत्रता न होने का ही परिणाम है कि हिंदी में स्त्रियों द्वारा आत्मकथालेखन कभी गुमनामी के दौर से जूझता रहा तो कभी पुरुषों की सुविधा पर केंद्रित रहा।

सीमोन द बोउवा के अनुसार "यदि किसी जाति को लगातार हीन अवस्था में रखा जाए तो सही बात है कि वह हीन ही रहेगी किन्तु मानवीय स्वतंत्रता इस सीमा को तोड़ सकती है। आप अधिकार तो दीजिए, उपयोग करना स्त्री स्वयं सीख जाएगी। सच्चाई तो यह है कि दमनकर्ता कभी भी आगे बढ़कर अकारण उदारता नहीं दिखाएगा, किन्तु कभी तो दमित के विद्रोह और कभी स्वयं सुविधा प्राप्त वर्ग के अपने विकास से नई परिस्थितियाँ जन्म लेती हैं। इन नई परिस्थितियों की अपनी माँगें होती हैं, जिनको पूरा करने के लिए पुरुष स्वयं स्त्री को आंशिक मुक्ति देने के लिए बाध्य होता है। यह औरत का कर्त्तव्य है कि वह विकास की दिशा में आगे बढ़ती रहे और मिलने वाली सफलताओं से उत्साहित होती रहे। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक न एक दिन वह पुरुष के बराबर सामाजिक और आर्थिक समानता पाएगी जिसके कारण उसकी आन्तरिकता में एक नया रूपान्तरण घटित होगा।"[80] आज से सत्तर–पचहत्तर वर्ष पूर्व सीमोन द बोउवा स्त्रियों की स्थिति को सामाजिक रूपान्तरण से सम्बद्ध करके देख रही थीं। बीसवीं शताब्दी तक आते–आते उत्पीड़ित वर्गों का उभार साहित्य में अपनी पहचान बनाने लगा। जो कुछ कहे जाने पर पाबन्दी थी, वह सब स्त्रियों के आत्मकथ्यों के माध्यम से समाज के सामने आने लगा।

स्त्रियों द्वारा लिखित आत्ककथाओं की प्रारंभिक परंपरा हमें मराठी और बांग्ला में मिलती है। वहीं दूसरी ओर हिंदी में महिला आत्मकथा लेखन की कोई समृद्ध परंपरा नहीं मिलती है। हिंदी में महिला अभिव्यक्ति के उदाहरण तो मिलते हैं लेकिन रचनाकार के नाम पर गुमनाम या अज्ञात लेखिकाएं ही सामने आती हैं। महिला आत्माभिव्यक्ति की परंपरा के क्रम में 'सीमंतनी उपदेश' को सशक्त कदम माना जा सकता है। 1882 ई. में प्रकाशित 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात लेखिका अपनी पुस्तक के माध्यम से हिंदू नारी की स्थिति पर गहन चिंतन करती है। "आत्मकथा विधा में "अपने भावतंत्र पर कसकर ही किसी सत्य को प्रमाणित या अप्रमाणित करने का जो ईमानदार आग्रह होता है और समाज से विद्रोह करके अपने को स्थापित करने की जो स्वतंत्र चेतना होती है, वह भी इसमें मौजूद है" –

भले ही निर्वैयक्तिक रूप में।"[81] यह पुस्तक 'मैं' के रूप में न होकर 'हम' के रूप में लिखी गयी है।

निर्वैयक्तिक रूप में होने के बावजूद 'सीमंतनी उपदेश' का महत्त्व इस बात में है कि यह पुस्तक स्त्री की पीड़ा, दुख, यातना और संघर्ष को किसी स्त्री विशेष की परिधि में कैद न कर पूरे समुदाय से जोड़ती है। राजेन्द्र यादव कहते हैं कि स्त्री का कोई घर नहीं होता और न ही नाम और धर्म। राजेन्द्र यादव से हजारों वर्ष पहले 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात लेखिका ने भी कुछ इसी प्रकार लिखा था, "हमारी नियति तो यह है कि हम जेलखाने में पैदा हुईं और इसी में मर जाएंगी।"[82] आत्मकथा विधा में न होते हुए भी इसे प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कदम माना जा सकता है।

एक ऐसे समय में जब स्त्री की अभिव्यक्ति ही मौन के घेरों में कैद थी, ऐसे में स्त्री द्वारा सीधे ईश्वर से प्रतिरोध करना महिला अभिव्यक्ति का सशक्त कदम माना जा सकता हे – "हे परमेश्वर! हमारी फरियाद को सुन। हम मजलुमों की फरियाद पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हमने हिंदुस्तान में चारो तरफ पुकार–पुकार और रो–रोकर हरेक के सामने फरियाद की, लेकिन किसी ने हमारे बावैले पर कान न धरे, न पलक उठाकर देखा। हमने खूब गौर से इस दुनिया में देख लिया, मगर सिवा तेरे हमारी बेकसी, बेबसी, बेकद्री, बेइज्जती की फरियाद को सुनने वाला कोई नजर न आया। तू गौर से हमारी फरियाद को सुन। लोगों ने तेरा नाम मर्द करार दिया, इसलिए तू भी हिंदियों की तरह बेरहम बन गया।"[83] इस अज्ञात लेखिका का मानना है कि स्त्रियों को समाज द्वारा उन अपराधों की सजा भी दी जाती है जो उसने किए ही नहीं होते हैं। स्त्रियों के प्रति समाज में कोई हमदर्दी नहीं है – "जैसे किसी जमाने में ब्रह्मा के श्राप से कुम्भकरण छह महीने सोता और एक दिन जागता था। वैसे ही हिंदुस्तानी ब्राह्मणों के उपदेश से जन्म से मरण तक इसी गफलत की नींद में हमारी तरफ से सोये पड़े हैं।"[84]

'सीमंतनी उपदेश' में समाज में स्त्रियों की स्थिति, रहन–सहन आदि पर गहन चिंतन किया गया है। आत्मकथा विधा में न होते हुए भी 'सीमंतनी उपदेश' स्त्री की स्थिति को रेखांकित करने वाली महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। राजेन्द्र यादव का मानना है 'यह अज्ञात हिंदू औरत वर्ण विभाजित पुरुष समाज में स्त्री की असहाय उपस्थिति को पहली बार पाठकों के सामने रखती है।' इस प्रकार 'सीमंतनी उपदेश' किसी महिला की प्रथम अभिव्यक्ति है जो 'मैं' शैली में न होकर 'हम' शैली में लिखी गई है।

जुलाई 1915 से मार्च 1916 तक के 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के अंकों में प्रकाशित 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' किसी महिला द्वारा लिखित पहली आत्मकथा है। इसकी लेखिका सरला नाम की बाल विधवा है। इसमें पहली बार 'दुःखिनी बाला' (सरला) नाम की महिला ने अपनी पीड़ा, दुःख को 'मैं' शैली में अभिव्यक्त किया है। यह आत्मकथा समाज के दोहरे मापदंडों पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। इसके विषय में पुस्तक की संपादिका प्रज्ञा पाठक ने लिखा है, "स्त्री दर्पण के जुलाई 1915 से मार्च 1916 तक के अंकों में धारावाहिक रूप से इस 'आत्मजीवनी' का प्रकाशन हुआ है। हिंदी में स्त्रियों की आत्मकथा के अभाव को देखते हुए दुःखिनीबाला की लिखी हुई 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' न केवल आत्मकथा होने के नाते महत्त्वपूर्ण है बल्कि हिंदी क्षेत्र में हुए स्त्री आंदोलन का एक प्रामाणिक दस्तावेज भी है।"[85]

पराधीनता के अभिशाप में जीने को विवश 'सरला' न केवल अपनी स्थिति को प्रकट करती है बल्कि स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए अपनी अदम्य आकांक्षा को भी हमारे सामने रखती है। समाज में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए अलग–अलग सामाजिक नियमों, परंपराओं के प्रतिरोध से आरम्भ हुई यह आत्मकथा एक स्वप्न के साथ समाप्त होती है। एक ऐसा स्वप्न जो बदलाव की संस्कृति की मांग करता है। समाज के नियमों, प्रथाओं में बदलाव। अपनी आत्मजीवनी में सरला ने सामाजिक परंपराओं और सामाजिक ढांचे पर अनेक सवाल खड़े किए हैं। 'स्यापा' जैसी कठोर परंपरा को लेकर भी वह अपनी मां से सवाल करती है। अपनी मां के उत्तर को बताती हुई सरला आत्मकथा में लिखती है, "सब लोग जानते हैं, समझते हैं, मन ही मन उसे घृणा की दृष्टि से भी देखते हैं किन्तु मनुष्यों में इतना नैतिक बल नहीं है कि एक बात को सरासर बेजा समझते हुए भी उसे छोड़ दें साथ ही स्त्रियों में विद्या नहीं, बुद्धि नहीं। स्यापे को भी वे ईश्वरीय आज्ञा, धर्म और वेद समझती हैं। कितनी ही ऐसी हीन प्रथाएं हैं, समाज में तो क्या, तुमसे कहने में भी, जिनका नाम लेने तक में लज्जा में डूब जाती हूं। कितनी ही प्रथाएं तो ऐसी हैं कि यदि स्त्रियां पढ़–लिख जाएं तो उन्हें अपनी बहू–बूटियों से कहने में इतनी लज्जा आए कि उनका अनुसरण आप–से–आप बंद हो जाए। किसी शिक्षिता स्त्री को अपनी पुत्री या पुत्रबधू से कहने का साहस ही न हो।"[86]

दुःखिनी बाला द्वारा लिखित 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' के बाद एक लंबे समय अन्तराल के उपरान्त बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी में स्त्रियों द्वारा लिखित अनेक आत्मकथाएं सामने आती हैं। 21वीं सदी तक आते–आते आत्मकथाओं के माध्यम से महिलाओं का प्रतिरोध अधिक मुखर रूप में सामने आने लगता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और 21वीं सदी के आरंभ में स्त्रियों द्वारा

लिखित प्रमुख आत्मकथाएं हैं – कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' एवं 'और–और औरत', पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की 'पिंजरे की मैना', रमणिका गुप्ता की 'हादसे', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' एवं 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे की 'शिकजें का दर्द' आदि।

इसके अतिरिक्त आत्मकथा, संस्मरण, डायरी आदि विधाओं में अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित स्त्री आत्माभिव्यक्तियां भी सामने आती हैं, जिनमें प्रमुख हैं – कमलादास की 'माई स्टोरी', तहमीना दुर्रानी की 'मेरे आका' (माई फ्यूडल लॉर्ड), बेबी हालदार की 'आलो आन्धारि', सुशीला राय की 'एक अनपढ़ कहानी', नलिनी जमीला की 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा', सरलादेवी चौधरानी की 'जीबोनेर झरा पता', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट', बंचित कौर की 'पगडंडियाँ', प्रसनमयी देवी का 'पूर्वकथा', सुदक्षिणा सेन की 'जीवन स्मृति', उर्मिला पवार की 'मेरे चार दुश्मन', नवनीता देवसेन की 'पंखों तले की हवा' आदि। इन आत्मकथ्यों में स्त्री के आक्रोश और प्रतिरोध का सम्मिलित स्वर मौजूद है।

"दरअसल जब औरत भोगा हुआ सच लिखती है तो उसमें एक अनुभूति की प्रामाणिकता आती है – पुरुष जब लिखता है तो वह हमदर्दी का लेखन होता है। वह कल्पना का सहारा लेता है पर अनुभूति की ईमानदारी और सच्चाई भोगे हुए सच में ही होती है। उसमें जीवन्तता होती है।"[87] जब स्त्री अपनी कथा कहती है तो उसमें अनुभवों की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। शोषण के बहुस्तरीय चक्र में फंसी स्त्रियाँ दैहिक शोषण और असमानता के अनेकों स्तरों में कैद होने के बावजूद अपने लेखन के माध्यम से व्यवस्था के बदलाव का सपना संजोती हैं। आत्मकथाएं उनके इस सपने को साकार और मूर्त रूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। आत्मकथा के माध्यम से स्त्री अपनी तार्किकता और प्रश्नाकुलता के साथ पूरी सामाजिक व्यवस्था के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा करती है।

"बाबा साहब अम्बेडकर ने कहा है कि गुलाम का अपनी गुलामी के प्रति अहसास ही प्रतिरोध की पहली शुरूआत है ... इन आत्मोक्तियों के बहाने स्त्री अपनी नस–नस में बसे भय को भी जीतना चाहती है ... निजी वेदना और भय शब्दों में व्यक्त होकर दूसरों के साथ संवाद बनाते हैं। व्यक्तिगत असंतोष, सामाजिक समस्या के रूप में व्यापकता ग्रहण करता है।"[88] स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाएं स्त्री–चेतना की ऐसी अभिव्यक्तियां हैं जिनके माध्यम से स्त्री अपने अस्तित्व, अपनी आजादी के लिए संघर्षरत दिखायी देती है। इन आत्मकथाओं में शोषण, संघर्ष और मुक्ति के स्वर को देखा जा सकता है।

(घ) दलित आत्मकथाएं : उत्पीड़न और मुक्ति का स्वर

भोगे हुए जीवन और अनुभवों के दस्तावेजीकरण के साथ ही आत्मकथा भी अंततः व्यक्ति के संघर्षों की कथा होती है। यदि दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाओं को देखा जाए तो ये आत्मकथाएं संघर्ष करते और जूझते हुए जीवन के संकल्पों के रूप में हमारे सामने आती हैं। ये आत्मकथाएं एक व्यक्ति की नहीं बल्कि पूरे समुदाय की कथा होती हैं। "जिन स्थितियों से दलित लेखक गुजरते हैं, उनके पास सबसे पहली कहानी अपनी यातनाओं की ही होती है। उन यातनाओं की कहानी जिसमें पूरा एक वर्ग, पूरी एक संस्कृति, पूरा एक वातावरण शामिल है। सवर्ण की कहानी में अपना ही समाज व्यक्ति के खिलाफ होता है, उधर दलित में सवर्ण समाज उसके खिलाफ है। इसलिए वह समाज का प्रतिनिधि होकर आता है। उनमें जो संघर्ष का माद्दा और ऊर्जा है, वह व्यक्तिगत अपमान से ज्यादा या व्यक्तिगत के साथ–साथ एक सामाजिक अपमान से आई हुई चीज है। इसलिए अपनी से अधिक वे समुदाय की कहानी लिखते हैं, अपने–अपने संपूर्ण समाज की कहानी।"[89] दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाएं अपने समाज और समुदाय की कथा होने के कारण सामाजिक चेतना और अस्मिता बोध जगाने का काम करती हैं।

दलित आत्मकथाकार जब अपने अनुभवों को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है तो शोषण, उत्पीड़न, पीड़ा, संघर्ष और मुक्ति का सम्मिलित चित्र उपस्थित हो उठता है। एक ओर जीवन जीने के क्रम में दलित आत्मकथाकार पीड़ा का अनुभव करता है तो दूसरी ओर अपने जीवन को लिखने के क्रम में। जिस सामाजिक और जातिगत अपमान का सामना लेखक करता है वह आत्मकथा की मुख्य थीम होती है। वहीं दूसरी ओर सवर्ण लेखक जब आत्मकथा लिखता है तो उसका मुख्य उद्देश्य सम्मान और प्रतिष्ठा की विशिष्टता को अंकित करना होता है। दलित और सवर्ण आत्मकथाओं में मुख्य अंतर अपमान और सम्मान का है। यही कारण है कि दलित आत्मकथाकार जिस समाज का वर्णन करता है वह ठोस और साकार रुप में सामने आता है। दलित होने का बोध ही उसकी आत्मकथा का केंद्रीय तत्व है। दलितों के लिए आत्मकथा लेखन अपने आप को और अपनी स्थितियों–परिस्थितियों को समझने की प्रक्रिया है। जबकि सवर्णों द्वारा लिखित आत्मकथाएं अपनी सफलताओं और उपलब्धियों का आख्यान हैं। आत्मकथा लिखने के पीछे दलित लेखक का भाव स्वयं को प्रकट करने का नहीं बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करना होता है। दलित आत्मकथाएं लेखक के जीवन के घटनाक्रमों के माध्यम से जातिगत भेदभाव, तिरस्कार, आर्थिक विपन्नता, सामाजिक हीनता के क्रूर और भेदभावपूर्ण व्यवहार को हमारे समक्ष रखती हैं।

"दलित की पीड़ा है कि उसे मनुष्य का जन्म लेने के बावजूद मनुष्य के रूप में जीने की स्वीकृति नहीं मिलना। अगर दलित को मनुष्य का जन्म लेने के बावजूद मनुष्य के रूप में जीने की स्वीकृति नहीं मिलेगी, तो जाहिर है, मनुष्य के रूप में जीने का अवसर और अधिकार भी नहीं मिलेगा। यानी दलित को मनुष्य नहीं मानने के लिए इस तरह का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तंत्र रचा गया है कि उसे मनुष्य बनने ही न दिया जाए। दलित साहित्यकार अपनी आत्मकथा और दूसरी ज्यादातर रचनाओं में इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति करता है। वह इस पीड़ा को पैदा करने और बनाए रखने वाली संरचनाओं, संस्थाओं, ताकतों का चित्रण और प्रतिरोध दोनों करता है। अपनी निस्सहायता, बेबसी और आक्रोश का भी।"[90] दलित आत्मकथा का जन्म ही गहरी पीड़ा से होता है। दलित आत्मकथाएं आक्रोश और मुकम्मल प्रतिरोध की कथाएं बनकर हमारे सामने आती हैं। सदियों से चले आ रहे शोषण, उत्पीड़न और यातनाओं के प्रस्तुतिकरण के साथ ही ये आत्मकथाएं मानव मूल्यों की खोज भी करती हैं।

आत्मकथा लिखते समय पीड़ा का अनुभव करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लंबी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, अपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी। स्वयं को परत–दर–परत उधेड़ते हुए कई बार लगा – कितना दुखदाई है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।"[91]

दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में नारकीय जीवन की यातनाओं के यथार्थ चित्र मिलते हैं। यहाँ व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से सामूहिक जीवन की नग्न सच्चाइयों के यथार्थ और वास्तविक चित्र मिलते हैं। इन आत्मकथाओं में शोषित और पीड़ित व्यक्ति अपने समुदाय की अस्मिता के लिए प्रयासरत दिखाई देता है। यहाँ वह समझौता नहीं करता है बल्कि विद्रोह करता है। जिस समाज ने उसे पशु समझकर मानव अधिकारों से वंचित रखा, उस समाज के वर्णन में आत्मकथाकार द्वारा विद्रोह और प्रतिरोध का स्वर होना स्वाभाविक है। सामंती दासता से मुक्ति इन आत्मकथाओं का प्रस्थान बिंदु है। "दलित कथाओं में यह संचालक बहुत उजागर है जो शिक्षा से लेकर हर कहीं उसे हतोत्साहित–प्रताड़ित करता है। उस व्यवस्था का सारा प्रयास यही है कि यथास्थिति बनी रहे – जो जहाँ है वहीं रहकर अपने दास धर्म का निर्वाह करता रहे। हर कहीं, धर्मों के कोतवाल और शास्त्रों की गीता हाथों में लिए तालिबान बैठे हैं जो किसी भी तरह का विचलन स्वीकार नहीं कर पाते। परंपरा और मर्यादाओं की रक्षा के नाम पर हर तरह की

हिंसा, षड्यंत्र वहाँ जायज हैं।"[92] दलितों की मुख्य लड़ाई परंपराओं, नैतिकताओं और मर्यादाओं के मोर्चों पर होती है। बदलाव इनका सबसे बड़ा मूल्य होता है।

दलित लेखक के लिए आत्मकथा लिखना चुनौती भरा काम है। जीवन की जिन विद्रूपताओं को वह समाज के सामने लाता है वहाँ वह सबसे पहले अपने ही नग्न यथार्थ को सामने रखता है। अपने जीवन के जातीय दंशों की विभीषिका के माध्यम से वह व्यवस्था की अमानवीयता को सामने रखता है। कांचा ऐलय्या का कहना है, "आत्मकथा ऐसा लेखन है जो व्यक्तिगत अनुभव से उपजा हो, आश्चर्यजनक ढंग से सच्चाई को सामने लाता है ... अंबेडकर और पेरियार ने दलित बहुजन समाज के रोजाना के अनुभवों को वाणी दी है और उन पर लिखा है। मेरा यह मत है कि यह एकमात्र स्वभाव है और वास्तव में सबसे अधिक प्रामाणिक तरीका है, जिसमें इतिहास का ध्वंस और पुनर्निर्माण किया जा सकता है।"[93] दलित आत्मकथाओं में अतीत की स्मृतियां भविष्य में समानता का सपना संजोती हैं। साहित्य की श्रेष्ठता पर सवालिया निशान खडा करते हुए दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में एक नए विमर्श का सूत्रपात किया है। दलित आत्मकथाओं ने मूल्यों और मान्यताओं के कई मिथक और भ्रम तोड़े हैं। दलित आत्मकथाकारों ने अपने जीवन की घटनाओं और अनुभवों के माध्यम से सामाजिक हिंसा को भी उघाड़ा है। वर्णव्यवस्था और पितृसत्ता की अमानवीयता के चित्रण के साथ ये आत्मकथाएं अदम्य जिजीविषा के अनुभवों के रूप में हमारे सामने आती हैं।

अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित आत्मकथाएं उसी पीड़ा और संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं। ये आत्मकथाएं यथार्थ जीवन की जिजीविषा के रूप में हमारे सामने आती हैं। उनके मूल में मनुष्य की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना निहित है। रमणिका गुप्ता का दलित साहित्य के विषय में कहा गया यह कथन दलित आत्मकथाओं पर बिल्कुल सटीक बैठता है – "दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव–अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जातिविहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतांत्रिक साहित्य जो भारत के जन्मना जाति के संदर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते–करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था – दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।"[94] जिस पीड़ा का अनुभव

करते हुए दलित अपना पूरा जीवन गुजार देता है, दलित आत्मकथाएं उसी पीड़ा की अभिव्यक्ति हैं। जाति–व्यवस्था के दासत्व से मुक्ति की बात करती हुई ये आत्मकथाएं मुक्ति संघर्ष के रूप में हमारे सामने आती हैं।

दलित आत्मकथा लेखन की शुरुआत डॉ. भीमराव अंबेडकर के आत्मकथ्य 'मेरा जीवन' से मानी जा सकती है। यह आत्मकथ्य 6 नवंबर 1954 में 'जनता' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था। डॉ. अंबेडकर से प्रभावित होकर अनेक दलितों ने आत्मकथाएं लिखीं। शुरुआती आत्मकथाओं में शंकर राव खरात की 'तराल–अंतराल (1976), दया पवार की 'बलूंत' (1978), माधव कोंडा खिलकर की 'मुक्काम पोस्ट–देवाचे' गोठणे (1979) के नाम लिए जा सकते हैं। मराठी में दलित आत्मकथा लेखन की एक समृद्ध परंपरा रही है। सन् 1960 के बाद जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों ने आत्मकथा लेखन के माध्यम से दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा को समृद्ध करने का काम किया। प्रमुख दलित आत्मकथाएं इस प्रकार हैं – हजारी कृत 'आई वॉज एन आउट कास्ट' (अंग्रेजी), श्यामलाल कृत 'अनटोल्ड स्टोरी ऑफ ए भंगी वाइस चान्सलर (अंग्रेजी), डॉ. डी.आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल' (अंग्रेजी), दया पवार की 'अछूत' (मराठी), बेबी कांवले की 'जीवन हमारा', सान्ताबाई कृष्ण जी कांवले की 'मा ज्या जल माची चित्यूर कथा' (मराठी), शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी' (मराठी), लक्ष्मण गायकवाड की 'उठाईगीर' (मराठी), प्रा. ई. सोन कांवले की 'यादों का पंछी' आदि। इसके साथ ही 1976 में अस्मितादर्श पत्रिका के दीपावली विशेषांक में अनेक मराठी लेखकों के आत्मकथ्य प्रकाशित हुए। मराठी दलित आत्मकथाओं से प्रभावित होकर हिंदी में भी दलित आत्मकथाएं लिखी जाने लगीं। हिंदी में लिखी गई दलित आत्मकथाएं इस प्रकार हैं – मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–1 एवं 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–2, ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', भगवानदास की 'मैं भंगी हूँ', माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' एवं 'संतप्त', श्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' आदि।

'औरत : अस्तित्व और अस्मिता' पुस्तक की भूमिका में प्रभा खेतान लिखती हैं, "पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हजारों सालों से चली आई ऐसी व्यवस्था, जिसमें स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया, उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए। स्त्री का यह अमानवीकरण दलित के अमानवीकरण से कहीं ज्यादा सूक्ष्म है क्योंकि दलित पुरुष भी पितृव्यवस्था का सदस्य है और अपने

पुरुषोचित अहंकार के कारण स्त्री के शोषण और उत्पीड़न से बाज नहीं आता।"[95] भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति दलित से भी बदतर है और दलित स्त्री की स्थिति उससे भी बदतर। एक ओर पितृसत्तात्मक व्यवस्था और दूसरी और वर्णव्यवस्था दलित स्त्री के जीवन को अमानवीयता के शिकंजे में कैद कर देती है।

"हिंदू धर्म के अनुसार चार वर्ण हैं, पांचवा वर्ण बन जाता है दलित स्त्री का, क्योंकि इस स्त्री का शोषण अन्य समाज के साथ–साथ उसका अपना समाज भी करता है। जब ऊपर के तीनों वर्ण चौथे वर्ण का शोषण करते हैं तब दलित समाज अपने इस शोषण का क्रोध अपनी स्त्री पर अत्याचार करके उतार देता है। सामाजिक अन्याय के साथ स्त्री अपने घर के लोगों के अन्याय का शिकार होती रही है। स्त्री को किसी भी वर्ग–वर्ण में जीवन के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर स्वतंत्र चिंतन करने या निर्णय लेने का अधिकार कभी भी नहीं दिया गया। मनुवादी व्यवस्था के अनुसार विवाह के पूर्व पिता, विवाह के बाद पति और वृद्धावस्था में पुत्र ही उसके लिए सोचने का कार्य करता था।"[96] दलित स्त्रियों ने अपने प्रति किए गए शोषण को आत्मकथाओं के माध्यम से उजागर किया है। दलित स्त्री को जीवन में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं को दलित स्त्रियों ने अपनी आत्मकथा में दर्ज किया है। इन आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का शोषण, अपनी अस्मिता के लिए किया गया स्त्री का संघर्ष, अपमान, आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए किया गया संघर्ष, शिक्षित होने के लिए किया गया संघर्ष, गरीबी, भुखमरी, स्त्री होने के कारण घर के अंदर और बाहर होने वाली अवहेलना, आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया गया है।

मराठी में दलित स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लेखन की परंपरा पहले से चली आ रही है जबकि हिंदी में दलित स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लेखन बहुत बाद में हुआ। हिंदी में दलित स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में केवल दो आत्मकथाएं ही सामने आती हैं। इनमें पहली आत्मकथा है – कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999) और दूसरी आत्मकथा है – सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011)। दलित स्त्रियों द्वारा लिखित ये आत्मकथाएं भारतीय समाज में दलित स्त्री की यथार्थ तस्वीर को सामने लाती हैं। ये आत्मकथाएं स्त्री द्वारा अपने अस्तित्व की खोज में नए परिवर्तनवादी समानतामूलक समाज को तलाशने और साथ ही निर्माण का काम भी करती हैं।

दलित आत्मकथाएं दलित जीवन की प्रामाणिक दस्तावेज हैं। ये आत्मकथाएं दलितों पर किए गए अन्याय की साक्षी भी हैं। दलित स्त्री आत्मकथाओं ने न्याय और मानवाधिकार जैसे प्रश्नों को दर्ज कर आत्मकथाओं को नए संदर्भों से जोड़ा

है। "दलितों की जिंदगी के सभी आयाम–सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक इन आत्मकथनों में दर्ज है। वर्णवादी क्रूरता के तमाम रूप दलित आत्मकथनों में देखे जा सकते हैं। साथ ही दलित जातियों के भीतर मौजूद जातिवाद भी पहचाना जा सकता है। पितृसत्ता के सवाल पर नया मंथन प्रारंभ करने की भूमिका भी इन आत्मकथनों ने निभाई है।"[97] इन आत्मकथाओं ने भूख, गरीबी और अछूतपन में जीने को विवश दलित के जीवन को यथार्थ के धरातल पर अंकित कर समाज के सामने कई सवाल खड़े किए हैं। दलित आत्मकथाकार भोगे गए यथार्थ के वर्णन में हिचकिचाता नहीं है। अन्य आत्मकथाकारों की तुलना में दलित आत्मकथाकारों ने अपने जीवन को अधिक निष्पक्ष ढंग से सामने रखा है। दलित आत्मकथाकार अपने परिवार की महिला के यौन या शारीरिक शोषण के वर्णन से परहेज नहीं करता बल्कि ज्यों का त्यों सामने रख देता है। वहीं दूसरी ओर सवर्ण लेखकों की आत्मकथाओं में ऐसे प्रसंगों को लेखक या तो छिपा लेता है या झूठ का पर्दा डालकर अपनी आवश्यकतानुसार वर्णन कर देता है। दलित आत्मकथाओं में जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के साथ ही दरिद्रता, दैन्यता, जातिवाद जैसी समस्याओं को भी दिखाया गया है।

दलितों के लिए आत्मकथा लेखन एक जोखिम भरा काम है। दलितों द्वारा स्वयं के जीवन को उद्घाटित करने के पीछे दलित समुदाय की उत्थान और उन्नति की कामना निहित होती है। आत्मकथा लेखन के समय होने वाली कठिनाई का अनुभव करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "कई मित्र हैरान थे, अभी से आत्मकथा लिख रहे हो। उनसे मेरा निवेदन है कि – उपलब्धियों की तराजू पर यदि मेरी इस व्यथा–कथा को रखकर तौलोगे तो हाथ कुछ नहीं लगेगा। एक मित्र ने ही यह भी सलाह दी कि मैं आत्मकथा लिखकर अपने अनुभवों का मूलधन खा रहा हूं। कुछ का यह भी कहना था कि खुद को नंगा करके आप अपने समाज की हीनता को ही बढ़ाएंगे। एक बेहद आत्मीय मित्र को भय सता रहा है। उन्होंने लिखा आत्मकथा लिखकर आप अपनी प्रतिभा ही न खो दें।"[98] मोहनदास नैमिशराय ने भी लिखा है, "दलित आत्मकथा लिखने के संकट दोहरे हैं। दलित कथाकार को पहले स्वयं अपने समाज/जाति/परिवार और रिश्तेदारों से जूझना पड़ता है। बाद में सवर्ण जाति के समीक्षकों!/टीकाकारों से भी उलझना जरूरी हो जाता है जो शालीनता तथा अश्लीलता को विपरीत शब्दावलियों के बहाने ऐसे कथाकारों को कोसना कतई नहीं भूलते... आत्मकथा छपने के तत्पश्चात् ही मुझे अपने तथा परायों, दोनों ने अपनी–अपनी तीखी प्रतिक्रियाओं/लांछनों/दोषारोपणों तथा शील–अश्लीलता की नई पुरानी परिभाषाओं के साथ खूब घेरा। जहाँ एक तरफ मेरे भाइयों ने यह कहा कि इस पुस्तक को जला दो, अन्यथा मेरे घर को जला देंगे,

वहीं एक मित्र रंजन जैदी ने इसलिए बुरा मानते हुए कहा कि आखिर आत्मकथा लिखने का मेरा मकसद क्या है? कि मैंने लौंडेबाजी के संदर्भ में मेरठ के स्थानीय मुसलमानों का जिक्र किया था, जो उन्हें बेहद खला। स्वयं दलित समाज से दो–चार ने मुझ पर ताने भी कसे।"[99]

दलित कथाकारों ने जिस उत्पीड़न, अपमान और तिरस्कार को अपने जीवन में सहा है उसे ही आत्मकथा में अभिव्यक्त किया है। श्यौराज सिंह बेचैन इस संदर्भ में लिखते हैं, "धन्य है मेरा देश यह भारत। किस स्वर्ग से बढ़कर है यह देश जहाँ मेरी माँ–बहनों की तुलना पशुओं से की जाती है और उनसे पशु जैसा आचरण किया जाता है। "बकरी का दूध और चमारी की... (अश्लील, अकथनीय शब्द) टांग उठाओ" अथवा "चमरिया से चाची कह दो सो चौका मैं चली आएगी।" "करिया बामन गोरा चमार इनके संग न उतरो पार" "जेठ की धूप, चमार की छांव से दूर रहो" – ये लोक कहावतें किसकी देन हैं? ऐसे संबोधनों की भरमार है गैर दलितों के पास हमारे लिए। सदियों से शब्दों के ये पत्थर फेंके जाते रहे हमारी ओर। हम उनके कमेरे और सेवक जो ठहरे। तो आज मैं इन्हें वापस करता हूं। स्वीकार हो हजूर! दलित लौटाना चाहता है आपको आपकी भाषा आपका व्यवहार।"[100]

दलित आत्मकथाकारों ने आत्मकथाओं के माध्यम से अपनी पीड़ा, दुख आदि को व्यक्त किया है। उनके जीवन में जो घटा, वह ही आत्मकथाओं के माध्यम से सामने आया है। आत्मकथा के माध्यम से अपने अनुभवों को सामने लाने के क्रम में लगभग सभी दलित आत्मकथाकारों को उपेक्षा और तिरस्कार के भाव को सहन करना पड़ा है। एक ओर दलित जीवन की पीड़ा और दूसरी ओर उस जीवन की पीड़ा को समाज के सामने लाने के क्रम में अपमान और पीड़ा का दंश सभी आत्मकथाकारों को झेलना पड़ा है। पीड़ा के इसी दंश को झेलते हुए सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है। इस वेदना–पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा जब समाज की मानसिकता बदलेगी, जब पूरी समाज व्यवस्था बदलेगी।"[101]

दलित आत्मकथाएं सवर्णों द्वारा दी जाने वाली यातनाओं और प्रताड़नाओं से पैदा हुई पीड़ा की अभिव्यक्ति हैं। जबकि वहीं दूसरी ओर सवर्णों की आत्मकथाएं इस पीड़ा से कोसों दूर हैं। सवर्णों और दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं के भेद को बताते हुए राजेंद्र यादव लिखते हैं, "जो व्यक्तिवादी आत्मकथाएं हैं – सवर्णों की, गैरदलितों की आत्मकथाएं... वे सफल व्यक्तियों की आत्मकथाएं हैं। कहीं ऊंचाइयों पर पहुंचे हुए लोगों की आत्मकथाएं हैं। इसलिए उनके लिए अनकही शर्त है कि एक खास उम्र में आ जाइए तब आत्मकथा लिखिए... अभी तो आप

बीस–तीस साल के हैं... आपकी आत्मकथा में क्या। जबकि दलित की यातना कथा उसके जन्म से ही शुरू हो जाती है, स्त्री की तरह यह एक अजीब चीज लगती है कि सवर्णों की आत्मकथाएं तब लिखी गईं जब सफलता के एक बिंदु पर वे पहुंचे और दलित ने आत्मकथाएं उस समय लिखीं जब वह चेतन हुआ और स्थितियों को समझने लगा यानी दलित होने का बोध ही उसकी आत्मकथा है। इस तरह से दलित की आत्मकथा अपने आप और अपनी स्थितियों को समझने की प्रक्रिया है जबकि सवर्णों की आत्मकथा अपनी सफलताओं और उपलब्धियों के आकलन की नुमायशें हैं। वह समाज को समझने की बजाए उसे समझाता या सुधारता है।"[102] दलित आत्मकथाएं सामाजिक व्यवस्था की अमानवीयता की पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में अपने जीवन के जातिगत दंशों और शोषण की विभीषिका को अभिव्यक्त किया है। कुछ आलोचकों का मानना है कि दलित आत्मकथाएं यथार्थ की अभिव्यक्ति में नग्नता का चित्रण है। इस पर सुधीर पचौरी लिखते हैं, "वे नहीं जानते कि दलित लेखन का विमर्श शर्म से शुरु नहीं होता, बल्कि शर्म उतार कर शुरू होता है। क्योंकि शर्म एक ब्राह्मणवादी विमर्श ही है। अनुभवों की विशिष्टता, अनुभव की समग्रता यहाँ विद्यमान है।"[103]

दलित आत्मकथाएं उस समाज से साक्षात्कार कराती हैं जहाँ असमानता, अत्याचार का अंतहीन सिलसिला है, जहाँ शोषण और दमन को नैतिक माना गया है। आत्मकथाओं में हिंदू धर्म की वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न विषमता, भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष के स्वर को भी अभिव्यंजित किया गया है। दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाएं समाज के सामने सदियों से अभिशप्त जीवन की व्यथा और वेदना को अभिव्यक्त करती हैं।

दलित आत्मकथाएं दलित समाज का आईना हैं। इन आत्मकथाओं में दलित समाज की मजबूरियों, असंतोष, पीड़ा, घृणा आदि को देखा जा सकता है। दलित जीवन का यथार्थ ही यहाँ सामने आया है। समाज को अन्याय, अत्याचार का आईना दिखाती हुई ये आत्मकथाएं स्वाभिमान और आत्मसम्मान के लिए किए गए संघर्ष के रुप में हमारे सामने आती हैं। समाज में जाति, लिंग, धर्म, अर्थ पर आधारित असमानताओं को व्यक्त करती हुई ये आत्मकथाएं स्वतंत्रता, बंधुत्व एवं मानवता की माँग भी करती हैं।

दलितों की पीड़ा का विश्लेषण करते हुए राजेंद्र यादव लिखते हैं, "वर्ण–व्यवस्था न चुनाव का अधिकार देती है, न बराबरी का... शरीर धारण करते ही समाज में आप की जगह तय है और इसे आप बदल नहीं सकते... यह जगह आपके जन्म से पहले

ही तय की जा चुकी है – आपके पिछले जन्म के कर्मों ने तय कर दिया था कि आपको किस जाति या देह में जन्म लेना है। गैर–बराबरी की ऐसी विकल्पहीन दार्शनिक पुख्तगी शायद ही दुनिया के किसी समाज में दी गई हो...।"[104]

जाहिर है दलितों की आत्मकथाएं इसी वर्णव्यवस्था के खिलाफ हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, श्योराज सिंह बेचैन, तुलसीराम, कौसल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे आदि दलित आत्मकथाकारो ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को दिखाते हुए पीड़ा और शोषण से मुक्ति का मार्ग भी दिखाया है।

यदि हम हिंदी में लिखी गई दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त पीड़ा, उत्पीड़न और मुक्ति के स्वर की बात करें तो पाएंगे कि सभी आत्मकथाएं शोषण, दमन, यातना, उत्पीड़न और जीवन संघर्षों की वास्तविक कथाएं हैं। इन आत्मकथाओं में लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से दलित समाज की पीड़ा और त्रासदीपूर्ण जीवन सामने आया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में उस सवर्ण व्यूह–रचना का चित्रण हुआ है जो दलित को मनुष्य की परिधि से बाहर करती है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है, "अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर फेंको।"[105] वर्ण और जाति व्यवस्था के चक्रव्यूह में फंसे दलित को अपने अस्तित्व की पहचान के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ता है। 'जूठन' में दलितों के होने वाले शोषण के प्रसंग का जिक्र करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है, "लोकतंत्र की दुहाई देने वाले सरकारी मशीनरी का उपयोग, नसों में दौड़ते हुए लहू को ठंडा करने के लिए करते हैं, जैसे हम इस देश के नागरिक ही नहीं हैं। हजारों साल से इसी तरह दबाया गया कमजोर और बेबसों को। कितनी प्रतिभाएं, छल और कपट का शिकार होकर मिट गईं। कोई हिसाब नहीं।"[106] आज भी बेगारी के नाम पर दलितों का शोषण जारी है। विभिन्न प्रगतिशील विचारधाराओं और संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद दलितों के प्रति सवर्णों की मानसिकता में कहीं कोई सुधार नहीं हुआ है। यह सदियों पुराना सिलसिला है कि दलित को आधारभूत स्रोतों – प्रकृति, सामाजिक परिवेश और शिक्षा से वंचित रखा गया। सेवा, संसाधन और सत्ता पर सवर्णों ने अपना एकाधिकार स्थापित कर दलितों को सुविधाओं की हर कोटि से दूर रखा।

दलितों के प्रति समाज में व्याप्त अमानवीयता के प्रश्न को उठाते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज से सवाल करते हुए लिखते हैं, "वक्त बदला है। लेकिन

कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता है। कई विद्वानों से जानना चाहा कि सवर्णों के मन में दलितों, शूद्रों के लिए इतनी घृणा क्यों है? पेड़–पौधों, पशु पक्षियों को पूजनेवाला हिंदू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है? आज 'जाति' एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, 'जाति' मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। फुसफुसाहटें, दलित होने की पीड़ा चाकू की तरह नस–नस में उतर जाती है। गरीबी, अशिक्षा, छिन्न–भिन्न दारुण जिंदगी, दरवाजे के बाहर खड़े रहने की पीड़ा भला अभिजात्य गुणों से संपन्न सवर्ण हिंदू कैसे जान पाएंगे?"[107] दलितों को 'चूहड़ा' कहने वाला यह समाज मनुष्यता की सारी सीमाएं पार कर जाता है।

जूठन में व्यक्त पीड़ा और उत्पीड़न के संदर्भ में बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं, "आत्मकथा 'जूठन' से गुजरना वस्तुतः उस समाज से गुजरना है, जिसमें घृणा वरेण्य है, शोषण नैतिक है, दमन जायज है, असमानता स्वीकृत है और अत्याचार का अंतहीन सिलसिला है। इन सबको दार्शनिक आधार भी प्राप्त है। इसलिए ये हमें कचोटते नहीं इनका नैरंतर्य हमें गर्व का एहसास कराता है। इससे व्यवस्था की समानता पुष्ट होती है। 'जूठन' आत्मकथा इस सनातनता की पोल खोलती है, 'गर्व' को 'शर्म' में तब्दील कर देती है और दार्शनिक आधार के झूठेपन को बेपर्दा कर जाती है। बचपन से लेकर आज तक जिन दृश्यों, घटनाओं, कृत्यों को हमने सहज माना है, वे हमें असहज–अमानवीय कुकृत्य लगने लगते हैं। संस्कारों से भीषण लड़ाई शुरू होती है। हम अपने को कभी संस्कारहीन, तो कभी कुसंस्कारित मानने लगते हैं। सचाई का दमकता रूप उहापौह तो पैदा ही करता है।"[108]

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा के दोनों भाग 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–1 एवं 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–2 दलित समुदाय के शोषण, पीड़ा, घृणा, यातना, घुटन और जीवन संघर्ष की व्यथा है। जिन सवर्णों की सुख–सुविधा के लिए दलित दिन–रात खटते हैं, वही सवर्ण प्यासे दलितों को पानी तक पिलाने में अपना धर्म भ्रष्ट मानते हैं। नैमिशराय डॉ. अंबेडकर की मुक्ति में अपने समाज की मुक्ति को नहीं देख पाते हैं क्योंकि उनका समाज अभी गरीबी और जात–पांत में फंसा हुआ दीन समाज ही है। गुलामी की बेड़ियां भी इतनी कि शिक्षा, ज्ञान भी उन्हें खोल न सकें। "सोचने का वक्त भी कैसे मिल पाता। कुछ लोग गुलाम बन गए थे। लुगाइयां चाकरी में लगी थीं। बच्चे कूड़ा बीनते थे। सुबह से शाम तक उनके पास काम–ही–काम था।"[109] नैमिशराय का यह आशय है कुछ हद तक सही भी है कि आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा में ही अंबेडकर का दर्शन फलीभूत हो सकता है।

समाज में व्यक्ति का दर्जा जाति से तय होता है। गरीबी और सामाजिक शोषण दलित के लिए ऐसी परिस्थितियां पैदा करते हैं कि वह शिक्षा से वंचित रहे। आत्मकथा में नैमिशराय ने गरीबी और बेरोजगारी से ग्रस्त चमारों की स्थिति को दिखाया है। डॉ. महीप सिंह ने आत्मकथा के विषय में पुस्तक की भूमिका में लिखा है, "नैमिशराय ने 'अपने–अपने पिंजरे' में अपने जीवन की उन तल्ख और निर्मम सच्चाइयों को उकेरा है, जिनमें मानवीय पीड़ा अपनी पूरी सघनता से व्यक्त हुई है।"[110]

मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा में ब्राह्मणवादी परंपरा द्वारा दलितों को अपमानित करने की अनेक घटनाओं का जिक्र किया है। आत्मकथा दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वास, अभाव और अपमान के चित्रों को दिखाने के साथ ही संघर्ष की प्रेरणा को भी हमारे सामने रखती है। नैमिशराय ने आत्मकथा के माध्यम से दलितों को अपने उत्थान और अधिकारों के लिए शिक्षा को बेहद आवश्यक माना है। दलित समाज में व्याप्त निर्धनता और धनाभाव की पीड़ा को मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा में कुछ इस प्रकार उजागर किया है – "हम गरीब जरुर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे और न सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरुषों ने घर बनाए, शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियां।"[111] निर्धनता और गरीबी के बावजूद स्वाभिमान की भावना दलितों के संघर्ष का मुख्य हथियार है। मोहनदास द्वारा दलितों को इस देश के सामंतवाद, जातिवाद और सांप्रदायिक ताकतों से लड़ने के लिए एक संगठित शक्ति के रूप में उभर कर आने का संदेश मुक्ति के स्वर को सामने लाता है।

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' एक ओर जाति आधारित परंपरागत हिंदू समाज की वास्तविकता को सामने लाती है, वहीं दूसरी ओर यह आत्मकथा दलित समाज की संस्कृति और विडंबनाओं पर भी प्रहार करती है। दलितों के पिछड़ेपन का एक कारण दलित संस्कृति के नाम पर होने वाला उत्पीड़न और अंधविश्वास भी है। आत्मकथा में सूरजपाल चौहान ने लिखा है, "जहाँ विदाई के समय सवर्ण जातियों की बेटियों के भाल पर अक्षत, रोली, हल्दी सुशोभित होते हैं, वहीं हमारे यहाँ बहन–बेटियां जाने किस अज्ञात, अविवेकपूर्ण रिवाज के अधीन सूअर के लहू से टीका कराने को अभिशप्त हैं।"[112] सिर्फ जातिभेद ही नहीं बल्कि दलितों के पिछड़ेपन के और भी अनेक कारण हैं। दलितों के अंदर मौजूद अंधविश्वास भी उनके पिछड़ेपन का मुख्य कारण है। आत्मकथा में सूरजपाल चौहान ने दलित समाज में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार करते हुए लिखा है, "हमारे दलित

समाज के लोगों में वैसे तो कई कुरीतियां हैं, लेकिन जो सबसे भयंकर और गंभीर बुराई है कि इस समाज में बच्चों का शादी–ब्याह गुड्डा–गुड़िया का खेल समझकर बचपन में ही कर दिया जाता है जिसके कारण वे जीवन–संग्राम में पिछड़ जाते हैं।"[113]

दलितों में आर्थिक एवं शैक्षिक विकास का स्तर जितना निम्न होगा, मुक्ति के लिए संघर्ष की चेतना भी उतनी ही देर से आएगी। आर्थिक स्तर ही सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करता है। आत्मकथा में सूरजपाल चौहान ने भंगी समाज के बच्चों द्वारा सूअर के यूरीन ब्लैडर को गुब्बारा बनाकर खेलने के प्रसंग का जिक्र किया है। यह प्रसंग दलित जीवन की पीड़ा को बेहद सजीव ढंग से सामने लाता है कि किस प्रकार पैसा न होने के कारण गुब्बारों के अभाव में बचपन भी अभाव और दरिद्रता की भेंट चढ़ जाता है।

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा के दूसरे भाग 'संतप्त' में भी सवर्ण समाज की क्रूरता और निष्ठुरता के अनेक प्रसंग हैं। सवर्ण समाज ने दलितों को तमाम नागरिक अधिकारों और प्राकृतिक अधिकारों से वंचित किया है। कुआं आदि के पास पशुओं को पानी पीने की स्वीकृति है लेकिन दलितों के स्पर्श मात्र से पानी अपवित्र हो जाता है। सूरजपाल चौहान ने अपने जीवन के अनुभवों, प्रसंगों के माध्यम से समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था एवं पितृसत्ता की वास्तविकता को सामने रखा है। "'जाति' एक समाजिक षड्यंत्र है, जो वर्ण–व्यवस्था और मनुवादी व्यवस्था की संरक्षक है। 'जाति' एक ब्राह्मणवादी सोच है, जो ब्राह्मणों को कायम रूप से ऊपरी स्थिति में स्थापित करती है। "जाति ऊँच–नीच एवं छुआछूत की बुनियाद है।" जाति मानवता की दुश्मन है और भारतीय समाज के लिए कलंक। आज भी हमारे देश में व्यक्ति की पहचान उसकी वाणी, व्यवहार, संस्कार, योग्यता, पद, उसकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति से नहीं होती है, बल्कि 'जाति' से होती है। यही ब्राह्मणवादी सोच हमारे समाज एवं राष्ट्र को खंडित कर रही है।"[114]

आत्मकथा के माध्यम से सूरजपाल चौहान जाति व्यवस्था के तमाम प्रश्नों को समाज के सामने रखते हैं। 'संतप्त' में दलित समाज में व्याप्त गरीबी, रूढ़ियाँ, भुखमरी, छुआछूत, भेदभाव, टूटते रिश्तों का संताप, दलित साहित्य के प्रति गैरदलित लेखकों का दृष्टिकोण आदि का सजीव और जीवन्त चित्रण किया गया है। दलित समाज की गरीबी का चित्रण करते हुए सूरजपाल चौहान लिखते हैं, "माँ और मेरे पास पहनने के लिए गत के कपड़े भी न थे। हम दोनों के कपड़ों पर जगह–जगह थेपड़ियाँ लगी रहती थीं। गर्मियों के दिनों में हमारे मोहल्ले के मेरी उम्र के बालक अक्सर नंग–धड़ंग ही रहते थे। सर्दियों के दिनों में ठण्ड से बचने

के लिए सूती फलालेन की एक घुटनों से नीचे तक की कमीज सिलवाकर रखी हुई थी।"[115] भुखमरी के समय लेखक द्वारा कब्र में रखे हलुए–पूरी को खाकर अपनी भूख शांत करने का प्रसंग दलित जीवन की पीड़ा को उघाड़कर सामने रख देता है। उत्पीड़न और शोषण से मुक्ति के लिए आवश्यक है कि दलितों में शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार–प्रसार हो।

दलितों में शिक्षा के प्रसार पर बल देते हुए राजकिशोर लिखते हैं, "इसके लिए जरूरी है कि दलितों में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार हो। अज्ञान के द्वारा अज्ञान से नहीं लड़ा जा सकता। अतः मैं यह कोशिश जरूर करता कि दलितों में साक्षरता का ज्यादा से ज्यादा प्रसार हो, वे किताब पढ़ना सीखें और आपस में खूब विचार–विमर्श करें। दलित के पांव में जूते भले ही न हों, किंतु उसके हाथ में एक किताब होनी चाहिए। जूता सिर्फ धूल–गर्द से, सर्दी–गर्मी से रक्षा करता है, जबकि किताब सभी तरह के अन्यायों के खिलाफ संघर्ष करने का औजार देती है।"[116]

दलित आत्मकथाएं मानवीय दायित्वबोधों से भरे अनुभवों की उपज हैं। लक्ष्मण गायकवाड की आत्मकथा 'उचल्या' – जिसका हिंदी अनुवाद 'उठाईगीर' नाम से हुआ, में उठाईगीरों की दरिद्रता, अभावग्रस्तता, भूख, पीड़ा और उनकी विवशताओं आदि का जीवंत चित्रण किया गया है। आत्मकथा में लक्ष्मण गायकवाड़ ने लिखा है, "इस समाज–व्यवस्था की ओर जब मैं बारीकी से देखने लगता हूं तो बेचैन हो जाता हूं। यह महसूस करने लगता हूं कि मेरे समाज पर सैकड़ों वर्षो से अन्याय होता है। उनके कल्याण हेतु योजनाएं कार्यान्वित नहीं होती हैं और जो थोड़ी बहुत होती हैं, वे उन तक पहुंच ही नहीं पातीं। मनुष्य के रूप में जीने का उनका अधिकार ही इस व्यवस्था ने छीन लिया है। ये अधिकार अचानक किसी एक रात में मिलने वाले नहीं हैं। इसके लिए निरंतर जागृति, संघर्ष और संगठन की जरूरत है। इसके साथ प्रस्थापित समाज को अंतर्मुख होकर अपनी सोच की दिशा को बदल लेना भी जरूरी है।"[117] लक्ष्मण गायकवाड़ जिस जाति के हैं उसे 'संतामुच्चर' कहा जाता है। 'संतामुच्चर' अर्थात् बाजार में चोरी करने वाला। उठाईगीरों की जाति के लोग पुलिस की अनुमति के बिना बाहर नहीं जा सकते थे। पुलिस द्वारा उठाईगीरों की मारपीट, उनके घर की औरतों को बेइज्जत करने की घटनाएं और उनके समाज की व्यथा–कथा को यह आत्मकथा सामने लाती है।

श्योराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' दलित समाज के बच्चों के बचपन के उत्पीड़न और पीड़ा से भरे प्रसंगों को सामने रखती है। बचपन जीवन का महत्त्वपूर्ण पड़ाव होता है। लेकिन दलित बच्चों का बचपन आभावों और दरिद्रता से भरा होता है जिस पर समाज द्वारा जाति, धर्म, वर्ण की

असंख्य चोटें की जाती हैं। श्योराज सिंह बेचैन की आत्मकथा एक पितृविहीन दलित बालक के संघर्ष की कथा को सामने रखती है। बाल उम्र में एक बालक द्वारा मरे मवेशियों की खाल उतारना, सिर पर तसले ढ़ोना, बेगार और खेतों में मुफ्त काम करना दलित समाज के यथार्थ को सामने रखता है। आत्मकथा में श्योराज सिंह बेचैन ने लिखा है, "वह मोची से उठकर अखबार फेंकने वाला हाकर बना। अंडा–नीबू बेचने के लिए फेरी वाला, होटल पर बर्तन धोने, चाय पिलाने वाला, खेत पर निराई–कटाई से शुरू हो जुताई–बुवाई करने वाला, भट्टा पर पथेरों को गोंदा मिट्टी देने वाला, बाजे वालों में शामिल हो ढोल पीटने और भवन बनाने वाला, राजमिस्त्री को ईंट–मसाला पकड़ाते–पकड़ाते खुद मिस्त्री बन जाने वाला, कुछ भी बना हो, पर यहाँ रुकता तो उसे हिंदू लोधी ही मार देते। उसने अपने ताऊ पर हाथ उठाने वाले सबसे संपन्न लोधी पर बचावी हमला किया था। यह आत्मरक्षा की उसकी प्राकृतिक कोशिश थी।"[118]

आत्मकथा में सवर्णों द्वारा दलितों को बंधुआ बनाने की अनेक घटनाएं सामने आयी हैं। सवर्णों द्वारा दलितों को कर्जा देकर आजीवन उन्हें अपना गुलाम बनाने की प्रथा आज भी समाज में जारी है। दलितों को अधिकार देने के नाम पर आज भी उनका शोषण किया जाता है। दलितों को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रख सवर्ण सारी सुख–सुविधाओं पर अपना जन्मजात अधिकार मानते हैं। सवाल यह उठता है कि देश की ऐसी स्वतंत्रता का क्या अर्थ जो मनुष्य को उसके मनुष्यगत अधिकार नहीं दिला सकती? आत्मकथा में श्योराज सिंह बेचैन ने लिखा है, "उनकी अस्मिता के लिए आजादी भी कितनी कम और कितनी सीमित है कि हमारी मेहनत का फल हमें नहीं दिला सकती। सामाजिक गुलामी की कारा में पड़े हमारे लिए स्वयं को आजाद कहना क्या बेमानी नहीं है? क्या दलितों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक बदतरी तुलनात्मक विकास की दृष्टि से बढ़ती नहीं जा रही है?"[119] लेखक की माँ अनपढ़ होने के बावजूद देश की असलियत को भली–भांति समझती है, "गरीबी ने देश छुड़ाइदयो। मिली होइगी बड़ी जाति कू आजादी, हमें तो काम करि केऊं रोटी नायं दई। छुआछूत नांय होती तो मैं कहूं चाय, बीड़ी की दुकान ही खोल लेती वह बोलते–बोलते रोने लगती। बाहर बारिश का पानी होता और भीतर अम्मा की आंखों में आंसू।"[120] यह आत्मकथा स्वतंत्र भारत में अछूतों की पीड़ा उनके जीवन के वास्तविक यथार्थ को हमारे सामने रखती है।

तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' दलित मुक्ति के सवालों को मानवीय मुक्ति से जोड़कर मुक्ति और संघर्ष का नया संदर्भ सामने रखती है। राजेंद्र यादव ने 'मुर्दहिया' के विषय में लिखा है, "यह व्यक्तित्व के निर्माण से ज्यादा अस्मिता–विकास

की कहानी है। व्यक्तित्व अपने परिवार, परिवेश, परंपराओं के अस्वीकार से गढ़ा जाता है, अस्मिता इन सबके बीच या इन्हें आत्मसात करते हुए, केंचुल से बाहर आते युवा सांप का बिंब बनाती है। दोनों ही अपने आपसे ऊपर उठते हैं, मगर अलग प्रक्रियाओं से। 'मुर्दहिया' उन्हीं केंचुलों को अनजाने ही छोड़ते जाने की आत्मीय कहानी है – जो अभी भी अधूरी है और दलित–विमर्श के नए आयामों का अनुसंधान करती है।"[121] 'मुर्दहिया' लोकजीवन के नग्न यथार्थ को हमारे सामने रखती है। आत्मकथा में तुलसीराम ने दलित समाज में व्याप्त अशिक्षा, अंधविश्वास, अपशकुन आदि का भी चित्रण किया है। गरीबी के कारण उपजी पीड़ा और यातना को आत्मकथाकार ने बेहद सजीव ढंग से चित्रित किया है। आत्मकथा में तुलसीराम ने शिक्षा प्रक्रिया में जाति–व्यवस्था से उपजे संकटों और कठिनाइयों को भी सामने रखा है। शिक्षा में गहरी रुचि के बावजूद तुलसीराम को स्कूल में जातीय घृणा और सामाजिक प्रताड़ना का सामना करना पड़ता है। घर की आर्थिक स्थिति भी शिक्षा में बाधक थी।

तुलसीराम की आत्मकथा उनके जीवन और वैचारिक संघर्ष की कथा होने के साथ ही दलित समुदाय में मौजूद गरीबी, अंधविश्वास, अशिक्षा, यातना, अपमान और जीवन जीने की लालसा को भी सामने रखती है। "तुलसीराम की आत्मकथा स्मृति और प्रतिबद्धता के द्वंद्व से निर्मित आत्मकथा है। उसमें स्मृतियां जीवन के कटु और यातना से भरपूर अनुभवों की है और प्रतिबद्धता के विशेष प्रकार की राजनीति, दर्शन और इतिहास–दृष्टि से जुड़ी हुई है। उनकी प्रतिबद्धता के दो बिंदु मुख्य हैं – एक तो भारतीय समाज की जाति–व्यवस्था में दंश, अपमान, गुलामी और यातना से दलितों की मुक्ति और दूसरे संपूर्ण भारतीय समाज के शोषण और दमन से मुक्ति। दलित समाज की मुक्ति के लिए वे बौद्ध दर्शन को अपनाते हैं और भारतीय समाज की मुक्ति के लिए मार्क्सवाद को। उनकी आत्मकथा एक तरह से भारतीय दलित समुदाय का ऐसा इतिहास और समाजशास्त्र भी है जिसमें निम्नवर्गीय इतिहास दृष्टि और मार्क्सवादी समाजशास्त्र का योग दिखाई देता है।"[122]

आत्मकथा में तुलसीराम ने अकाल के दिनों में जमीदारों द्वारा दलितों के शोषण का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। गरीबी और भुखमरी का चित्रण करते हुए वे आत्मकथा में लिखते हैं, "बरसात के दिनों में भुखमरी की स्थिति पैदा हो जाती। शुरू–शुरू में जब तेज बारिश से कट चुकी फसलों वाले खेतों में पानी भर जाता तो, उनके अंदर बिल बनाकर चूहे डूबते हुए पानी की सतह पर आ जाते थे। गांव के बच्चे तरकुल या खजूर के पत्तों से बनी झाड़ू लेकर उन चूहों पर टूट पड़ते थे तथा उन्हें मार–मारकर ढ़ेर सारा घर लाते थे।"[123] भुखमरी के समय चूहे और

बरसाती मछलियां खाकर अपनी भूख शान्त करना दलित जीवन की वेदना, पीड़ा को सामने रखता है। ठण्ड के दिनों में कपड़ों के अभाव में पुआल पर सोना और ठिठुर–ठिठुरकर रात काटने सम्बन्धी प्रसंग दलित जीवन का एक हिस्सा है। ऐसी दारुण स्थितियां दलितों के जीवन का अंग मानी जाती हैं। जमीदारों द्वारा दलितों को सुबह से शाम तक खाली पेट काम करने को बाध्य करना और उनके साथ पशु से भी बदतर व्यवहार करने सम्बन्धी प्रसंग मानवता की सारी सीमाएं लांघ जाते हैं। पूरे दिन बैलों की तरह खेतों में जुतने वाले दलित को एक समय का भोजन भी नसीब नहीं! यह व्यवस्था का सच है कि जहां एक ओर अमीर विलासिता और ऐश्वर्य में डूबे हुए हैं, वहीं दूसरी और दलितों को आज भी दो जून की रोटी के लिए पूरे दिन धूप में तड़पना पड़ता है, फिर भी उन्हें कभी–कभी भोजन नसीब नहीं हो पाता।

भूख और गरीबी के अनेक दर्दनाक प्रसंग आत्मकथा में सामने आए हैं। ऐसा ही एक प्रसंग – "दलित औरतें और बच्चे प्रायः मुर्दहिया के जंगलों तथा गांव के ताल से खाने योग्य वनस्पतियों को ढूंढने निकल जाते। जंगल में तो कुछ भी नहीं मिलता किंतु झाड़ियों में छिपे चूहों को मारकर घर लाया जाता। कई बिलों में पानी डाल कर उनमें छिपे हुए चूहों को बाहर निकलने के लिए मजबूर किया जाता। कभी–कभी इन बिलों से जहरीले सांप भी निकल भागते। जंगल में खरगोश तथा साही भी ढूंढकर मारे जाते किंतु इनकी संख्या बहुत कम होती। इधर ताल से सेरुकी नामक पौधे की जड़ें उखाड़ ली जाती, जो एक बड़ी प्याज के बराबर चुकंदर जैसी लगती थी। इन्हें पानी में उबालकर खाया जाता था। ताल के किनारे कर्मी के पौधे तथा दूधिया नामक बड़ी–बड़ी लताएं होती थीं, जिनके पत्ते पान जैसे होते थे। इन कर्मी तथा दूधिया की लताओं का साग बड़ा स्वादिष्ट होता था। इन प्राकृतिक स्रोतों से दलितों को बहुत राहत मिलती थी।"[124] भूख, गरीबी, शोषण, अन्याय, अंधविश्वास, बीमारी, उत्पीड़न, पीड़ा और वेदना के ऐसे अनेक चित्र आत्मकथा में उपस्थित हैं जो दलित जीवन की वास्तविकता को पूरी तरह से उघाड़कर सामने रख देते हैं।

बेबी कांबले की आत्मकथा 'जीवन हमारा' दलित समाज में स्त्री की स्थिति को यथार्थ रूप में सामने रखती है। स्त्री के लिए सवर्ण और दलित का व्यवहार एक जैसा ही रहता है। कैसी विडंबनापूर्ण स्थिति है हमारे समाज में जहाँ विवाहित स्त्री को ससुराल और मायके दोनों जगह उपेक्षित किया जाता है। आत्मकथा के विषय में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "'जीवन हमारा' में गुलामी का वह पेचीदा तंत्र भी सामने आता है जिसमें स्वयं सवर्णो की गुलामी के शिकार पुरुष अपने घर में औरतों

को गुलाम समझते हैं और उन पर हर तरह के अत्याचार करते हैं। यही नहीं, घर के भीतर सास अपनी बहू के साथ गुलामों जैसा व्यवहार करती है, उसे अनेक प्रकार की यातनाएं देती है।"[125]

दलित समुदाय की ऐसी अनेक प्रथाएं हैं जो स्त्री पर अत्याचार और उत्पीड़न की समर्थक हैं। ऐसी ही एक 'खोड़ा प्रथा' का जिक्र बेबी कांबले ने अपनी आत्मकथा में किया है, "ससुराल पहुंचने पर उस पर एक नया कहर टूट पड़ता। पांच किलो वजन की लकड़ी बढ़ई के पास से ले जाकर गोल आकार में कटवाई जाती। उस गोल लकड़ी के बीचो–बीच पांव घुसने जितना छेद बनवाया जाता। पांव में पहनाने के बाद वह निकल न जाए, इसलिए छेद के बीचो–बीच एक सरिया लगा दिया जाता। इसे बहू के सीधे पांव में पहना दिया जाता है।"[126] खोड़ा पहनकर बहू को घर के सारे काम करने पड़ते थे। काम करने के दौरान उसके पैर जख्मी होकर खून से लथपथ होते थे। अपने ऊपर होने वाले अन्याय को आत्मकथा में अभिव्यक्त कर बेबी कांबले प्रतिरोध का एक मार्ग तैयार करती हैं। दलित स्त्रियों के आत्मकथन लैंगिक, शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न का दस्तावेज हैं। इन आत्मकथाओं ने न्याय और मानवाधिकार के प्रश्न को जोड़कर दलित मुक्ति को नए अर्थों से जोड़ने का काम किया है।

'जीवन हमारा' में दलित स्त्रियों की यातनाएं और अनुभूतियां उभरकर सामने आती हैं। इस आत्मकथा में जीवन संघर्ष के साथ ही एक दलित स्त्री की मुक्ति संघर्ष की प्रेरणा भी निहित है। आत्मकथा में बेबी कांबले ने लिखा है 'जिस पति की लंबी उम्र के लिए पत्नी माथे पर कुमकुम लगाती है, वह भी बदले में क्या देता है? दुख, दुख और केवल दुख। और मजा यह कि इस शख्स के नाम का सिंदूर कोहिनूर से भी ज्यादा कीमती माना जाता है।'

कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित समाज में व्याप्त गरीबी, अशिक्षा, अभाव, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानता का चित्रण किया है। यह आत्मकथा दलित स्त्रियों की आजादी का स्वर बन कर सामने आई है। पुस्तक की भूमिका में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूं। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परंतु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन–भर घुटन में जीती हैं। समाज की आंखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।"[127] आत्मकथा में दलित स्त्री की पीड़ा उभरकर सामने आई है।

दोहरा अभिशाप में पितृसत्तात्मक समाज की स्त्री विरोधी मान्यताओं को बखूबी देखा जा सकता है। आत्मकथा में अपने अनुभवों को उजागर करते हुए कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "मैं लेखिका नहीं हूं, ना साहित्यक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएं सहन करनी पड़ीं इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं। पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"[128] आत्मकथा के माध्यम से कौशल्या बैसंत्री न केवल सवर्ण बल्कि दलित पुरुषों के दोहरे चरित्र और व्यवहार को भी सामने रखती हैं।

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' वर्ण–व्यवस्था का अभिशाप झेल रहे दलित समाज की पीड़ा के साथ ही एक दलित नारी के उत्पीड़न और पीड़ा को भी हमारे सामने रखती है। 'शिकंजे का दर्द' में दलित जीवन की दरिद्रता, अशिक्षा, अंधविश्वास, शोषण और तिरस्कार का प्रत्यक्ष अंकन मिलता है। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, "सच यह था कब आया यौवन, जान न पाया मन! शिकंजे में जकड़ा जीवन कभी मुक्त भाव का अनुभव ही नहीं कर पाया। जिंदगी एक निश्चित की गई लीक पर चलती रही। वह उमंग कभी मिली ही नहीं जो यौवन का अहसास कराती। उम्र के साथ कटु अनुभूतियों के दंश महसूस होते रहे। पीड़ा से छटपटाता मन मुक्ति का ध्येय लेकर आगे बढ़ता रहा।"[129]

सुशीला टाकभौरे समाज में दलित और परिवार में स्त्री दोनों ही रूप में पीड़ा और दंश को झेलती हैं। आत्मकथा में विपन्नता के अनेक प्रसंग हैं। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने एक प्रसंग का जिक्र किया है जब उनकी नानी व्यवस्था से सवाल करते हुए भगवान के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती हैं। "वे भगवान को संबोधित करती हुई कहतीं – यह सब तेरी ही करतूत है भगवान। मुंह पेट बनायो जात–पात क्यों बनाई? किसने रीत बनाई है कभी वे भी करके देखें, तब पता चलेगा।"[130] यह वर्णव्यवस्था से एक बड़ा सवाल है जो दलितों के हक, न्याय और मानवाधिकार की माँग करता है।

दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं भारतीय समाज में रचे–बसे सांस्कृतिक मूल्यों, मानवीय अस्मिता जैसे पहलुओं के विमर्श की कथाएं बनकर हमारे सामने आती हैं। दलित आत्मकथाओं में पीड़ा, उत्पीड़न और संघर्ष के स्वर को देखते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "दलितों की आत्मकथाओं में केवल आत्म की कथा नहीं होती, बल्कि उससे अधिक अपने समुदाय के शोषण, दमन, यातना और जीवन–संघर्ष

की कथा होती है। इन आत्मकथाओं के माध्यम से भारतीय समाज का जो अमानवीय रूप सामने आया है और उसकी जैसी आलोचना विकसित हुई है, वैसी पहले कहीं शायद ही मिले। दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाओं में प्रतिरोध और आक्रोश की भी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है, इसलिए उनका आत्मकथा लेखन अपनी अस्मिता और स्वाधीनता के दावों को समाज के सामने लाने का प्रयत्न भी है।"[131]

सन्दर्भ सूची

1. मनोविज्ञान (कक्षा–12), एन.सी.ई.आर.टी., पृ. 27
2. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 14
3. वही, पृ. 17
4. हंस, मार्च 2010, पृ. 32
5. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, भूमिका (viii)
6. हंस, मार्च, 2000, पृ. 96
7. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 17
8. तद्भव, अंक 20, जुलाई 2009, पृ. 135
9. वही, पृ. 135
10. रामचंद्र वर्मा (संपा.) – मानक हिंदी कोश, खण्ड–1, पृ. 121
11. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 6
12. रवीन्द्रनाथ टैगोर – मेरी आत्मकथा, प्राक्कथन
13. युगांक धीर (अनुवादक) – रूसो की आत्मकथा, भाग–1, पृ. 17
14. युगांक धीर (अनुवादक) – रूसो की आत्मकथा, भाग–2, पृ. 11
15. यशपाल – सिंहावलोकन, भाग–1, परिचय
16. डॉ. नगेन्द्र – आस्था के चरण, पृ. 202
17. डॉ. कमलापति उपाध्याय – हिंदी आत्मकथा साहित्य का शैलीगत अध्ययन, पृ. 6
18. नन्ददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताबदी, पृ. 138
19. प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 255
20. कृष्णा अग्निहोली – लगता नहीं है दिल मेरा, भूमिका
21. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, भूमिका
22. साहित्यकोश (आज्ञा चक्र), पृ. 77
23. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 16
24. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 21
25. हंस, जुलाई 2004, पृ. 32
26. हंस, फरवरी, 2012, पृ. 2
27. समयान्तर, अक्टूबर 2004, पृ. 28
28. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 14
29. हंस, जुलाई 2004, पृ. 34
30. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 48
31. वही, पृ. 48
32. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 51–52
33. अरुण प्रकाश – गद्य की पहचान, पृ. 129
34. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 14
35. अरुण प्रकाश – गद्य की पहचान, पृ. 150
36. वही, पृ. 147–148

37. डॉ. विनीता अग्रवाल – हिंदी आत्मकथाएं : सिद्धान्त एवं विश्लेषण, पृ. 17
38. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 37
39. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, भूमिका (viii)
40. एच.सी. वेल्स – एक्सपेरिमेंट इन ऑटोबायोग्राफी, वाल्यूम–II, पृ. 417
41. चम्पा श्रीवास्तव – हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, पृ. 153
42. मनोविज्ञान (कक्षा–12), एन.सी.ई.आर.टी., पृ. 28
43. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 8
44. हंस, जुलाई 2004, पृ. 31
45. डॉ. कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, पृ. 11
46. वही, पृ. 13
47. वही, पृ. 13
48. डॉ. भगवतशरण भारद्वाज – हिंदी जीवनी साहित्य : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. 63
49. डॉ. श्यामसुन्दर दास – मेरी आत्मकहानी, पृ. 1
50. राहुल सांकृत्यायन – मेरी जीवन यात्रा, पृ. 5
51. कमलादास – मेरी कहानी, पृ. 19
52. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 35
53. वही, पृ. 15
54. वही, पृ. 35
55. वही, पृ. 38–39
56. वही, पृ. 39
57. वही, पृ. 41
58. वही, पृ. 39
59. हंस, जुलाई 2004, पृ. 31
60. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 49
61. माताप्रसाद गुप्त (संपा.) – अर्द्धकथानक – बनारसीदास जैन, पृ. 15
62. डॉ. विनीता अग्रवाल – हिंदी आत्मकथाएं : सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण, पृ. 17
63. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 53
64. डॉ. नगेन्द्र – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 520
65. नामवर सिह – छायावाद, पृ. 22
66. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 28
67. वही, पृ. 30
68. डॉ. नगेन्द्र – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 112
69. पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 137
70. वही, पृ. 87
71. वही, पृ. 51
72. वही, पृ. 61
73. बहुवचन – 24, पृ. 132
74. हंस, फरवरी, 2012, पृ. 89

75. बहुवचन – 24, पृ. 34
76. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 258
77. हंस, जुलाई 2003, पृ. 9
78. हंस, सितम्बर 2010, पृ. 78
79. हंस, सितम्बर, 2005, पृ. 50
80. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 345
81. दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (संपा.) – हाशिए का वृत्तांत, पृ. 170
82. डॉ. धर्मवीर (संपा) – सीमंतनी उपदेश, पृ. 18
83. वही, पृ. 41–42
84. वही, पृ. 43–44
85. प्रज्ञा पाठक (संपादिका) – सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ. 12
86. वही, पृ. 44
87. रमणिका गुप्ता – स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने, पृ. 79
88. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 257
89. अपेक्षा, जुलाई–सितंबर 2003, पृ. 71
90. वही, पृ. 91
91. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, भूमिका
92. हंस, दिसम्बर 2006, पृ. 8
93. बया, जुलाई–सितम्बर 2011, पृ. 30
94. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 25
95. अरविंद जैन – औरत : अस्तित्व और अस्मिता, भूमिका
96. अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर 2003, पृ. 58–59
97. बजरंग बिहारी तिवारी – दलित साहित्य : एक अन्तर्यात्रा, पृ. 188
98. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, भूमिका
99. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे : समीक्षात्मक निबन्ध, पृ. 124
100. वही, पृ. 125
101. सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, भूमिका
102. अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर 2003, पृ. 71
103. बया, जुलाई–सितम्बर 2011, पृ. 29
104. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 66
105. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ. 12
106. वही, पृ. 52
107. वही, पृ. 160
108. बया, जुलाई–सितम्बर 2011, पृ. 29
109. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 52
110. वही, भूमिका
111. वही, पृ. 66
112. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 25

113. वही, पृ. 170
114. डॉ. डी.एम. बणकर – सूरजपाल चौहान के साहित्य में दलित विमर्श, पृ. 124
115. सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 21
116. राजकिशोर (संपा.) – हरिजन से दलित, पृ. 163
117. सूर्यनारायण रणसुभे (अनुवादक) – उचक्का, भूमिका
118. श्योराज सिंह बेचैन – मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृ. 250
119. वही, पृ. 194
120. वही, पृ. 138
121. हंस, फरवरी 2011, पृ. 6
122. श्रीधरम (संपा.) – तुलसीराम : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 136
123. डॉ. तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 41
124. वही, पृ. 72
125. बेबी कांबले – जीवन हमारा, भूमिका
126. वही, पृ. 111
127. कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, भूमिका
128. वही, भूमिका
129. सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, पृ. 117
130. वही, पृ. 26
131. हंस, जुलाई, 2004, पृ. 34

अध्याय दो

हिंदी की पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन

(क) पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री : धर्म, परंपरा समाज और संस्कृति

(ख) स्त्रियों के विविध रूप : माँ, बहिन, पत्नी, बेटी और बहू

(ग) विवाह और दाम्पत्य

(घ) प्रेम और विवाहेतर सम्बन्ध

हिंदी की पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन

यह बात जगजाहिर है कि किसी देश की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उस देश के गाँवों को जानना जरूरी है। यदि किसी देश के समाज की वास्तविक स्थिति देखनी है तो उस देश की स्त्रियों के जीवन के बारे में जानना आवश्यक है। आत्मकथा व्यक्ति के जीवन की ऐसी कथा होती है जिसमें सच का होना अनिवार्य शर्त है। संघर्ष करते और जूझते हुए जीवन से जब हमारा सामना होता है तो अनेक निष्कर्ष और संकल्प हमारे हाथ में होते हैं। जीवन सत्यों के साथ ही आत्मकथाएं अनुभवों के साक्षात्कार की कथाएं भी होती हैं। कोई भी व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, जीवन को एक समान नहीं जीता। सभी के अपने–अपने तरीके होते हैं। जीवन जीने के क्रम में हम विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं और जीवनमूल्यों की समग्रता में आत्मकथाकार की जीवनदृष्टि को देख सकते हैं।

यथार्थवादी विधा होने के कारण आत्मकथा में स्त्री के जीवन की खोज साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक प्रामाणिक है। पुरुष रचनाकारों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में हम स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैये की खोज वास्तविक धरातल पर कर पाते हैं। आत्मकथा के माध्यम से स्त्री के जीवन की पड़ताल करते हुए स्त्रियों की स्वाधीनता की आकांक्षा और मुक्ति संघर्ष की दृढ़ इच्छा शक्ति को चित्रित किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि स्त्री द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं के साथ ही पुरुषों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को भी सामने रखा जाए। अपने वास्तविक जीवन में पुरुष एक स्त्री के बारे में क्या सोचता है? इन प्रश्नों से उलझते हुए धर्म, परंपरा, संस्कृति द्वारा तय की गई स्त्री की भूमिका का अंकन भी आवश्यक है।

आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो लेखक के साथ ही समय, समाज और संस्कृति से हमारा साक्षात्कार कराती है। यह एक अनुभव संसार है जिसमें लेखक के जीवन के साथ ही सम्पर्क में आने वाले लोगों का भी वर्णन होता है। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में हम पाते हैं कि वहाँ लेखक के सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों का तो वर्णन है लेकिन 'पत्नी' नामक स्त्री लगभग गायब सी है या महज सूचना भर के लिए उपस्थित है। यह आश्चर्य का विषय है कि 'अर्द्धांगिनी' कही जाने वाली स्त्री के साथ अपनी आधी उम्र व्यतीत करने के बावजूद लेखक उसके बारे में वर्णन करने से हिचकिचाता क्यों है? 'माँ' के रूप में स्त्री का वर्णन भी हम कुछ आत्मकथाओं में तो पाते हैं लेकिन कुछ आत्मकथाओं में माँ भी मात्र सूचना के लिए

उपस्थित है। बहिन, पुत्री, बहू... नामक स्त्रियों में 'पुत्री' का वर्णन कहीं–कहीं मिलता है लेकिन 'बहिन' और बहू लगभग पूरी तरह से गायब हैं या अनावश्यक सूचना की तरह उपस्थित हैं। यह पितृसत्ता का ही कमाल है कि पुरुष स्त्री को अपने जीवन में उतना महत्त्व नहीं देता जितना कि एक स्त्री पुरुष को। परंपरागत मूल्यों और संस्कृति ने स्त्री के दिमाग में यह बैठा दिया है कि उसका जीवन पुरुष द्वारा संरक्षित और संवर्धित है। जाहिर है कि जब स्त्री को पुरुष के संरक्षण से आजाद नहीं किया जाएगा तो वह पुरुष से इतर कैसे सोच पाएगी? वहीं दूसरी ओर पितृसत्ता ने पुरुष को शासक बताया है और शासक कभी गुलामों को महत्त्व नहीं देता। आत्मकथाओं में भी यही हुआ है। जीवन देने वाली स्त्री से लेकर उनको संभालने और भरपूर ख्याल रखने वाली स्त्री पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में लगभग गायब सी है।

यहाँ अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, ओमप्रकाश बाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, अशोक वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, राजेन्द्र यादव, सूरजपाल चौहान, विष्णु प्रभाकर, तुलसीराम आदि लेखकों की आत्मकथाओं पर चर्चा की गयी है। धर्म, परंपरा, समाज और संस्कृति द्वारा निर्धारित स्त्री की परंपरागत छवि को इन आत्मकथाओं में किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है? विवाह, परिवार, प्रेम, रीति–रिवाज, संस्कार आदि के बारे में इन आत्मकथाकारों के क्या विचार हैं? बदलते हुए समाज में स्त्री की चली आ रही परंपरागत छवि में कहीं कोई बदलाव आया है? बदलती परिस्थितियों में स्त्री के प्रति हमारी सोच कितनी बदली है? इन आत्मकथाओं में समाज द्वारा गोपनीय और वर्जित कहे जाने वाले प्रश्नों को उजागर किया गया है अथवा उन्हें झूठ की चादर में लपेटा गया है? समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक मूल्यों के कारण स्त्री को जिस उपेक्षा व अपमान का सामना करना पड़ा है, उन मूल्यों के प्रति लेखकों का क्या दृष्टिकोण है? लेखकों की आत्मकथाओं में स्त्रियों की इच्छाएं, आकांक्षाएं किस रूप में सामने आई हैं? स्त्री के लिए असंख्य जिम्मेदारियां और दायित्व जबकि पुरुष के लिए उन दायित्वों से छूट ऐसे बिंदु हैं जो उनके जीवन के मापदंड निर्धारित करते हैं। अपने जीवनक्रम में आई स्त्रियों के प्रति इन पुरुष आत्मकथाकारों का क्या रवैया रहा है? स्त्री के जीवन को वे किस प्रकार देखते हैं? क्या पुरुष आत्मकथाकारों के जीवन में आई स्त्रियां उनके व्यक्तित्व निर्माण में सहायक की भूमिका के रूप में आई हैं अथवा महज एक घटना या ब्यौरा भर की भाँति उपस्थित हैं? वर्तमान समय में स्त्री की बदलती छवि को लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं में किस प्रकार दर्ज किया है? इस अध्याय में इन बिन्दुओं के विश्लेषण के साथ ही स्त्री–जीवन के विविध पहलुओं की जाँच–पड़ताल की जाएगी।

(क) पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री : धर्म, परंपरा समाज और संस्कृति

"माता और पिता की सुन्दर
इच्छाओं की मूर्ति बनूँ मैं।
प्रभो! शक्ति दो, प्रिय गृहजन के
अरमानों की पूर्ति बनूँ मैं।"[1]

यह है हमारा धर्म, परंपरा, समाज और संस्कृति जो संस्कारों की दुहाई देता है। संस्कार भी केवल स्त्री के लिए जिनका पालन उसका नैतिक कर्तव्य माना जाता है। पितृसत्ता ने नारी को भोग्य, भोज्य और भक्षणीय माना है। वहीं दूसरी ओर पुरुष को सर्वशक्तिमान बताया है। पितृसत्ता ने स्त्री को सिखाया है कि संकोच, पवित्रता, धैर्य, नैतिकता, मर्यादा... उसके जीवन के लिए आवश्यक व अनिवार्य लक्षण और गुण हैं। अधिकतर स्त्रियाँ नहीं जानती हैं कि वे उत्पीड़ित हैं। वे आतंक में जीती हैं। समाज उसे पिता, पति, पुत्र के संरक्षण में देखने का अभ्यस्त होता है। जो स्त्री पति की दहशत मानती हुई और पति की इच्छानुसार जीवन जीती है, वह उतनी ही अच्छी पत्नी मानी जाती है। पति की मार भी उसे प्यार और अपनापन लगता है। स्त्री किसी भी स्थिति, उम्र या किसी भी मुकाम पर हो, पति के प्रति उसकी जवाबदेही बनती है। माना यह जाता है कि स्त्री को आजादी गुमराह कर देती है।

स्त्री का इस्तेमाल पुरुषों के आनन्द के लिए है। शरीर औरत का और अधिकार पुरुष का। समर्पण की प्रक्रिया उसके जीवन को बेड़ियों में बाँधती है। पिता से पति, पति से पुत्र का संरक्षण उसे चारदीवारी में कैद करता है। जब तक वह पुरुष के संरक्षण में है, वह सौन्दर्य और उद्दीपन है पुरुष की इच्छा और वासना के नियंत्रण से मुक्ति की दशा में वह दंडनीय हे। "वस्तुतः सामन्ती व्यवस्था में नारी सिर्फ एक वस्तु है, सम्भोग और सन्तान की इच्छा पूरी करने वाली मादा। यहाँ सेवा, उपयोग और वफादारी के बदले पुरुष नारी को उसी तरह सजाता, सुरक्षा देता और उसकी जिम्मेदारी लेता है जैसे अपने हाथियों, घोड़ों और बैलों को सजाता, सँवारता और संरक्षण देता है।"[2] पुरुष को उसकी सम्पूर्णता में देखा जाता है जबकि नारी को कमियों और कमजोरियों के साथ। संस्कृति और परंपरा स्त्री को आदर्श नारी के साँचे में ढालकर उसके जीवन को संस्कारों का नाम देती है। भारतीय समाज में स्त्री का न तो कोई अपना व्यक्तित्व रहा है और न जाति। उसे व्यक्ति नहीं 'वस्तु' माना जाता है। शास्त्रों में स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखा गया है। उसके शरीर की रचना, मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की प्रधानता जैसे गुण उसे स्वतन्त्रता

का अधिकार नहीं देते हैं। परंपरा कहती है कि 'लज्जा' स्त्री का आभूषण है। सतीत्व और पातिव्रत्य का संरक्षण करते हुए पति को सुख देना स्त्री का कर्तव्य बताया गया है। धर्म कहता है "स्त्री के लिए पति ही गति और पति ही धर्म है, पति ही देवता और पति ही प्रभु है। कुलीन, गुणवती और व्रत उपवास में तत्पर होने पर भी जो नारी अपने पति की सेवा नहीं करती, उसे पापियों की ही गति मिलती है।"[3]

शास्त्रों में स्त्री को पति की सम्पत्ति में शामिल किया गया है जिसे वह वस्तु की तरह इस्तेमाल कर सकता है। पवित्रता–अपवित्रता जैसे सांचों के कारण कोई राम स्त्री को अग्नि में उतार देता है, कोई इन्द्र उसे पत्थर बना देता है और कोई धर्मवीर उसे जारकर्म से जोड़ देता है। "मनु और उसके बाद के नीतिकारों ने स्त्री को आदिम और बेलगाम स्वभाव के ऐसे जीव के रूप में देखा जो स्त्रीधर्म (पतिव्रत धर्म) निभाकर सभ्य और सामाजिक हो सकती थी।"[4] पुरुष वर्ग यह मानता है कि औरत शरीर है, सेक्स है इसलिए वह हर तरह से उसके शरीर को अपने वश में करना चाहता है। परंपरा और संस्कृति ने जहाँ एक ओर भारतीय समाज को मजबूती प्रदान की है वहीं दूसरी ओर स्त्रियों को काफी कमजोर किया है। एक योजना के तहत स्त्री के जीवन को परंपराओं और रीति–रिवाजों के पालन से बाँध दिया गया। घर की जिम्मेदारियो को पूरा करते हुए अपना जीवन होम कर देना उसका धर्म है।

"स्त्री समाज को रचती है और समाज स्त्री को रचता हैं जिन्हें वह गर्भ में पालकर दुनिया में लाती है, जिन्हें वह उंगली पकड़कर चलना सिखाती है, वही उसके चाल–चलन का हिसाब रखने लगते हैं। यह स्त्री की नियति है। स्त्री प्रेम है, स्त्री विश्वास है, स्त्री शक्ति है, स्त्री संयम है। यही प्रेम अगर स्त्री खुद को करने लगती है तो वह गलत है, यही विश्वास अगर उसका अपने ऊपर हो तो वह गलत है, यही धैर्य अगर वह मुश्किलों से लड़ने के लिए इस्तेमाल करे और हर मुश्किलों से लड़कर खड़ी हो जाए तो वह बहुत ही गलत है। समाज ने स्त्री को देह माना और उसकी देह पर शिकंजे कस दिए।"[5] स्त्री को देह के इर्द–गिर्द समेटना समाज की साजिश है। परंपरा ने हमें यह बताया है कि नैतिकता की संस्कृति का वहन करने से स्त्री धर्म सुरक्षित रहता है। नैतिकता यह है कि गैर मर्द से बात न करना, ब्याह के बाद पति के घर डोली में जाने के बाद अर्थी में ही वहाँ से निकलना। हर पल अपने शरीर और मन को पति को अर्पित करना ही नैतिकता है।

धर्म कहता है कि "नारी उत्सर्गमयी है। यही वस्तुतः उसका कल्याणमय रूप है। मोहमयी होकर भी उसे अपने लिए कोई मोह नहीं। वह जैसे कष्ट एवं सेवा के लिए ही निर्मित हुई है। अपना सर्वस्व किसी को देकर ही वह पूर्ण होती है। अपनों की सेवा, रक्षा उत्कर्ष – यही उसके प्रयत्नों का लक्ष्य है।"[6] पुराणों में स्त्री के तीन

प्रकार बताए गए हैं – साध्वी, भोग्या और कुलटा। सभी धर्मों में स्त्री के लिए पुरुष की अधीनता को श्रेयस्कर बताया गया है। पुरुष के ब्रह्मचर्य से लेकर गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास जैसे आश्रमों में स्त्री को उसकी सेवा के लिए तत्पर रहना पड़ता है। "'शयन समय में रम्भा सी' का दायित्व यदि वह नहीं निभाती है तो घर से निकाली जा सकती है। उसे अपना जीवन उस जीव की तरह चाहिए, जिसे रोटी, कपड़ा और सिर पर छत मिलती है तो वही करना पड़ेगा, जो पुरुष चाहता है।"[7]

अमृतलाल नागर ने अपनी आत्मकथा 'पत्नी' को समर्पित कर कहा है कि प्रतिभा (पत्नी) ने मुझे हर निराशा से बचाकर लेखक बनाए रखा। यह स्त्री के 'समर्पण' भाव की ओर संकेत है जिसकी माँग हरेक पति को अपनी पत्नी से होती है। आत्मकथाकार ने अपनी आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में पर्दाप्रथा, बालविवाह, वेश्यावृत्ति, विधवा समस्या जैसे प्रश्नों को भी उठाया है। विवाह का जिक्र करते हुए लेखक दहेज का विरोध नहीं करता बल्कि एक प्रकार से समर्थन ही करता है। "मेरा विवाह सोलह वर्ष की उम्र में कर दिया गया था। विवाह के उपहारों में एक साइकिल भी आई थी।"[8] कम उम्र में विवाह के पीछे पितृसत्ता की मानसिकता है। हिन्दू धर्म के अनुसार वैवाहिक जीवन की पवित्रता सुरक्षित रखने के लिए रजस्वला होने के पूर्व कन्या का विवाह आवश्यक है। धर्म कहता है कि "ऋतुमती स्त्री के मन में पुरुष–सहवास की कामना होती है। अतः ऋतुमती होने की अवस्था के पहले ही यदि उसका विवाह हो जाए तो वह पुरुष रूप में अपने पति का ही चिन्तन करेगी, अतः मानसिक व्यभिचार से भी वह बच सकती है।"[9]

आत्मकथाकार ने पर्दाप्रथा का जिक्र करते हुए लिखा है – "सन् 33 या 34 में मेरी पत्नी गौने से आयी थी। हम 'निकम्मी पढ़ाई' से पूरी तौर पर प्रभावित, गांधी युग के नौजवान थे, अपनी पत्नी से पर्दा नहीं कराना चाहते थे, उन्हें साथ लेकर सिनेमा जाने का हौसला भी था। माँ की मार्फत बाबू जी से इसके वास्ते आज्ञा ली। उन्होंने चौक क्षेत्र में तो मेरी पत्नी का चादर ओढ़ना अनिवार्य माना, पर चौक के बाहर चादर सिर से उतार कर तहाकर हाथ में लटका लेने में उन्होंने आपत्ति न की।"[10] यह पर्दा प्रथा का विरोध भी है और साथ में मौन समर्थन भी। अपने समाज के लोगों के सामने स्त्री का बेपर्दे में रहना शीलता का हनन है। पितृसत्ता का मानना है कि नैतिकता के क्षेत्र में स्त्री पर्दों में कैद रहने वाले सामन्ती चरित्र की मूर्ति बनी रहे। कोई भी धर्म स्त्री को पर्दे से आजादी की बात नहीं करता। मुस्लिम धर्म में भी स्त्री को नकाब में रहने की हिदायत दी जाती है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है, "मुहर्रम के दस दिनों में हमारे यहाँ खासतौर पर आशूरे के दिन बड़ी चहल–पहल रहती थी। ताजियों के जलूस चूँकि सामने ही से निकलते थे, इसलिए

उन्हें देखने के वास्ते बड़े घरों की मुस्लिम महिलाएं हमारे यहाँ आमंत्रित की जाती थीं। छज्जे के सामने चिकें पड़ जातीं। उन पर गद्दे–तकिए सजा दिए जाते थे। पर्दा इतना सख्त कि डोलियां और फीनसें जीने पर चढ़कर ऊपर आती थीं। किसी पुरुष की परछाईं तक उधर नहीं पड़ पाती थी।"[11] मर्यादा के नाम पर स्त्री से उसका चेहरा छीन लेना पितृसत्ता की कूटनीति नहीं तो और क्या है? काम–तुष्टि और प्रजनन स्त्री शरीर की उपयोगिता है। 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में एक युवक द्वारा युवती को प्रेमजाल में फंसाकर गर्भवती करने का प्रसंग है। इस प्रसंग के माध्यम से लेखक उस व्यवस्था को सामने लाता है जिसमें 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी' के तहत हर दुर्भाग्य का जिम्मेदार स्त्री को माना जाता है। बलात्कार पुरुष करता है और स्त्री अपराधी बना दी जाती है। स्त्री–शरीर को पवित्रता–अपवित्रता के घेरे से मुक्त कर आत्मकथा एक नया सन्दर्भ सामने रखती है। यहाँ एक अन्य युवक उस गर्भवती स्त्री से विवाह के लिए प्रस्ताव रखता है।

सेवा, श्रम और सेक्स स्त्री के जीवन के आधार स्तंभ हैं। धर्म, परंपरा और संस्कृति के अनुसार "नारी की मूल प्रकृति है पुरुष के प्रति अपने को उत्सर्ग कर देना। पुरुष को आकर्षित करने का प्रयत्न करना। पुरुष की प्रकृति है उपभोग।"[12] धर्म की इसी परंपरा का उल्लेख करते हुए लेखक ने 'कार्लुस' नाम के व्यक्ति द्वारा समाज की व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया है। – "स्टूडियो में एक लाइट लगाने वाला कुली था। नाम था कार्लुस। लम्बा, छरहरा, गठीला बदन, हब्शियों जैसे मोटे–मोटे ओंठ और वैसे ही छोटे–छोटे घुंघराले बाल। स्टूडियो के कुली वर्ग में वह कामदेव का अवतार माना जाता था। बहुत हंसमुख, बहुत फुर्तीला और मेहनती था। पट्ठे ने चार औरतों का हरम बना रखा था।"[13] चार पत्नियों के बावजूद अभी दो पत्नियाँ और बनाने का विचार – "अभी दो शादियाँ और बनाऊँगा साहेब। उनकी कमाई से जब मेरा घर बन जाएगा तो उनमें से एक को रखूंगा बाकी सब सालियों को मार भगाऊँगा।"[14] यह उपयोग और उपभोग की ऐसी संस्कृति है जो स्त्री को वस्तु मानने की परंपरा की ओर इशारा करती है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है कि कोल्हापुर में ऐसे अनेक 'कार्लुस' थे जो औरतों के रूप में अपने गुलाम पालते थे।

समाज द्वारा सन्तान के रूप में पुत्र को तवज्जो देने की प्रथा का जिक्र करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा है – "सद्यः विधवा और हतभागिनी मेरी सत्रह वर्षीया सास श्रीमती जानकी बाई की कन्या को जन्म देने के कारण ही सास के बोल–कुबोल सुनने और सहने पड़े।"[15] पुत्र को वंशवृद्धि का वाहक माना जाता है। यहाँ सवाल यह उठता है कि स्त्री के बिना वंश की वृद्धि कैसे संभव है? परंपरा

कहती है कि घर–परिवार और समाज पुरुष से चलता है जबकि हकीकत यह है कि स्त्री की कोख से किसी पुरुष का वंश चलता है। तन और मन के साथ समर्पण की शर्तें स्त्री को चारदीवारी में कैद करती रही हैं। स्त्री की स्थिति का उल्लेख करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा है – "जानकी माता के बहाने जनकपुर के उस युवा कवि के नारी विषयक दर्द और तड़प से मन भर उठा। बात सही है लेकिन उस भावबद्ध कवि से यह कहने को जी चाहा कि दोस्त, यह पीड़ा केवल जनकपुर की ही नहीं अवध की हजारों लाखों सीताओं की है बल्कि सारी दुनिया में यह सीता तरह–तरह से प्रताड़ित और पीड़ित हैं – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अफ्रीकी, एशियाई कहाँ की सीता सुखी है? लाचार जानकी अभी धरती में ही समाई हुई है... ।"[16]

स्त्री–जीवन से जुड़े अनुभवों के क्रम में लेखक ने स्त्री की यौन भावना, समाज द्वारा निर्धारित विधवा जीवन के कठघरों को सामने रखकर परंपरा और संस्कृति पर एक प्रश्नचिह्न खड़ा किया है। आत्मकथा में लेखक ने एक वयस्का महिला द्वारा तेरह–चौदह वर्ष के 'छिद्दू' को अपनी यौन–तृप्ति का माध्यम बनाने का उल्लेख करते हुए लिखा है – "तेरह–चौदह वर्ष की आयु में वह वयस्का रानी साहिबा को ऐसे सुहा गया कि एक दिन उन्होंने छिद्दू को पकड़कर अपने कमरे में बन्द कर लिया और छिद्दू के लिए काम–क्रीड़ा के द्वार खुल गए।"[17] रानी की इस काम–क्रीड़ा का पता लगने पर विधवा ननद भी उसे अपनी यौन इच्छा की पूर्ति का माध्यम बनाती है। विधवा–जीवन के संयम और त्याग के कठघरे को तोड़कर वह अपनी जीवंतता को सामने रखती है। एक तेरह–चौदह वर्ष के बालक को अपनी कुंठा का माध्यम बनाना पितृसत्ता की देन नहीं तो और क्या है? मनुस्मृति के अनुसार – "पति की मृत्यु हो जाने पर पवित्र पुण्य, फल और मूलादि अल्पाहार के द्वारा शरीर को क्षीण करे, परंतु व्यभिचार–बुद्धि से पर–पुरुष का नाम भी न ले।"[18] कोई अन्य विकल्प न मिलने पर विधवा स्त्री द्वारा एक बालक को अपनी इच्छा–पूर्ति के लिए माध्यम बनाने का प्रसंग परंपरा से बदलाव की माँग करता है। पितृसत्ता के अनुसार विधुर पुरुष के लिए पुनर्विवाह का प्रावधान है, वहीं दूसरी ओर विधवा स्त्री को सती धर्म की सीख दी जाती है। आत्मकथा में लेखक ने 'कन्यादान' प्रथा का भी उल्लेख किया है। हिन्दू धर्म के अनुसार कन्या का दान पवित्र पुण्य का काम माना जाता है। समाज की यह प्रथा स्त्री के 'व्यक्ति' की बजाए 'सम्पत्ति' होने की मानसिकता की ओर इशारा करती है। कोई धर्म 'पुरुष' के दान की बात नहीं करता।

अशोक वाजपेयी की आत्मकथा 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' लेखक के जीवन से अधिक कवि और आलोचक बनने की कथा है। आत्मकथा में लेखक ने अपने

सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों का बिल्कुल वर्णन नहीं किया है। यह कैसे संभव है कि किसी व्यक्ति और वह भी प्रशासनिक सेवा में कार्यरत, के जीवन में पत्नी के अलावा अन्य स्त्रियाँ सम्पर्क में न आयी हों? यह लेखक की प्रतिष्ठा का विषय अवश्य हो सकता है जिसके कारण वह अपने पद की महिमा को सर्वोपरि स्थान देता है। लेखक की यह धारणा पुरुष वर्ग की मानसिकता को सामने लाती है। पुरुष स्त्री का सम्पर्क तो चाहता है लेकिन उसके वर्णन में हिचकिचाता है। जाहिर है जब आत्मकथा में माँ, पत्नी, बेटी की सूचना भर उपस्थिति है और अन्य स्त्रियाँ सिरे से नदारद, तो स्त्री के जीवन, परंपरा, संस्कृति, धर्म, पितृसत्ता और संस्कारों की उपस्थिति हम आत्मकथा में कैसे पा सकते हैं? 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' के लिए राजेन्द्र यादव का यह कथन बिल्कुल सटीक बैठता है – "आत्मकथाएं प्रायः उन्होंने ही लिखी हैं जो कहीं पहुंच चुके हैं और उनके पास यह अवकाश और सुविधा रही है कि पलटकर अपनी यात्राओं का जायजा ले सके। चूंकि वे वही देखते हैं। जो देखना चाहते हैं। इसलिए उन्हें सफलताओं का संपादित संकलन भी कह सकते हैं।"[19]

कमलेश्वर की आत्मकथा तीन खंडों में प्रकाशित हुई है। आत्मकथा के पहले खंड 'जो मैंने जिया' में लेखक ने स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं को सामने रखा है। लेखक ने अपने सम्पर्क में आयी स्त्रियों का बेवाकी के साथ वर्णन किया है। स्त्री के प्रति पुरुष का सहज आकर्षण, पत्नी के रूप में स्त्री की वैधता, दहेज प्रथा, बाजारवाद की होड़ में स्त्री की बदलती छवि, वेश्यावृत्ति, तत्कालीन समय में स्त्री की दशा और समाज में उसकी स्थिति, स्त्री के प्रति पुरुषवादी दृष्टि जैसे मुद्दों को लेखक ने आत्मकथा में अंकित किया है।

बदलते समय में बाजारवाद की होड़ में पुरुष द्वारा स्त्री–शरीर को परोसने की संस्कृति औरत को बाजारू बनाने की प्रक्रिया है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है – "जो संस्कृति दिल्ली में पनप रही थी, उसमें महिला का स्थान घर से ज्यादा सजावटी उपादान का होता जा रहा था। पुरुष की महत्ता की वह एक शर्त बनती जा रही थी... हरेक को एक ऐसी महिला की जरूरत महसूस होती थी, जो उपस्थित होते ही चमत्कृत कर दे... जो बुद्धिजीवी भी लगे और अभिनेत्री भी... जो रहस्यमय भी लगे और सहज भी।"[20] शरीर के आधार पर स्त्री को मापने की परंपरा पहले भी रही है। फर्क यह है कि पहले वह घर के अन्दर क़ैद थी और आज वह चारदीवारी की सीमाएं लांघकर बाहर के परिवेश में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही है। मुस्लिम धर्म की पर्दा प्रथा का जिक्र करते हुए लेखक ने लिखा है – "मुसलमानों के सामाजिक और पारिवारिक कानून इतने सख़्त थे कि उनकी औरतें हमेशा मुरझाई रहती थीं... ज्यादातर वे तपेदिक की मरीज होती थीं।"[21] पर्दाप्रथा

होने के बावजूद मुस्लिम स्त्रियों का वेश्या होना समाज के सामने एक प्रश्नचिह्न खड़ा करता है।

कमलेश्वर ने आत्मकथा में बदलते समाज और परिवेश में सुविधा देने की शर्त पर सुन्दरता और शरीर की माँग करती हुई संस्कृति को सामने रखकर स्त्री–पुरुष के बदलते सम्बन्धों की ओर इशारा किया है। यह 'मीताओं' का वह दौर था जब महत्त्वाकांक्षाओं के पालने में झूलकर प्रेमिकाएं लेखक के जीवन और साहित्य में अंकित होती रहती थीं। तत्कालीन समय को दिखाते हुए लेखक ने साहित्य के रचनाकारों और उनकी पत्नियों के बीच तालमेल न बैठ पाने की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है, "इसीलिए यह दौर आंशिक रूप से यौन ग्रंथियों से भी ग्रस्त था... साहित्य और जीवन की इस विसंगति ने एकाएक तब एक ऐसी महिला जमात का उदय देखा था, जो गुमनाम प्रेमिकाओं, परंतु शुभनाम लेखिकाओं के रूप में जब–तब अवतरित होती रहती थीं।"[22] जीवन की ही भांति साहित्य में भी स्त्री को भोग्या माने जाने की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं – "तो ऐसी गुमनाम और शुभनाम किस्म की वह महिला उस समय के अनेक प्रतिष्ठित अग्रज लेखकों की भी उत्कट प्रशंसिका थीं, अधिकारी जी के कमरे से कुछ देर बाद निकली। साथ में अधिकारी जी और रामावतार त्यागी भी निकले। वे सुन्दरी थीं और लेखिका बनना चाहती थीं और उस समय के प्रमुख प्रतिष्ठित लेखक भी उन्हें लेखिका बनाना चाहते थे। हरेक उन्हें लेखिका बना रहा था।"[23] शरीर की सुन्दरता के आधार पर लेखिका बनने और बनाने की मानसिकता स्त्री को व्यक्तित्व से परे सिर्फ और सिर्फ देह के आधार पर गढ़ने की कोशिश है।

आत्मकथा के दूसरे खंड 'यादों के चिराग' में कमलेश्वर ने लेखन के क्षेत्र में स्त्री द्वारा अपने शरीर के बदले लेखिका बनने की होड़ के प्रसंग को दिखाते हुए लिखा है – "तो उन थकी हुई महिला के बारे में इतना ही कि उनके पास रचना के लिए कलम नहीं, शरीर था। वे अपने शरीर के माध्यम से ही रचना करना चाहती थीं।"[24] सन् 1947 में विभाजन के समय हिंदू सिख स्त्री 'देशी' का अपनी माँ के साथ किसी तरह बचकर भारत पहुँचना और पुरुष वर्ग द्वारा 'देशी' के शोषित होने की प्रक्रिया मौजूदा समय में पितृसत्ता की सोच को हमारे सामने रखती है। पहले शोषण और फिर उसे गर्भवती कर देना पुरुषवर्ग की मानसिकता को सामने रखता है। शादी के बिना गर्भ–धारण कर लेना एक स्त्री का चुनाव नहीं है। हर अपराध की सजा औरत को ही क्यों भुगतनी होती है? 'पाप' की परिभाषा नारी के सन्दर्भ में ही क्यों? स्त्री के सन्दर्भ में समाज तय करता है कि किसे प्रेम कहा जाए, किसे वासना और किसे व्यभिचार? 'देशी' के सन्दर्भ में भी यही हुआ है। उसके 'प्रेम' को

'पाप' की संज्ञा दी गई। अकेली स्त्री पुरुष के लिए 'सहज प्राप्य' की श्रेणी में होती है। कुछ यही स्थिति 'देशी' के साथ घटती है। देशी अपने अतीत से बाहर तो निकल आई थी लेकिन यह समाज उसे बाहर आने नहीं देता।

पुरुषवर्ग का मानना है कि स्त्री दमित इच्छाओं वाले जीवन के रूप में केवल और केवल शरीर है, सेक्स है जिसे वह अपनी तरह से इस्तेमाल कर सकता है। अगर वह शरीर वश में न आए तो हमला कर उसे दहशत में डाल दिया जाए। पितृसत्ता की इसी मानसिकता को उजागर करते हुए कमलेश्वर आत्मकथा में लिखते हैं "खुली छत। उतरती सर्दी की गुनगुनी धूप। देशी का एकदम नग्न संगमरमरी शरीर... काँपती रोती और तीखी आवाज में किसी को कोसती देशी... नग्न शरीर पसीने से लथपथ... बाल खुले हुए और संगमरमरी शरीर पर बहती पसीने की बूँदें... उधर देखा तो झिंझरी वाली नीची दीवार से अपनी छत पर छलाँग लगाकर भागता अग्रवाल का जवान बेटा।"[25] समाज अकेली औरत को चैन से जीने नहीं देता। अकेली स्त्री को अपमानित करके उसका उपभोग किया जाता है। 'देशी' पुरुष वर्ग द्वारा एक बार प्रताड़ित नहीं होती बल्कि अनेक बार उसका बलात्कार किया जाता है। देशी का अपराध है उसका सौन्दर्य। तसलीमा नसरीन के अनुसार "बलात्कार उस समाज का लक्षण बन जाता है जहाँ स्त्री की देह को सम्पत्ति की तरह देखा जाता हो। बलात्कार विषमता और नारी की यौनता के बिकाऊ होने जैसे कारणों से घटता है।"[26] देशी के साथ अनेक पुरुषों ने सम्बन्ध स्थापित किए और अनेक बार वह गर्भवती हुई। समाज में वही स्त्री सम्मानित होती है जो वैध रूप से किसी की पत्नी होती है। देशी के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाले लगभग सभी पुरुष विवाहित थे।

परंपरा किसी पुरुष को विवाहित होने के बाद नैतिकता, शीलता और मर्यादा के घेरे में रहने की हिदायतें नहीं देती है। यही कारण है कि देशी जैसी स्त्रियाँ समाज द्वारा प्रताड़ित होती रही हैं। अपराध भले ही पुरुष ने किया हो लेकिन अपराधी स्त्री बना दी जाती है। तभी तो कमलेश्वर लिखते हैं "पर देशी तो द्रोपदी थी। वह तो इलाहाबाद की आम्रपाली थी। उन्मुक्त सैक्स से वह अपना भविष्य निश्चित करना चाहती थी।"[27] कमलेश्वर भी 'देशी' के साथ दैहिक संसर्ग के भागीदार बनते हैं। सवाल यह उठता है कि क्या यह स्त्री की नियति है कि उसे उसी सांचे में फिट बैठना होता है जो पुरुषवर्ग द्वारा निर्धारित होता है?

फिल्मी जीवन के दौरान कमलेश्वर ने बॉलीवुड में स्त्रियों के जीवन को बहुत करीब से देखा और परखा है। 'यादों के चिराग' में फिल्मी दुनिया को चित्रित करते हुए पुरुष वर्ग द्वारा स्त्री शरीर को छुपकर देखने और दिखाने की मानसिकता को

उजागर करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसे सौन्दर्य की नग्नता नहीं चाहिए। वह सौन्दर्य फिर चाहे प्रकृति का हो या सृष्टि का या संवेगों का, स्त्री या पुरुष का।"[28] वर्जनाओं से ग्रस्त समाज में सेक्स सम्बन्धी दृश्य पुरुष वर्ग की मानसिक तृप्ति का कारण होते थे और आज भी हैं। इन्हीं दृश्यों को देखने के लिए लोग बार–बार फिल्म देखते हैं।

कमलेश्वर ने फिल्मी दुनिया में स्त्रियों के उस वर्ग को भी चित्रित किया है जो अपनी पहचान, अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए देह का दंश झेलती हैं। जिनका जीवन चुनौतियों से भरा है और जो छोटे कस्बों से बम्बई हीरोइन बनने के लिए आयी हैं। अपने सपनों को हकीकत में बदलने की जिजीविषा और वापस घर न लौट पाने की विवशता उन्हें शोषित होने के लिए मजबूर करती है। यह उस फिल्मी दुनिया का सच है जहाँ स्त्री को काम के बदले अपने शरीर को परोसना होता है। कमलेश्वर लिखते है "होता यह है कि मशहूर हीरोइनों के ऐसे कुछ मामूली बलात्कारी दृश्य ले लिए जाते हैं, जिनमें उन्हें एतराज न हो और बाद में उनकी अधनंगी टाँगों और फटे ब्लाउज को पूरी तरह फड़वाने तथा पूरी नंगी टाँगों को दर्शाने के लिए दूसरी एक्ट्रेस मौजूद रहती है। उस दृश्य की माँसलता, उद्रेक और नग्नता को भरपूर बनाने के लिए फिल्मी एक्स्ट्राएँ तब अपने करतब दिखाती हैं... ऐसी अर्धवेश्याओं की कोई कमी फिल्म संसार में नहीं है।"[29] हर पल चुनौती का सामना करने को मजबूर ये स्त्रियाँ वेश्या बनने के दर्द को भी झेलती हैं। यह स्त्रियों का वह वर्ग है जिनके लिए 'देह' शोषण का माध्यम है। फिल्मी दुनिया में स्त्रियों के दूसरे वर्ग को चित्रित करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "कुछ ऐसी लड़कियाँ भी वहाँ चाय–सिगरेट पीती बैठी रहती हैं, जो जानती हैं कि गर्मागर्म दृश्य के बाद यूनिट के लोगों को उनके संसर्ग सुख की जरूरत पड़ सकती है।"[30] स्त्रियों का यह वर्ग मेहनत के बजाए देह के दम पर अपने अस्तित्व और अपनी जीविका को बचाए रखने के लिए प्रयासरत है।

स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैये को उजागर करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "प्रशंसकों की एक मेज से मुझे फब्ती सुनाई पड़ी – ले गया भई ले गया, लड़की को पटा ले गया।"[31] लेखक के लिए यह अनुभव बहुत भयानक था क्योंकि यह लड़की और कोई नहीं बल्कि उनकी अपनी बेटी मानू थी। एक पिता के लिए अपनी ही पुत्री को पटा लेने की फब्तियों से बढ़कर बीभत्स दृश्य और क्या होगा?

फिल्मी दुनिया में स्त्रियों के तीसरे वर्ग को चित्रित करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "इस फिल्मी दुनिया में कुछ भी हो सकता था। किसी भी रात या शाम कोई भी औरत उठकर आ सकती थी और फिल्मी नाटक करके किसी की भी

जिंदगी तबाह करने की कोशिश कर सकती थी। ये असुरक्षित औरतें थीं जो अपनी जिंदगी की सुरक्षा खोजती हैं और शारीरिक सुखों को देने के लिए हमेशा मौजूद रहती हैं।"[32] यह बाजारवाद की वह संस्कृति है जहाँ सुविधा देने के बदले स्त्री से सेक्स की माँग की जाती है। नारी की पहचान आज भी एक बेची–खरीदी जानेवाली, भोग करने वाली, यौन सामग्री के रूप में ही है।

आत्मकथा के तीसरे खंड 'जलती हुई नदी' में कमलेश्वर ने फिल्मी दुनिया में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के सच को उजागर करने के साथ ही सेक्स के आधार पर अपने अस्तित्व को तलाशती स्त्रियों के जीवन और स्त्री–शरीर के प्रति समाज की दृष्टि को सामने रखा है। आत्मकथा में कमलेश्वर ने स्त्री–जीवन से जुड़े कई पहलुओं को समेटा है। अपनी माँ के माध्यम से वे स्त्री–जीवन से जुड़े एक नए विमर्श की बात करते हुए लिखते हैं "औरत और अग्नि हमेशा पवित्र होते हैं. पुजारी अग्नि को अपवित्र नहीं कर सकता, पुरुष औरत को अपवित्र नहीं कर सकता... क्योंकि जैसे अग्नि सृष्टि को समाप्त कर सकती है वैसे ही औरत नई सृष्टि की रचना कर सकती है... औरत और आदमी के बीच के प्रलोभन, प्रति–आकर्षण और संसर्ग तो मात्र सांसारिक सत्य हैं। पुरुष केवल निमित्त मात्र है। इससे बड़ा आध्यात्मिक सत्य है – सृष्टि! चुम्बक पत्थर तो चिनगारी उत्पन्न करने के काम आते हैं... चिनगारी सत्य है... घर्षण और आकर्षण नहीं।"[33] यह धर्म, संस्कृति और परंपरा पर एक बड़ा प्रहार है। स्त्री को पवित्रता–अपवित्रता के घेरे से आजाद कर स्त्री–जीवन को एक नयी दृष्टि से देखना स्त्री के प्रति नए सन्दर्भों को सामने रखता है।

आत्मकथा के तीसरे भाग 'जलती हुई नदी' में कमलेश्वर ने समाज, संस्कृति और परंपरा में स्त्री की छवि, भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री की भूमिका, ग्रामीण संस्कृति में परंपरागत स्त्री और महानगरीय संस्कृति में स्त्री की बदलती तस्वीर, वासना, सेक्स, पति द्वारा अपनी ही पत्नी से शरीर का धन्धा करवाने जैसे मुद्दों को बड़ी बेबाकी और सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

महानगरीय संस्कृति में बदलते सम्बन्धों की ओर संकेत करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "सोडे की खुलती बोतलों, तेज म्यूजिक और इधर–उधर खड़े जोड़े के बीच से नाचते–टकराते और लिपटते शरीर भी गुजर जाते। बाथरूम रह–रहकर बन्द हो जाते थे...।"[34] 'वाइन एंड वुमेन' की यह संस्कृति स्त्री को वस्तु बनाने से अधिक और कुछ नहीं है। महानगरीय संस्कृति में स्त्री–जीवन को दर्शाते हुए कमलेश्वर स्त्रियों के एक ऐसे वर्ग को सामने रखते हैं जो एक साथ ही पत्नी, मित्र, सहभागिनी, सहयोगिनी, अंकशायिनी, ललिता, बनिता, परम धूर्त, विलासिनी का

मिला–जुला रूप होती है। इस महानगरीय संस्कृति से बिल्कुल उलट है ग्रामीण संस्कृति जिसके विषय में कमलेश्वर लिखते हैं "... और यहाँ हर सम्बन्ध की जड़ें धरती में पनपती रहती हैं – जिन्हें उखाड़ो तो पूरी धरती उखड़ती है... इस संस्कृति में सम्बन्धों को काटा और तोड़ा तो जा सकता है पर उखाड़ा नहीं जा सकता।"[35] कमलेश्वर पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा निर्धारित स्त्री की स्थिति के विषय में लिखते हैं "औरत उतनी लाचार और दयनीय है नहीं, जितनी कि वो बना दी गई है या खुद को उसने मान लिया है, लेकिन यह भी सही है कि वह एक क्षुद्र और अभिशप्त दुनिया में बहुत बार बहुत अकेली पड़ जाती है। जब तक वह सहती रहती है, परम्पराएं सुप्त पड़ी रहती हैं... जब उसका धीरज जवाब देता है तो परम्पराएं और वर्जनाएं दानवों की तरह जागती हैं... और अन्ततः उसे लाचार करके छोड़ जाती हैं।"[36] यह व्यवस्था का ऐसा सच है जहाँ स्त्री को चेतनाविहीन मानकर समर्पित होने की सीख दी जाती है।

कमलेश्वर ने फिल्मी दुनिया में काफी समय व्यतीत किया। फिल्मी जीवन जीने के क्रम में अनेक स्त्रियाँ उनके सम्पर्क में भी आयीं। 'जलती हुई नदी' में कमलेश्वर ने बॉलीवुड में स्त्रियों के जीवन का काफी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस फिल्मी दुनिया को चित्रित करते हुए कमलेश्वर ने लिखा है कि यहाँ पति–पत्नी के संबंध भी 'कामयाबी' और 'महत्त्वाकांक्षाओं' पर टिके होते हैं। यहाँ प्रेम का खेल किसी दूसरी स्त्री को हराने की दृष्टि से जुए की तरह खेला जाता है। यहाँ एक स्त्री दूसरी स्त्री की प्रतिद्वन्दी होती है। वे लिखते हैं "जिस समाज और सोसाइटी में वह मूव करता था, उसमें अधिकांश औरतें अभी भी केवल अपनी सैक्स और आकर्षित कर सकने की शक्ति के सहारे ही अपने व्यक्तित्व की सार्थकता खोज रही थीं... स्पर्धा के इस फैशनेवल समाज में बिस्तर की शक्ति ही औरत की महाशक्ति थी।"[37] यह स्त्रियों का वह वर्ग है जो देह के आधार पर अपने स्वत्व को तलाशने में लगा है। समय और समाज के बदलते संदर्भों में स्त्रियों का यह रूप स्त्री–जीवन के एक नए रूप को सामने रखता है। आत्मकथा में स्त्रियों के इसी वर्ग को दिखाते हुए कमलेश्वर लिखते हैं कि आकर्षित बनने की होड़ में ब्यूटी पार्लर्स और टेलर्स ही उनके महत्त्वपूर्ण स्थान हो गए थे। इस फिल्मी दुनिया में सैक्स भी एक नशे जैसा है। यहाँ स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को वैधता की जरूरत नहीं।

फिल्म उद्योग में स्त्री को 'सेक्स' की शर्त पर काम देने के प्रसंग में कमलेश्वर लिखते हैं "तब उसके निर्माता–निर्देशक–अभिनेता ने अपने पौरुष की पहाड़ियों पर चढ़ कर ऐलान किया था – जुहू तारा रोड के हर घर की हर औरत की फेहरिस्त है मेरे पास... और तीन साल का टाइम बाउण्ड प्रोग्राम है इस नाचीज का। फेहरिस्त में शामिल हर औरत इस नुत्फ़े की नोंक पर फिरकी की तरह

नाचेगी... और पिछले पाँच महीनों में एक तिहाई औरतें सर की जा चुकी हैं... जो बिस्तरों तक आने में घबराती थीं – उन्हें सैलून कार में सर किया गया। जो सैलून कार में आने से शर्माती थीं, उन्हें मेकअपरूम में लाया गया...।"[38] यह स्त्री की विवशता है जहाँ उसे सेवा और सैक्स के बदले अपना जीवनयापन करना होता है। कहने को तो समय बदल रहा है लेकिन स्त्री का समय कब बदलेगा? तभी न, जब पुरुष उसे 'वस्तु' के रूप में नहीं बल्कि 'व्यक्ति' के रूप में देखेंगे।

फिल्मी संस्कृति में स्त्री की देह की आजादी के विषय में कमलेश्वर लिखते हैं "वहाँ कोई औरत पराई नहीं होती – वह तभी तक पराई रहती है, जब तक चाहती है। इस मामले में फिल्मी संस्कृति औरत को उसकी भरपूर आजादी देती है और मौका भी। खुशनुमा बात यह भी है कि फिल्मों में अधिकांश खूबसूरत औरतें आती हैं। वे अपनी खूबसूरती का इस्तेमाल करती हैं और जानती हैं कि वे उसका क्या इस्तेमाल कर रही हैं... उठते–बैठते, मिलते–जुलते कहीं भी औरत निषिद्ध या वर्जित नहीं होती। वह निरन्तर एक प्रतिस्पर्धा में लिप्त होती है – दूसरी औरतों से प्रतिस्पर्धा में भी और स्वयं से भी। यह औरतों का एक अलग वर्ग है, जहाँ सम्बन्धों और संवेगों की अपनी अलग जरूरतें हैं। इस दुनिया में औरत की वंशावली, खानदान, उसके रिश्तों–नातों को नहीं पूछा जाता।"[39]

यह एक ऐसा समाज है जहाँ स्त्री का धर्म, जाति, वंश... कोई महत्त्व नहीं रखता। यह स्त्री को स्वतंत्रता भी देता है। यह समाज स्त्री को मर्यादा और शुचिता जैसे घेरों में नहीं बाँधता। धर्म, संस्कृति और परंपरा में निहित कर्त्तव्यों से परे यह समाज स्त्री को अपनी देह के प्रयोग की आजादी देता है। वास्तविकता यह है कि यह आजादी उसके 'मन' की न होकर 'तन' की आजादी है। यह स्त्री को और अधिक गुलाम बनाते हुए उसका 'स्वत्व' छीनने की प्रक्रिया है। स्त्री के साथ भी यही हुआ है। अर्थ के प्रलोभन ने स्त्री को इतना भ्रमित कर दिया है कि अपनी ही देह के अनुचित प्रयोग को वह अपनी 'स्वतंत्रता' मान बैठती है। यदि इसे धर्म में निहित कर्त्तव्यों, परंपरा में निहित संस्कारों की जीत कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। आत्मकथा में कमलेश्वर ने लिखा है कि पैसा, मुनाफा और मूल्यहीनता की संस्कृति में जीती इन स्त्रियों का जीवन घर की चारदीवारी के बजाए पाँच सितारा होटलों में गुजरता है। औरत को एक 'जरूरत' के रूप में देखने की संस्कृति स्त्री को ऐसे गर्त में ढ़केलती है जहाँ एक स्त्री ही दूसरी स्त्री का शोषण करने में नहीं हिचकिचाती। वे लिखते हैं "ये औरतें अपनी भौतिक सुविधाओं, ऐशोआराम, अच्छा खा–पी सकने, अच्छा पहन सकने के लिए उन आदमियों की तलाश में रहती थीं जो यह एफोर्ड कर सकते थे... इनकी जिन्दगियों में सधे पाँव से घुसती थीं... । प्यार

के नाम पर सैक्स की बाढ़ में आदमी को बहा ले जाती थीं... फिर उस व्यक्ति की सामाजिक दुनिया में वे धीरे–धीरे 'मन से मजबूर होने' की बड़ी शालीन मुद्रा अपनाती थीं, और अपनी जकड़ और पकड़ का जायजा लेकर ठीक वक्त पर उसकी पारिवारिक जिंदगी पर हमला करती थीं।"[40]

परंपरा स्त्री को पुरुष के उपभोग, उपयोग, संभोग और व्यक्तिगत प्रतिभोग की वस्तु मानती है। फिल्मी दुनिया में परंपरा के इसी सत्य को वास्तविक रूप में घटते हुए देखकर कमलेश्वर लिखते हैं "वह अधिक आजाद औरत, जो फैशन के तहत ज्यादा अच्छी दिखाई पड़ती है... वह पारिवारिक पत्नी के अधिकारों और अपेक्षाओं से अलग महज एक निर्बाध और उन्मुक्त सुख की चीज होती है, चौबीस घंटों की हवा और गंध से अलग सीमित झोंके की तरह आती है और धीरे–धीरे वह ऐश्वर्य की जीवन पद्धति में घुलमिल जाती हैं। वह स्वीकार या अस्वीकार की हदों तक नहीं जाती, वह सिर्फ होती है। शिकवे–शिकायतों, दायित्वों से अलग सुविधाओं के शारीरिक सामान की तरह? जिसे सफर के दौरान किसी भी क्लॉकरूम में रखा जा सकता है।"[41]

समाज हर अपराध की सजा स्त्री को देता है। परंपरा में भी पुरुषों की आपसी रंजिशों के चलते स्त्रियों को बेचा, लूटा और मौत के घाट उतारा जाता रहा है। सामंती संस्कारों की इसी मानसिकता को कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में व्यक्त किया है जहाँ एक साथी अफसर, तायल साहब की तरक्की और बढ़ते प्रभाव से ईर्ष्या के चलते तायल साहब की बेटी आभा को अपनी प्रतिद्वन्दिता का शिकार बनाता है। "एक व्यक्ति को कमलेश्वर बनाकर एक अफसर के यहाँ ठहराया गया। आभा को कमलेश्वर से मिलने के लिए बुलाया गया और वहाँ कमलेश्वर बनकर बैठे व्यक्ति ने साजिश के मुताबिक आभा के साथ संभोग किया।"[42] समाज 'आभा' को कलंकित कर आत्महत्या के लिए विवश करता है। आज भी समाज में ऐसी अनेक आभाएं हैं जो सूलियों पर चढ़ा दी जाती हैं। अपने आस–पास की स्त्रियों के साथ ही फिल्मी दुनिया में स्त्रियों के वजूद और समाज में स्त्रियों की बदलती तस्वीर को अपनी आत्मकथा में चित्रित कर कमलेश्वर ने स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेटा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में स्त्री–जीवन से जुड़े प्रसंगों का विस्तार से वर्णन नहीं है। दलित जीवन की त्रासदी के कारण लेखक को इतना अवकाश नहीं मिला कि वह स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेटे। जूठन में जाति के नाम पर स्त्री के साथ होने वाले अत्याचार, शोषण सम्बन्धी प्रसंग सामने आए हैं। आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि पर्दा प्रथा पर कठोर प्रहार करते हुए

लिखते हैं "रात के अंधेरे में ही नहीं, दिन के उजाले में भी पर्दों में रहनेवाली त्यागी महिलाएँ घूँघटे काढ़े, दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थीं। तमाम शर्म–लिहाज छोड़कर वे डब्बों वाली के किनारे गोपनीय जिस्म उघाड़कर बैठ जाती थीं।"[43]

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा दो भागों में प्रकाशित है। आत्मकथा में गंवई, कस्बाई और बंबई की शहरी स्त्रियों की उपस्थिति है। आत्मकथा के पहले खण्ड 'अपने–अपने पिंजरे' भाग–1 में मोहनदास नैमिशराय अपने शहर की स्त्रियों के विषय में लिखते हैं, "मेरे शहर की औरतें अन्य शहरों की तरह ही थीं। न अधिक खूबसूरत और न बदसूरत। पर पर्दानशीन औरतें मुझे अधिक सुंदर लगती थीं। भले ही काले रंग की हो, बचपन से जवानी तक मेरे जीवन में काले और सांवले रंग की अनगिनत औरतें आई थीं। कुछ ने मुझे गोद में खिलाया था तो कुछ ने मुझे प्यार किया था। उनमें प्रेमिकाएं भी थीं और वेश्याएं भी। कुछ इन दोनों के बीच की थीं।"[44] यहाँ पुरुष की वह मानसिकता सामने आती है जो गौर वर्ण की स्त्री के सौन्दर्य के प्रति लालायित रहता है। मुस्लिम समाज में शादी–ब्याह के समय होने वाले 'रंडी नाच' के विषय में मोहनदास लिखते हैं "ऐसे अवसरों पर रंडियों को भी बुलाया जाता था। वे रातभर नाचतीं। इस जश्न में मुसलमान रातभर पान खाते, हुक्के गुड़गुड़ाते, रंग–बिरंगे खुशबूदार फूलों के गजरे सूंघते, वाह–वाह करते थे। उनकी पर्दानशीन औरतें दूर से ही यह सब देखती थीं।"[45]

बम्बई में स्त्री–शरीर के लेनदेन को देखते हुए मोहनदास नैमिशराय आत्मकथा में लिखते हैं "बाजार में सचमुच वेश्याएं थीं। हर उम्र और हर रंग की। मैं बहुत देर तक उस बाजार में खड़ा रहा और जिंदा माँस की मंडी में खरीद–फरोख्त होते हुए देखता रहा।"[46] लेखक द्वारा स्त्री शरीर को जिंदा माँस कहना स्त्री के प्रति लेखक की वह मानसिकता है जो स्त्री को शरीर से इतर देखने की कोशिश ही नहीं करती।

'अपने–अपने पिंजरे' भाग–2 में मोहनदास नैमिशराय ने स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने शरीर को वस्तु बनाने की प्रक्रिया के विषय में लिखा है "कुछ लड़कियाँ आफिस में ही मुझसे सट कर खड़ी होती थीं। इस आशय से कि या तो मेरी अँगुलियाँ उनसे छू जाएं या उनकी अंगुलियाँ मेरे जिस्म से छुएं।"[47] यह प्रसंग पढ़कर लगता है मानो लेखक स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने की कोशिश कर रहा है जहाँ लड़कियाँ लेखक के न चाहने के बावजूद उसके शरीर का स्पर्श चाहती हैं। यह लेखक की आत्ममुग्धता नहीं तो और क्या है? सुविधा के बदले स्त्री से समर्पण की माँग हर युग में की जाती रही है। आज भी प्रमोशन, नौकरी या अन्य मामले

में स्त्री से 'सेक्स' की माँग की जाती है। स्त्री को 'शरीर' और 'सेक्स' के रूप में देखने की मानसिकता माथुर साहब के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है "नैमिशराय जी, तुम्हारी जगह कोई भी होता तो अब तक उसे घोलकर पी लेता।"[48] नौकरी न मिल पाने के भय और उम्र निकल जाने की आशंका के चलते स्त्री द्वारा स्वयं को पुरुष के समक्ष आत्मसमर्पण करने की लाचारी! इसे विवशता कहें या परंपरागत मूल्यों की जीत, जहाँ स्त्री स्वयं को शरीर मानने के लिए विवश हो जाती है।

भगवतीचरण वर्मा की आत्मकथा 'कहि न जाए का कहिए' में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं पर्दा प्रथा, विधवा जीवन, अनमेल विवाह, पुत्र की चाह में अधिक संतानें पैदा करने आदि का चित्रण किया गया है। यह अधूरी आत्मकथा है जिसे लेखक पूरा न कर सका। अपूर्णता की दृष्टि से लेखक द्वारा 'ददुआ हम पै विपदा तीन' नाम से लिखा गया आत्मकथ्य इसमें जोड़ दिया गया।

धार्मिक संस्कारों के तहत पत्नी द्वारा पति का नाम न लेना नैतिकता का गुण माना जाता है। शास्त्रों में भी स्त्री को पति के अधीन रहना श्रेयस्कर बताया गया है। परंपरा की इसी प्रवृत्ति को व्यक्त करते हुए भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं "मेरी बड़ी बुआ यानी मेरे पिता की बहन धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत थीं। उन्होंने अपने पति का नाम कभी अपने मुख से नहीं निकाला। लिखना–पढ़ना वह जानती नहीं थीं, लेकिन अगर लिखना जानती भी होतीं तो वह अपने पति का नाम कभी न लिखतीं।"[49] अपने समय और समाज के विषय में बताते हुए भगवतीचरण वर्मा आत्मकथा में लिखते हैं कि वह समय स्त्री के लिए घोर गुलामी का युग था। पर्दा प्रथा स्त्री के लिए अनिवार्य थी।

हिन्दू धर्म के अनुसार 'पातिव्रत्य' स्त्री के लिए मुक्ति का साधन है। पति को छोड़कर उसे कहीं जाने की सुविधा नहीं है फिर चाहे वह पति जीवित हो या मृत। स्त्री के लिए धर्म द्वारा निर्धारित संस्कारों को भगवतीचरण वर्मा ने अपनी आत्मकथा में व्यक्त किया है। समाज द्वारा स्त्री और पुरुष के लिए अलग–अलग नियम और कानून बनाए गए हैं। पुरुष के लिए विधुर होने पर पुनर्विवाह का नियम और स्त्री के लिए विधवा होने पर यंत्रणा भरा जीवन जीने की मजबूरी। धर्म के भेदभाव भरे इन नियमों को लेखक ने अपनी आत्मकथा में व्यक्त किया है। लेखक की बुआ विधवा होने पर 'स्त्री' होने के नाते चौंसठ–पैंसठ वर्षों तक वैधव्य जीवन की यातनाओं को झेलती हैं। वहीं दूसरी ओर लेखक के बाबा विधुर होने पर पैंतालीस–छियालीस की उम्र में भी दूसरा विवाह करते हैं। यह समाज और संस्कृति की देन है जो पुरुष को 'शासक' और स्त्री को 'गुलाम' मानती है। यही कारण है कि लेखक की माँ विधवा होने पर धर्म द्वारा बताए गए 'सतीत्व' जीवन को जीती

हैं और निरामिष होने जैसे आचार–व्यवहार को अपने जीवन में लागू करती हैं। पुरुष होने के नाते स्वयं भगवतीचरण वर्मा विधुर होने पर दूसरा विवाह करते हैं। अपने दूसरे विवाह के संबंध में भगवतीचरण वर्मा आत्मकथा में लिखते हैं "विधुर जीवन बिता सकना मेरे लिए असम्भव था।"[50] स्त्री के लिए कदम–कदम पर परतंत्रता और पुरुष के लिए हर तरह से आजादी!

राजेन्द्र यादव की आत्मकथा 'मुड़–मुड़के देखता हूँ' में लेखक की जरूरत के अनुसार 'पत्नी' और 'प्रेमिका' की उपस्थिति है, और अन्य स्त्रियाँ पूरी तरह से गायब। यही कारण है कि उनकी आत्मकथा में स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं का वास्तविक रूप सामने नहीं आ पाया है। आत्मकथा में लेखक के तनावग्रस्त जीवन का वर्णन अधिक है। धर्म का चोला पहने साधु–संतों की स्त्री के प्रति दृष्टि को एक प्रसंग के माध्यम से उजागर करते हुए राजेन्द्र यादव ने आत्मकथा में लिखा है "अचानक मैंने देखा साधु का एक पाँव भी लड़की के पाजेबवाले पाँव की तरफ अनजाने सरकता और फिर वापस आ जाता।"[51]

समाज स्त्री–पुरुष के मैत्रीपूर्ण संबंधों को सही दृष्टि से न तो देखता है और न ही मान्यता देता है। सामाजिक दबाव की इसी स्थिति का उल्लेख करते हुए राजेन्द्र यादव आत्मकथा में लिखते हैं "पच्चीस–तीस सदस्यों का हमारा बड़ा सा संयुक्त परिवार था। वहाँ ढ़ेरों चचेरी बहनें भी। कुछ से मैं अधिक निकटता भी महसूस करता था – लगभग उस स्तर पर जहाँ 'घेरे के बाहर' जैसे उपन्यास लिखे जाते हैं। बाहर मिलने–जुलने की सुविधा और स्वतंत्रता न होने के कारण उन दिनों घर–घर में शशि और शेखर की कहानियां घटित हो रही थीं।"[52]

स्त्री लेखन के प्रति सजग होने और स्त्रियों की समस्याओं को अपनी पुस्तकों में अंकित करने के बावजूद वास्तविक जीवन की विधा 'आत्मकथा' में राजेन्द्र यादव ने स्त्री–जीवन के अनेक पहलुओं को छोड़ा है। 'मुड़–मुड़के देखता हूँ' में स्त्री के प्रति लेखक का दृष्टिकोण सही ढंग से सामने नहीं आ पाया है।

सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा दो भागों में लिखी है – तिरस्कृत और संतप्त। आत्मकथा के पहले भाग 'तिरस्कृत' में समाज द्वारा जाति के नाम पर स्त्री के साथ होने वाले अत्याचार और शोषण को व्यक्त करते हुए सूरजपाल चौहान लिखते हैं "ठाकुर ने मेरी माँ को जाति का ओछापन याद दिलाते और भद्दी गाली देते हुए कहा था – "साली भंगनिया, चार दिन से काम पर नहीं आई, हमारे घर के सामने कूड़े कौ ढ़ेर लगी पड़ौ है।"[53] सवर्ण स्त्री जो स्वयं पितृसत्ता द्वारा शिकंजे में कैद है, जाति के नाम पर वह भी दलित स्त्री को अपमानित करने से पीछे नहीं हटती। यहाँ स्त्री–पुरुष का भेद मिट जाता है और जाति आड़े आ जाती है। सवर्ण

स्त्री हो या पुरुष, जाति के नाम पर दलित को अपमानित करते हैं। 'तिरस्कृत' में सूरजपाल चौहान व्यवस्था के इसी सच को उजागर करते हुए लिखते हैं "यह ठकुराइन मुझसे इतना छूत करती है, जरा–सा छू जाने पर अपने ऊपर पानी के छींटे डालती है..., चाचा में ऐसा क्या है टीका की मड़ैया के पीछे अरहर के खेत में उसके साथ उलझी पड़ी रहती है।"[54] यह समाज का सच है कि सवर्ण जाति के नाम पर तो दलित का शोषण करता है और उससे छुआछूत करता है। शरीर के मामले में यह छुआछूत मिट जाता है और सवर्ण पुरुष द्वारा दलित स्त्री को अपनी वासना का शिकार बना लिया जाता है। यहाँ ठीक उलट हुआ है। यहाँ सवर्ण स्त्री दलित पुरुष को अपनी तृप्ति का माध्यम बनाती है। दलित स्त्रियों के यौन शोषण की घटनाएं तो होती चली आ रही हैं लेकिन सवर्ण स्त्री द्वारा दलित पुरुष का यौन शोषण दलितों के प्रति समाज की अमानवीय और हेय दृष्टि को उजागर करता है।

आत्मकथा के दूसरे भाग 'संतप्त' में स्त्री–जीवन और दलित स्त्री के जीवन के विभिन्न पहलू सामने आए हैं। स्त्री के साथ अनैतिक व्यवहार करने, उसका बलात्कार करने में जाति आड़े नहीं आती। ठाकुर द्वारा अपनी माँ के शारीरिक शोषण को व्यक्त करते हुए सूरजपाल चौहान लिखते हैं "ठाकुर जयसिंह अपने दोनों हाथों से माँ को दबोचे हुए था। माँ भेड़िए के पंजों में फंसी हाथ–पाँव पटक रही थी। माँ की हालत देखकर मैं दहल गया था। माँ का आँचल ठाकुर ने खींचकर दूर फेंक दिया था। वह अपनी पकड़ और मजबूत करते हुए माँ के मुंह से अपना मुंह अड़ाने की कोशिश कर रहा था।"[55] ठाकुर की पत्नी शोषित दलित स्त्री का पक्ष न लेकर अपने पति का पक्ष लेती है "साली भंगनिया, झूठा आरोप लगाते लाज नहीं आती, ठाकुर होकर कोई भला भंगिन से मुँह काला करेगा... तुझे तो छूने भर से ही छूत लग जाएगी, खैर चाहती है तो चली जा यहाँ से।"[56] पितृसत्ता, धर्म और संस्कृति ने जाति के नाम पर स्त्री–स्त्री में भी भेद पैदा कर दिया है। सवर्ण स्त्री दलित स्त्री का पक्ष नहीं लेती है। यदि स्त्री सामूहिक होकर सामंती संस्कारों, पितृसत्ता और धर्म द्वारा बनाए गए नियमों का प्रतिरोध करे तो पुरुष वर्ग द्वारा शरीर और जाति के आधार पर होने वाले शोषण से वह काफी हद तक मुक्त हो सकती है।

दलितों के प्रति जो भेदभाव सवर्ण पुरुष करते हैं, वही भेदभाव सवर्ण स्त्रियां भी। सूरजपाल चौहान लिखते हैं" एक रोज बातों–बातों में श्रीमती शर्मा को मेरे एस. सी. होने का पता चल गया। अब क्या था? उसका व्यवहार मेरे प्रति एकदम से बदल गया। मैं उससे उसी तरह सहज रुप से व्यवहार करता, उससे पूछ ही

लिया – 'मैम क्या हुआ, मुझसे कोई भूल हो गई है?' 'सूरज तुमने मुझे अपने भंगी होने की बात पहले क्यों नहीं बताई... मैं भंगी–चमारों से बात नहीं करती... ये सभी गंदे होते हैं।"[57] जाति के नाम पर स्त्री समाज द्वारा तय की गई स्वयं की स्थिति को भूलकर दलित के साथ अमानवीय व्यवहार करने लगती हैं। जिसने स्वयं शोषण का दंश झेला हो, उस स्त्री से छुआछूत और भेदभाव पूर्व व्यवहार असहज सा प्रतीत होता है, लेकिन व्यवस्था का सच भी यही है।

विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा तीन भागों में प्रकाशित हुई है। आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर ने अपने जीवन के साथ ही भारतीय समाज के ऐतिहासिक परिवर्तन का भी वर्णन किया है। आत्मकथा के पहले भाग 'पंखहीन' में विष्णु प्रभाकर ने धर्म, परंपरा, समाज और संस्कृति द्वारा तय की गई स्त्री की भूमिकाओं का विस्तार से वर्णन किया है। स्त्रियों के साथ होने वाली हिंसा, समाज द्वारा निर्धारित स्त्री–गुण और कर्त्तव्यों को भी विष्णु प्रभाकर ने बड़े विशिष्ट ढंग से व्यक्त किया है। स्त्री शिक्षा जैसे प्रश्नों को उठाने के साथ ही आत्मकथाकार ने स्त्री को बांझ कहने वाली मानसिकता पर कड़ा प्रहार किया है।

हर अपराध की सजा स्त्री के सर मढ़ने की प्रवृत्ति पर प्रहार करते हुए विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "बाबा जानकीप्रसाद हमारे बाबाओं की पीढ़ी में एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो वाणिज्य व्यापार का काम छोड़कर माल विभाग में नौकर हो गए थे। वे कभी गाँव में नहीं रहे। नौकरी पाने के बाद उन्होंने पहली पत्नी छोड़कर दूसरी शादी कर ली थी।"[58] बाबा द्वारा पहली पत्नी को छोड़ने के सवाल पर विष्णु प्रभाकर लिखते हैं – "शायद वे संतानवती नहीं हो सकी थीं इसलिए पर, संतान तो उन्हें दूसरी पत्नी से भी नहीं हो सकी थी। दोष कहीं उन्हीं में था पर दोष किसी का हो, दण्ड नारी को ही मिलता रहा है पुरुष प्रधान समाज में।"[59] परित्यक्ता, बांझ जैसे शब्द स्त्री के अस्तित्व पर बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। स्त्री के लिए 'मातृत्व' एक बड़ा वरदान है। स्त्री के 'मातृत्व' में अपने अस्तित्व के पुनर्जन्म की कामना निहित होती है। पितृसत्ता स्त्रियों को दंडित करने के लिए ही निर्मित हुई है। यही कारण है कि बाबा जानकीप्रसाद स्वयं में दोष न देखकर अपनी पत्नी को दोषी बनाते हैं। संतानहीनता का कारण एक पुरुष भी हो सकता है, यह पितृसत्ता को स्वीकार नहीं। हर अपराध की सजा औरत के नाम! पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों के विषय में विष्णु प्रभाकर लिखते हैं, "दूसरी चाची की मुझे खूब याद है। वह बहुत ही निरीह और भोली थीं। गरीब घर की थीं। चाचा उनको खूब पीटते थे।"[60] पत्नी को पीटने का रिवाज आज भी है। पितृसत्ता के नियमों के अनुसार स्त्री पुरुष की प्रताड़ना की अधिकारी मानी जाती है।

स्त्रियों को रीति–रिवाजों, परंपराओं के नाम पर अनेक प्रकार से बांधने की कोशिशें की जाती रही हैं। पर्दा प्रथा भी उन्हीं परंपराओं में से एक है। विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "बड़ा सख्त परदा था उन दिनों। वे असूर्यपश्यायें घर से बाहर जाती भी थीं तो सिर से पैर तक ढंकी–दबी जाती थीं...।"[61] तत्कालीन समाज में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी में कैद था, बाहर की दुनिया से उनका बिल्कुल संबंध नहीं था। परिजनों को छोड़कर उन्हें अन्य किसी से बातचीत करने की अनुमति नहीं थी। विष्णु प्रभाकर स्त्रियों के इस कारागार में व्यतीत होते जीवन को पूरी संवेदना के साथ समझते हैं। आत्मकथा में वह लिखते हैं "वर्जनाएं हैं तो अभिव्यक्ति कभी सहज नहीं हो सकती। इसलिए वह ऐसे एकांत अवसरों की टोह में रहती थीं जहां वे अपने मन को अपनी इच्छा के अनुसार बहने दें। मुक्ति का आनंद कोई बंधन स्वीकार नहीं करता।"[62] विष्णु प्रभाकर यह जानते हैं कि बंद मानसिकता वाले समाज में मस्तिष्क का सही ढंग से विकास नहीं हो सकता। स्त्री–पुरुष दोनों मिलकर ही सभ्य समाज का निर्माण कर सकते हैं।

पुरुषप्रधान समाज में पुरुष सर्वेसर्वा होता है। वह सभी बंधनों से आजाद होता है। विष्णु प्रभाकर यह भली भांति समझते हैं कि स्त्री के संदर्भ में संस्कारों का अर्थ हक मारना और अत्याचार करना नहीं होता। यदि ऐसा है तो उन रीति–रिवाजों को खत्म करना होगा जो सिर से पैर तक स्त्री को नाथे जाने के क्रम में उसकी आजादी छीन लेते हैं। विष्णु प्रभाकर स्त्री को 'दास' मानने की इसी परंपरा पर प्रहार करते हुए लिखते हैं "...नारियां पुरुषों से अधिक धर्मभीरू होती थीं। और पूरी श्रद्धा और भक्ति से सभी धार्मिक प्रथाओं और अनुष्ठानों का पालन करती थीं। दिन–प्रतिदिन होने वाले व्रत–त्यौहार, मेले–रेले उन्हें सदा व्यस्त रखते थे। घर–गृहस्थी का पूरा दायित्व उन्हीं के कंधों पर रहता था। वह मुक्ति की माँग न कर बैठें इसलिए उनकी श्रृंगार प्रियता को खूब सहलाया है पुरुष ने।"[63] पितृसत्ता द्वारा स्त्री के लिए निर्धारित पैमानों के विषय में विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "नारी की तुलना धरती से इसलिए तो की गई है। बड़े प्रेम और आदर के साथ 'पुरुष' ने धरती के सारे गुण नारी पर आरोपित किए हैं... धरती सहिष्णु है, अन्नपूर्णा है, वह विद्रोह कर ही नहीं सकती।"[64] वास्तविकता यह है कि अपने निश्चित और निष्क्रिय रूप में रहने वाली स्त्री को पितृसत्ता 'देवी' का दर्जा देती है। अपने प्रतिमान स्वयं तय करने वाली स्त्री पितृसत्ता द्वारा 'कुलटा' कही जाती है।

विष्णु प्रभाकर परंपरा द्वारा निर्धारित ऐसे नियमों को चुनौती देते हैं, जो स्त्री को बंधन में बांधते हैं। पितृसत्ता की मानसिकता के विषय में वे लिखते हैं "...पुरुष समझता है कि मैं शक्तिशाली हूं, समर्थ हूं नारी से। इसलिए वह स्त्री जाति को

सदैव दबाने की कोशिश करता है। नारी को वह अबला, अशक्त, कायर और न जाने क्या–क्या समझता है? वह किसी भी बात में नारी को शासन करते नहीं देख सकता। जहां उसने नारी में तनिक (भी) स्वतंत्रता देखी कि एकदम अहम् भाव जागृत हो उठता है।"[65]

विष्णु प्रभाकर ने आत्मकथा में पितृसत्ता द्वारा निर्धारित स्त्री विरोधी षड्यंत्रों का भली–भांति विश्लेषण किया है। आत्मकथाकार ने स्त्री जीवन के माध्यम से समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति को चित्रित किया है। स्त्री की सारी समस्याएं उसकी देह से शुरू होती हैं। उसके जन्म के साथ ही उदासी का वातावरण छाने लगता है। सेक्स और वंशवृद्धि के लिए तो स्त्री चाहिए लेकिन अपने घर में पैदा नहीं होनी चाहिए। समाज की इसी मानसिकता को विष्णु प्रभाकर ने एक प्रसंग के माध्यम से दिखाया है जब उनकी पत्नी सुशीला कहती हैं "ईश्वर तो एक बार सृष्टि की रचना कर चुका। अब तो समर्थवान पुरुष को ही चाहिए कि वह इस मशीनों के युग में नए ढंग से स्त्री की रचना करे। अच्छा रहेगा कि वह कन्या को जन्म न देने में समर्थ हो, पुत्र ही पुत्र पैदा करे और नारी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए मिट्टी की पुतलियां बनाकर कल द्वारा उन्हें चलाए–फिराए और सृष्टि रचना के साथ ही अपना मनोरंजन पूर्ण करे।"[65] आज के समय में भी भ्रूणहत्या से लड़कियों को मारना एक साधारण सी बात है। हरियाणा जैसे राज्यों में भ्रूणहत्या के कारण लड़कियों की कमी हुई तो झारखंड से 'त्रिपाला' को वंशवृद्धि के लिए खरीदा गया। 'द्रोपदी' की भांति उसे पांच भाइयों में बांट दिया गया। आश्चर्य नहीं कि द्रौपदी की परंपरा को आज भी निभाया जा रहा है। 'त्रिपाला' ने अपने शरीर को बांटने से इनकार किया तो उसे समाज द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया। स्त्री जब–जब पुरुषों का 'साधन' बनने से इनकार करती है, समाज द्वारा उसे तब–तब दंडित किया जाता रहा है। व्यवस्था के सारे नियम–कानून स्त्री को 'बंधुआ' बनाते हैं। पितृसत्ता के इन सामंतवादी संस्कारों से मुक्ति के लिए स्त्री को स्वयं प्रयास करना होगा। स्त्री को अपनी परंपरागत छवि बदलनी होगी। स्त्री को 'द्रौपदी' की तरह मूक होकर 'वस्तु' नहीं बल्कि 'त्रिपाला' की तरह अपने वजूद के लिए लड़ना होगा।

समाज की बंदिशें स्त्री से उसके मनुष्यगत अधिकार तक छीन लेती है। स्त्री, पुरुष को गुलाम नहीं बनाना चाहती बल्कि उसका प्रयास इस ओर है कि पुरुष उसे भी मनुष्य की तरह जीने का अधिकार दे। समाज की प्रगति गुलामी और दासता जैसे संबंधों में कभी नहीं हो सकती है। आवश्यक है कि पुरुष, स्त्री को अपनी बराबरी का दर्जा दे। आत्मकथा के दूसरे भाग 'मुक्त गगन में' में विष्णु

प्रभाकर ने 20वीं शताब्दी के आरंभ से देश और समाज में चल रहे सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों के कारण विचारों में आए परिवर्तन को दर्ज करते हुए आधुनिक निर्माणशील जीवन को भी अंकित किया है। देश विभाजन के समय किस प्रकार स्त्रियों की इज्जत लूटी गई और इज्जत, मर्यादा के नाम पर उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया, विष्णु प्रभाकर ने इन सारी स्थितियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। विभाजन के समय हुए दंगों का जिक्र करते हुए विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "आज कोई विश्वास करेगा कि जब कुछ परिवार चारों ओर से घिर गए, तो उन्होंने अपनी बहू–बेटियों की इज्जत बचाने के लिए उन्हें गोली से उड़ा दिया था। उन्हें रोज खबर मिलती, 'स्त्रियों को नंगा करके उनका जुलूस निकाला गया। सड़क पर खुले आसमान के नीचे उनके साथ बलात्कार किया गया। उनकी छातियां काट ली गईं।"[67] संसार में जब–जब त्रासदी घटी है स्त्री को ही बलिदान का हथियार बनाया गया है।

कश्मीर घाटी में कबायलियों के आक्रमण के समय घाटी की स्त्रियों को लूटा गया, उनका बलात्कार किया गया और इज्जत के नाम पर उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। कश्मीर में हुई इस हिंसा का जिक्र करते हुए विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "सभी लोग उनके डर के कारण अपने–अपने घर छोड़कर भाग गए थे। दुर्भाग्य से एक पिता और उसकी जवान बेटी ऐसा न कर सके। निश्चित था कि कबायली उसकी बेटी को उठा ले जाएंगे। घबराकर वह अपने एक मुस्लिम मित्र की शरण में गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे कोई राह नहीं दिखाई दी। अंत में उसने जहर की शीशी लाकर उस लड़की के पिता को दी और भरे गले से कहा 'काका! और कोई रास्ता नहीं। काश! मैं अपनी जान देकर भी गौरी को बचा पाता... काका! मैं उसे नहीं बचा सकता लेकिन उसे बेइज्जत होते हुए भी नहीं देख सकता। इज्जत जिंदगी से बहुत कीमती होती है, बहुत कीमती...' और अंततः पिता अपने हाथों से अपनी बेटी को मौत की गोद में सुला देता है ...।"[68] यहाँ स्त्री के जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है मर्यादा का प्रश्न। यह कैसा समाज है जहां इज्जत और आबरू के नाम पर सृष्टि को जन्म देने वाली स्त्री को अपने ही जीवन की कुर्बानी देनी पड़ती है?

समाज द्वारा अच्छी स्त्री की शिनाख्त उसके द्वारा पुत्र पैदा करने से तय होती है। स्त्री जन्मदात्री है लेकिन वंश पुरुष के नाम पर चलता है और पुत्र ही वंशधर कहलाता है। पितृसत्ता ने स्त्री के संस्कारों में यह शामिल किया है कि वह पुरुष की माँ बने जबकि वह स्वयं एक 'स्त्री' रूप में जन्मी है। समाज में व्याप्त पुत्र–पुत्री के इसी भेद को उठाते हुए विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "मुझे खूब याद है जब

दर्द शुरू हुए तो वह (पत्नी) चुपचाप मेरे पास आई, धीरे से बोली – 'इस बार भी बेटा आ रहा है।' मैंने पूछा, 'तुम्हें कैसे पता।' सफेद रंग का पानी आ रहा है।' सारी प्रगतिशीलता के दावे के बावजूद यह पुत्र की चाह हमारे संस्कारों के माँस–मज्जा में ऐसी पैबस्त हो गई है कि इससे मुक्ति नहीं मिल पाती।"[69] आज 21वीं सदी में भी पुत्र के जन्म पर ढोल–नगाड़ों के साथ खुशी मनाई जाती है, वहीं पुत्री के जन्म को शोक में तब्दील कर दिया जाता है।

आत्मकथा के तीसरे भाग 'और पंछी उड़ गया' में विष्णु प्रभाकर ने असम प्रदेश की 'खांसी' जनजाति के मातृमूलक समाज का वर्णन किया है। एक ऐसा समाज जहां नारी निर्णय, अधिकार, सेक्स... के मामले में सभी ओर से स्वतंत्र है। यहाँ पितृसत्ता के बनाए नियम–कानूनों की बनी इमारतें ढहकर गिर जाती हैं। स्त्री के मामले में यह समाज सभी वर्जनाओं से मुक्त है। यह एक सुखद और आश्चर्य का विषय है कि जहां एक ओर स्त्री परतंत्रता की बेड़ियों में बंधी हुई है वहीं दूसरी और 'खांसी' जनजाति के इस मातृमूलक समाज में नारी अपने जीवन जीने के पैमाने खुद तय करती है। विष्णु प्रभाकर लिखते हैं, "यहाँ 'खासी' जाति का प्रभुत्व है। वह मातृमूलक समाज है। नारी का वर्चस्व है। पति पैसे के लिए पत्नी के आगे हाथ फैलाता है और पत्नी स्वामिनी की तरह से सबकुछ सहेजती है। काफी मुक्त समाज है यहाँ...।"[70] खासी जनजाति के एक परिवार में जाने के अपने अनुभव का जिक्र करते हुए विष्णु प्रभाकर लिखते हैं "वह चाहता है कि मैं हर वक्त उसकी चारपाई की पट्टी पर सिर रखे बैठी रहूं। बताइए यह कैसे हो सकता है। मुझे और भी तो कितने काम हैं।"[71] यह खासी नारी की मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता है। यहाँ वह पति की दासी न होकर अपना पृथक स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। यह सच है कि सामाजिक विधि–विधान ही मनुष्य को स्त्री और पुरुष की श्रेणी में विभक्त कर सौतेला व्यवहार करते हैं।

आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करते हैं। स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैये की उन्हें अच्छी समझ है। 'कूपे' एकांकी की पात्र 'सांत्वना' के माध्यम से वह लिखते हैं "मर्द है तो उसे औरत चाहिए ही। मर्द तेज पुंज है औरत तेज को झेलनेवाली है। यह दलीलें अब बासी हो चुकी हैं। तुम्हारे जैसे चटोरे व्यक्तियों का विद्रोह नारी के पाशविक उपभोग तक ही सीमित रह गया है। तुम्हारे लिए नारी एक वेश्या है।"[72]

तुलसीराम की आत्मकथा दो भागों में है। इसके पहले भाग 'मुर्दहिया; में तुलसीराम ने स्त्री–जीवन की विभिन्न समस्याओं विधवा जीवन, विवाह से पूर्व हुए यौन संबंधों में स्त्री के दोहरे शोषण, जाति के नाम पर स्त्री का शोषण, सतीप्रथा,

वेश्यावृत्ति आदि का अंकन करते हुए इसे स्त्री जीवन की त्रासदी बताया है। धर्म और संस्कृति ने सिर से लेकर पैर तक संपूर्ण स्त्री–शरीर के लिए तरह–तरह के नियम निर्धारित किए हैं। देह स्त्री की नियति है। यही देह उसके लिए कभी बेड़ी बनकर सामने आती है तो कभी हथियार और कभी शृंगार। धर्म तय करता है कि स्त्री को कब शृंगार में रहना है और कब साध्वी का जीवन जीना है। समाज कभी उसे 'देवी' बना देता है तो कभी 'डायन'। विधवा जीवन की त्रासदी के विषय में तुलसीराम आत्मकथा में लिखते हैं "पंडिताइन निर्वंश विधवा थीं। उन्हें भी लोग देखना पसंद नहीं करते थे। गाँव भर के लोगों का कहना था कि पंडिताइन का सामना हो जाने से किसी काम में सफलता नहीं मिलेगी।"[73] यह पति मर जाने की सजा के रूप में स्त्री को धर्म द्वारा दिया गया दंड है। सवाल यह उठता है कि मृत्यु और जीवन शाश्वत सत्य की तरह हैं – स्त्री तो सृष्टि को जन्म देती है फिर पुरुष के मरने के दोष के रूप में उसके जीवन को 'कठघरा' क्यों बना दिया जाता है? एक और घटना का जिक्र करते हुए तुलसीराम लिखते हैं "इसके लिए करीब 20 ब्राह्मण युवक दिन के दस बजे ही लाठी–भाले लेकर परसूपुर जाकर उस औरत को जबरन उठा कर गाँव में ले आए।... उस युवती को जानवर की तरह कंधे के ऊपर टांगे हुए लाते देखा था। उसे मिरदंगी के घर में बंद कर दिया गया।"[74] मिरदंगी चालीस वर्ष के कुंवारे व्यक्ति थे। यह पुरुषवर्ग का स्त्री के प्रति क्रूर और अमानवीय व्यवहार है।

जाति के नाम पर होनेवाले छुआछूत के कारण स्त्री को शिक्षा से भी वंचित रहना पड़ता है। ऐसा ही एक प्रसंग आत्मकथा में सामने आया है जब पंडित जी की बेटी आशा की पढ़ाई बंद कराकर उसे घर बैठा दिया गया। उसका अपराध था कि उसने एक दलित पुरुष के सहारे नाला पार किया था। समाज में स्त्री के पिछड़ेपन का मुख्य कारण अशिक्षा है। स्त्री शिक्षा के पक्षधर तुलसीराम आत्मकथा में लिखते हैं "जाहिर है कि शिक्षा से यदि एक 'गुलाम पुत्र' इतना हासिल कर सकता था, तो फिर मालिक पुत्री न जाने कितना आगे जाती? किंतु एकमात्र अदना अफवाह ने उसका सबकुछ छीन लिया और वह अपनी ससुराल में सिर्फ मालकिन बनकर रह गई।"[75] शिक्षित होकर ही स्त्री अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष की दिशा में अग्रसर हो सकती है।

आत्मकथा के दूसरे भाग 'मणिकर्णिका' में तुलसीराम ने धर्म के नाम पर होने वाले स्त्री–शोषण, विधवा जीवन की त्रासदी, सवर्णों द्वारा दलित स्त्री का शोषण आदि समस्याओं के माध्यम से स्त्री जीवन को समझने की एक दृष्टि भी है। धर्म के नाम पर स्त्री की देह को पुरुष द्वारा वासना का शिकार बनाने का वर्णन करते

हुए तुलसीराम लिखते हैं, "ऐसे ही एक साधु थे सुखराम जो अपने को कबीरपंथी बताते थे... सुखराम उस युवती को कृष्ण तथा गोपियों के संबंध के बारे में किस्से कहानियां सुनाकर उसे अपनी तरफ प्रभावित करने की कोशिश करने लगे। एक दिन उन्होंने खुलेआम रति याचना का प्रस्ताव रख दिया...।"[76]

हिंदू धर्म के अनुसार "विधवा जीवन का महत्त्व संयम और त्याग में है। विधवा अपने सुख–दुख को भूलकर, अपनी सुविधा–असुविधा का ख्याल न करे अपनी पूरी शक्ति से अनवरत सेवा करने में तत्पर रहती है। उसकी सेवा का दायरा पति तक ही सीमित नहीं रहता, वह अखिल जगत्पति भगवान् के स्वरुप समस्त जगत् को अपनी पवित्र सेवा से परितृप्त करना चाहती है। वह वैराग्य, त्याग, संयम, सदाचार और सेवा की जीवित मूर्ति है।"[77] विधवा जीवन के इसी संयम और त्याग को एक स्त्री के जीवन का अनिवार्य अंग बना दिया जाता है। यदि वैधव्य के तपस्वी जीवन जीने से ईश्वर की प्राप्ति होती है तो विधुर पुरुषों के लिए ऐसे नियम क्यों नहीं। पितृसत्ता द्वारा निर्धारित विधवा जीवन के नियमों को उजागर करते हुए तुलसीराम लिखते हैं "बनारस के बारे में प्रचलित अवधारणा 'रांड, सांड, सीढ़ी, संन्यासी इनसे बचें तो सेवें कासी', शाम के समय ज्यादा साकार होने लगती थी।... इनमें अधिकतर विधवाएं लोगों के घरों में बर्तन माँजकर अपना गुजारा करती थीं, फिर भी वे 'स्वर्गप्राप्ति' की कामना में वहां रहने पर मजबूर थीं। मैंने स्वयं देखा था एक बुढ़िया विधवा, जो ब्राह्मणी थी, वह अस्सी स्थित मठ में गोरख पांडे समेत अनेक बाशिन्दों के बर्तन धोती थी।"[78] पितृसत्ता ने स्त्री के जीवन को हमेशा से ही दुख और कष्ट में बांधा है।

आत्मकथा एक ऐसा साहित्य रूप है जो आत्म से शुरु होकर परिवार, समाज, राष्ट्र... को भी अपने साथ लेकर चलता है। साहित्य को समाज का आईना कहा जाता है लेकिन लंबे समय तक स्त्रियों को इस आईने में अपना चेहरा देखने से रोका गया। समय के साथ–साथ दुनिया में बदलाव आया लेकिन स्त्रियों की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो तमाम उन्नति और प्रगति के दावे स्त्री के मामले में झूठे साबित होते हैं। आज भी स्त्री को घर की चारदीवारी में कैद करने की मानसिकता कायम है। आज भी 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' जैसी अवधारणाएं उसे स्वतंत्र सोच और व्यक्तित्व से परहेज करना सिखाती हैं। शिक्षित और आत्मनिर्भर होकर भी स्त्री दोहरे जीवन को जीने के लिए विवश है। एक ओर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का सपना और दूसरी ओर नैतिकता, मर्यादा पालन के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था का दबाव। संवैधानिक दृष्टि से भले ही स्त्री–पुरुष बराबर हैं लेकिन इन अधिकारों को वास्तविक जीवन में लागू करने के लिए अभी

एक लंबे संघर्ष की आवश्यकता है। व्यवस्था में व्याप्त अंतर्विरोधों को परिवर्तित कर समानता लाना आज की स्त्री का लक्ष्य है।

आत्मकथा जीवन का ब्यौरा है। व्यक्ति के जीवन में बनने–बिगड़ने वाले संबंधों का जिक्र हम आत्मकथा में पाते हैं। स्त्री के बिना पुरुष के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जाहिर है जब स्त्रियां पुरुषों के वास्तविक जीवन में आदि से अंत तक मौजूद रहती हैं तो आत्मकथा में उनकी उपस्थिति स्वाभाविक है। स्त्री जिस समाज में पैदा होती है, उस समाज के नियम–कानून, रीति–रिवाज, परंपरा, संस्कृति, संस्कार आदि उसके व्यक्तित्व को गढ़ते हैं। धर्म, परंपरा, समाज और संस्कृति ने स्त्री को वास्तविक जीवन में कितना और किस हद तक प्रभावित किया है, इसे समझने के लिए आत्मकथाएं महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुष आत्मकथाकारों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा निर्धारित स्त्री के जीवन को अभिव्यक्ति तो दी है लेकिन व्यवस्था से मुक्ति के प्रयास हमें इन आत्मकथाओं में नहीं मिलते हैं। कुछ लेखकों को स्त्री विरोधी संस्कारों और व्यवस्था के दोषपूर्ण व्यवहार की अच्छी समझ है, बावजूद इसके वे इसे वास्तविक जीवन में अमल करने से कोसों दूर हैं।

लेखक से यह आशा की जाती है कि वह समाज के सच को सामने लाए। स्त्री भी उसी समाज का हिस्सा है। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पितृसत्ता द्वारा उपेक्षित स्त्री की अवहेलना की एक धुंधली झलक मिलती है लेकिन उस अवहेलना के कारणों को जानने, परखने और उनसे मुक्ति दिलाने की कोशिशें बहुत कम हुई हैं। इन आत्मकथाओं में समाज के मूल्यों, संस्कारों के प्रति आत्मकथाकारों का वास्तविक दृष्टिकोण सामने नहीं आ पाया है। कई बार पुरुष आत्मकथाकार पितृसत्तात्मक व्यवस्था में शोषित स्त्री को तो दर्शाते हैं लेकिन स्वयं अपने ही घर–परिवार की स्त्री की दशा और दिशा का चित्र दिखाने के नाम पर मुंह फेर लेते हैं। जिस व्यवस्था के कारण स्त्री को कदम–कदम पर अपमानित किया जाता है और उसके जीवन को बेड़ियों में बांधा जाता है, उस व्यवस्था का कड़ा प्रतिरोध हमें पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में नहीं मिलता है। स्त्रियों की स्थिति को दयनीय देखकर उसका सहानुभूतिपूर्ण चित्रण तो इन पुरुष आत्मकथाकारों ने किया है लेकिन उस स्थिति के मूल कारणों को जानने की कोशिश नहीं की है। जीवनभर पितृसत्ता को ढ़ोने वाली स्त्रियों के अस्तित्व को तलाशने की कोशिश किसी भी पुरुष आत्मकथाकार ने नहीं की है।

(ख) स्त्रियों के विविध रूप : माँ, बहन, पत्नी, प्रेमिका, बेटी और बहू

पुरुषों की निगाह से स्त्री जीवन को परखना अक्सर कठिन हो जाता है। पुरुषों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि वह स्त्री को रिश्तों की जानिब परखता है। उसकी इस दृष्टि को संस्कारित करने में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सत्ता संरचना के अनुसार समाज में स्त्री की हैसियत तय होती है। मातृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों को बंधन या दबाव में रखना संभव नहीं है। वहीं पितृसत्ता में सारी की सारी व्यवस्था पुरुष की सुविधा से स्त्री की भूमिका तय करती है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के विभिन्न रूप की कंडिशनिंग पुरुष अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार करता है। जो मानसिकता औरत, भैंस और बच्चों का मुँह लगातार चलते रहना देखना चाहती है वह निःसंदेह उनकी इच्छाओं को अपने अनुसार ढ़ाल देने की मंशा भी रखती है।

अक्सर स्त्री पर या तो उदात्त गुण आरोपित कर उन्हें मनुष्य के ऊपर उठा दिया जाता है या उन्हें ही पतन का कारण बताकर सामान्य मनुष्यता की कोटि से भी नीचे धकेल दिया जाता है। पितृसत्ता देवी या दासी बनने के विकल्पों के बीच उन्हें मानुषी बनने का अवसर ही नहीं देना चाहती। कदाचित विष्णु प्रभाकर ने 'पंखहीन' में सत्ता संरचना की इसी पुरुषवादी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए यह लिखा है "नारी की तुलना धरती से इसीलिए तो की गई है। बड़े प्रेम और आदर के साथ पुरुष ने धरती के सारे गुण नारी पर आरोपित किए हैं... धरती सहिष्णु है, अन्नपूर्णा है, वह विद्रोह कर ही नहीं सकती। ये प्रश्न धीरे–धीरे मेरे किशोर मन को परेशान करते आ रहे हैं। प्रारंभ में उनकी कोई स्पष्ट रुपरेखा नहीं थी पर जैसे–जैसे प्रबुद्ध होता गया और बाहरी संसार के संसर्ग में बढ़ता गया वैसे–वैसे मेरी दृष्टि स्पष्ट होती गई।"[79] वास्तविकता यह है कि नारी को भय और घृणा के साथ देखा जाता है। पुरुष हमेशा से नारी की स्वतंत्र सत्ता से भयभीत होता रहा है इसलिए इस स्वतंत्रता को ही उसने अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया। अपनी संपूर्णता में स्त्री अजेय है। पुरुष ने ही उसकी स्वच्छन्दता को काबू में कर उसे परतंत्र बनाने का काम किया है। तभी सीमोन द बोउवा कहती हैं कि स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।

स्त्री विभिन्न रिश्तों के माध्यम से पुरुष से बंधी हुई है। रिश्तों में ढ़लने की अनिवार्य मान्यता के कारण अपने स्वयं के जीवन पर भी उसका अपना अधिकार नहीं होता है। "स्त्री का न अपना घर है, न परिवार, न नाम है न पहचान, न उसकी कोई जाति है, न धर्म, न उसकी भाषा अपनी है, न भूषा – उसे सब कुछ पुरुष ने

ही दिए हैं – अगर वह इस सब को अस्वीकार कर दे तो उसका अपना कहने को कुछ भी नहीं है, 'अपना कुछ ना होने' की कचोट उसे संचय लिप्त बनाती है। वह सबकुछ को समेटे रखना चाहती है क्योंकि जानती है कि उसका कुछ नहीं है। मगर यहीं से उसकी शक्ति का अन्वेषण शुरू होता है। वह सच्चे अर्थों में सर्वहारा है, गुलामी के सिवा उसके पास कुछ भी खोने के लिए नहीं है। वह एक निर्विशेष, निरूपाधि नंग–निहंग ऐसी इकाई है जिसे शुद्ध 'मानवी' कहा जा सकता है, इसीलिए वह ऐसी बहती नदी है जिसके पानी को किसी भी पात्र में डाला जाए, वह अपने पात्र के नाम से ही जानी जाती है।"[80] धर्म के अनुसार भी स्त्री अपने सभी रूपों में (पुत्री, पत्नी, माँ...) पुरुष द्वारा संरक्षित होनी चाहिए। माना यह जाता है कि स्त्री को आजादी गुमराह कर देती है। वास्तविकता यह है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते' स्त्री को बहलाने–फुसलाने का साधन भर है। छल भरी ये मान्यताएं स्त्री को कभी पूज्य नहीं बना सकतीं। अपने निश्चल और निष्क्रिय रूप में ही स्त्री इस समाज द्वारा वंदनीय है। समाज द्वारा पूज्यनीय माँ वही स्त्री कही जाती है जो किसी पुरुष की पत्नी हो। कुंवारी स्त्री यदि संतान को जन्म देती है तो समाज उसे व्यभिचारिणी बना देता है। स्त्री हर अवस्था और हर आयु में जब तक वैध रूप से पुरुष के साथ रिश्ते में बंधी होती है तभी तक वह समाज द्वारा सम्मान की पात्र है।

'जो मैंने जिया' में माँ का वर्णन करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "सौ रुपए महीने माँ को भेजता था इसलिए वेतन के एक सौ पिचहत्तर बचते थे।"[82] यह पुत्र द्वारा माँ को संरक्षण के तौर पर गुजारा भत्ता देने की मानसिकता की ओर संकेत है। पुरुष मानसिकता को दर्शाती यह पंक्ति लेखक द्वारा स्वयं को एक अच्छे पुत्र के रुप में प्रमाणित करने की प्रवृत्ति की ओर भी इशारा करती है। आत्मकथा के दूसरे भाग 'जो मैंने जिया' में कमलेश्वर ने अपनी माँ को कुछ इस तरह याद किया है "दिल्ली में जो कुछ तुम देखते हो, जो भौतिक ऐश्वर्य तुम्हें दिखाई देता है और जिस तक तुम नहीं पहुंच पाते, वह तुम्हें विचलित करता होगा। मैं जानती हूँ मेरे बेटे! तुम ईर्ष्या–द्वेष से मुक्त हो, पर महानगर के माहौल में जरूरतें अपने आप बढ़ जाती हैं... वे जरूरतें पूरी नहीं होती हैं तो तुम तिक्तता महसूस करोगे ही। अपने घर और जन्म स्थान के पेड़ों के पास यहाँ के पेड़ों से ज्यादा छाया है। सूरज यहाँ भी तपता है। वहाँ भी तपता है, पर वहाँ की कच्ची सड़कें फिर भी तुम्हें ज्यादा ठंडक देंगी... यहाँ तुम अपनी लाचारी और बेकारी के आंतरिक अपमानों के खौलते पानी में नहाते हो... वहाँ तुम अपने पसीने में नहाओगे।"[82] यह बात कमलेश्वर के संघर्ष के दिनों की है जब वे स्थायी काम की तलाश में दर–दर भटक रहे थे। इस प्रसंग को पढ़ने के बाद यह संदेह होता है कि यह एक माँ का कथन है या लेखक की आत्ममुग्धता? सच्चाई जो भी हो प्रसंग के आधार पर कमलेश्वर की माँ की जो

छवि उभरती है वह निश्चित ही बड़ी उदात्त है। अपने बेटे की मानसिक व्यथा और श्रम पर ऐसी टिप्पणी एक माँ ही कर सकती है। संभवत इसीलिए कमलेश्वर ने आत्मकथा के इस खंड में अपनी माँ को बार–बार याद किया है। आर्थिक संकट के समय माँ का अपने पुत्र के साथ रहना स्त्री के त्याग को दर्शाता है "खाने–पीने की किल्लत के कारण मेरा परिवार इलाहाबाद लौट गया था। सिर्फ अम्मा नहीं गई थीं, उन्होंने इस तकलीफ भरे दिनों में मेरे साथ रहना ही मुनासिब समझा था।"[83] तमाम कष्ट सहने के बावजूद पुत्र के साथ खड़े होने की उम्मीद माँ से ही की जा सकती है।

एक स्त्री के साथ वैध–अवैध का प्रश्न जीवनभर उसे घेरे रहता है। आत्मकथा में ऐसा ही एक प्रसंग सामने आया है जब 'देशी' नाम की महिला विवाह से पूर्व माँ बन जाती है। समाज विवाह से पूर्व जन्मी संतान को 'नाजायज' मानता है। निःसंदेह संतान की वैधता–अवैधता पितृसत्तात्मक व्यवस्था तय करती है। यही कारण है कि बिन ब्याही माँ ('देशी') न जाने कितनी संतानों की बलि दे देती है। स्त्री के 'माँ' रूप को भारतीय सभ्यता की सबसे बड़ी शक्ति बताते हुए कमलेश्वर ने लिखा है... "इस सभ्यता ने माँ की कोख से जन्मे जीवन और अनुभव की कोख से जन्मे सत्य को ही स्वीकारा है... यही इसकी शक्ति है और जीवित रहने का रहस्य है!"[84]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में माँ के विषय में लिखा है "मेरी माँ इन सब मेहनत–मजदूरियों के साथ–साथ आठ–दस तगाओं (हिंदू मुसलमान) के घर तथा घेर (मर्दों की बैठकखाना तथा मवेशियों को बाँधने की जगह) में साफ–सफाई का काम करती थी। इस काम में मेरी बहन, बड़ी भाभी तथा जसबीर और जनेसर (दो भाई) माँ का हाथ बँटाते थे।"[85] अपने शिक्षित होने का श्रेय वाल्मीकि अपनी माँ को देते हैं। स्वयं काम कर अपने पुत्र को चूहड़ों वाले काम से दूर रखने और पुत्र द्वारा अपनी अलग पहचान बनाने के लिए वाल्मीकि की माँ संघर्षरत दिखाई देती है।

'अपने–अपने पिंजरे', भाग–1 में मोहनदास नैमिशराय ने अपनी माँ को याद करते हुए लिखा है "मेरे जन्म के चंद बरस बाद माँ नहीं रही थी। वह राख और मिट्टी में बदल गई थी। बस्ती में कुछ औरतें मुझे 'बिन माँ का बच्चा' कहकर पुकारती थीं।"[86] माँ के गुजर जाने के बाद ताई ने मोहनदास को पाला था। ताई के विषय में मोहनदास लिखते हैं कि ताई माँ ने अनाथ होने से बचा लिया। 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–2 में पिता द्वारा दूसरी शादी करने पर मोहनदास ने अपनी सौतेली माँ के बारे में लिखा है। 'सौतेली माँ' शब्द ने हमारे समाज में स्त्री की एक नकारात्मक परिभाषा का निर्माण किया है। माँ जितना ही श्रद्धा का विषय

होती है, 'सौतेली माँ' समाज में उतनी ही अनादर का विषय बना दी गई है? भले ही उसका व्यवहार माँ जैसा ही क्यों ना हो। नैमिशराय का अनुभव अपनी सौतेली माँ के साथ बहुत अच्छा रहा जिसका जिक्र उन्होंने बहुत ही ईमानदारी से किया है। एक प्रसंग देखें – "नई माँ का व्यवहार मेरे प्रति बुरा नहीं था। बल्कि अच्छा ही था। वह उन सौतेली माँओ में हर्गिज न थी जिनके गलत व्यवहार के किस्से कहानियां हम अक्सर सुनते रहते थे। कुछ दिनों बाद उसकी कोख भी हरी हो गई थी। उसे भी अच्छा लगा और हमें भी। घर में और कोई बच्चा तो था नहीं। मेरी बहनों का विवाह पहले ही हो गया था। पिता ऑफिस से आ कर पूजा–पाठ में व्यस्त रहते या निन्यानवें के चक्कर में फंसे रहते। उनके भीतर और पैसा कमाने की धुन रहती। हालांकि इस धुन या जुनून ने उन्हें बाद के दिनों में फटेहाल जिंदगी जीने पर विवश भी किया था।"[87] लेखक ने पिता के बरक्स सौतेली माँ को ज्यादा तवज्जो दी है।

अशोक वाजपेयी ने अपनी आत्मकथा 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' में माँ की धार्मिक प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है "दिदिया कुल मिलाकर 'रामचरितमानस' की पूजा रोज करती थीं... माँ धार्मिक थीं लेकिन अपनी आस्था दूसरों पर थोपने में उनकी दिलचस्पी नहीं थी।... दिदिया (माँ को हम यही कहते थे) गहरी धार्मिक आस्था की व्यक्ति थीं और पता नहीं सप्ताह के कितने दिन किसी न किसी देवता के बहाने और किसी न किसी के लिए उपवास रखती थीं।"[88] संतान पर माँ के संस्कारों, आचार–व्यवहार का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। माँ की पुस्तक–पूजा नें अशोक बाजपेयी के मन में पुस्तकों के प्रति एक गहरी आस्था पैदा करने का काम किया। अपने कविता लेखन का पूरा श्रेय अशोक बाजपेयी अपनी माँ को देते हैं। इतिहास में स्त्री के मांसल सौन्दर्य के वर्णन की परंपरा रही है लेकिन एक माँ का शारीरिक सौंदर्य समाज को अश्लील और आपत्तिजनक लगता है। समाज द्वारा 'माँ' की मान्यता एक ऐसी स्त्री के रूप में होती है जिसका अपनी संतान से अलग कोई अस्तित्व नहीं। प्रश्न यह उठता है कि अपने यौवन रुप में स्त्री का सौंदर्य आकर्षक लग सकता है तो 'माँ' के रूप में क्यों नहीं? आत्मकथा में अशोक वाजपेयी ने ऐसे ही एक प्रसंग को उद्घाटित करते हुए लिखा है "1959 के अंत में मेरी माँ आसन्नप्रसवा थी और मेरा सबसे छोटा भाई उदयन होने जा रहा था। मुझे वह विलक्षण लगी और मैंने एक कविता लिखी.... विश्वविद्यालय के साहित्यिक हलकों में इस कविता को लेकर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अपनी माँ को आसन्नप्रसवा कहने से लेकर उसके सौंदर्य का बखान सभी पर आपत्ति थी।"[89] समाज द्वारा प्रेमिका के रूप में सौंदर्य का वर्णन तो मान्य है लेकिन माँ या बेटी के रूप में स्त्री के सौंदर्य को कर्त्तव्यपालन से इतर नहीं देखा जाता।

पिता की अपेक्षा माँ से अत्यधिक लगाव के कारण अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के माध्यम से माँ का अनेक बार वर्णन किया है। आत्मकथा में अशोक वाजपेयी ने लिखा है "... मेरा पिता से जिन्हें हम लोग काका कहते थे – संबंध कुछ भय, कुछ दूरी, कुछ घृणा का था, वह मुझे बहुत चाहते थे और उन्होंने मुझे आजादी और स्वाभिमान से सब कुछ करने की आजादी और साधन भी दिए। पर उनके मेरी माँ के साथ संबंध अच्छे नहीं थे जबकि मैं बहुत अधिक अपनी माँ का बेटा रहा हूँ।"[90] माँ से बेहद लगाव के कारण अशोक वाजपेयी ने 'माँ' पर अनेक कविताएं लिखीं जबकि 'पिता' पर मात्र एक कविता। कभी माँ के सौंदर्य को ऋतुओं से जोड़ना और कभी स्वयं को माँ से दूर पाकर दुःखी होना, लेखक के अपनी माँ से आत्मीय संबंधों को दर्शाता है।

भगवतीचरण वर्मा ने भी अपनी आत्मकथा 'कहि न जाए का कहिए' में अपनी माँ की कुल परंपरा को अपने पिता की कुल परंपरा से ज्यादा तवज्जो दी है। हमारे समाज में संतान पर पिता के गुणों का आरोपण किया जाता है लेकिन भगवतीचरण वर्मा द्वारा पैतृक कुल–परंपरा के बरक्स माता की कुल–परंपरा को अपने से ज्यादा जुड़ा बताना लेखक की ईमानदार अभिव्यक्ति है। आत्मकथा में भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं कि पैतृक परंपरा का तो उन्हें पूरा–पूरा ज्ञान भी नहीं है। अपनी माँ को प्रेरणास्रोत बताते हुए भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं "मैं अपनी माता को किसी हालत में गलत नहीं कह सकता। लेकिन मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि उनमें कल्पना की प्रचुरता थी और अतिशयोक्ति में वह सिद्धहस्त थीं। मेरी पैतृक परंपरा में किस्सागोई का गुण मुझे आज तक ढूंढे नहीं मिला। हां, अपनी माता के परिवार में किस्सागोई की कला और कल्पना के दर्शन प्रचुर रूप में मुझे हुए हैं... तो मुझे लगता है कि कला मुझे मिली है अपनी माता की कुल परंपरा से...।"[91] भगवतीचरण वर्मा जी का यह लेखन पितृसत्ता के बरक्स मातृसत्ता का खुला स्वीकार है जिसे उन्होंने अपने साहित्यकार रूप से पुख्ता किया है। भगवतीचरण वर्मा आगे लिखते हैं "मेरी माता एक तरह से विश्वासी, एक तरह से अविश्वासी! परम्परा के अनुसार व्रत–त्योहार वह सब–कुछ मानती थीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि उन्हें इन सब में कोई आस्था नहीं थी...।"[92] सबकुछ मानते हुए भी न मानने की बात को वर्मा जी ने अपनी माँ की विशिष्टता के रूप में इंगित किया है। भगवतीचरण वर्मा अपने उपन्यास लेखन में भी आगे जिस तरह पाप–पुण्य, आस्तिकता और नास्तिकता के जिन प्रश्नों से जूझते हैं वह उन पर माँ की इस दुविधापूर्ण स्थिति का ही प्रभाव है। लेखक के अंदर स्वाभिमान की भावना भी माँ से प्रभावित होने के ही फलस्वरुप है। यही अहं लेखक को विपत्तियों से लड़ने का हौसला देता है।

राजेंद्र यादव की आत्मकथा 'मुड– मुड़के देखता हूँ' में लेखक की माँ पूरी तरह से अनुपस्थित है। सूरजपाल चौहान अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में अपनी माँ के विषय में लिखते हैं "माँ, जिसे मैं और छोटा रगबर जीजी कहकर पुकारते थे, मोहल्लों की सफाई का कार्य करती थी। इस काम के बदले में बसीठों (सवर्णों) के घरों से एक–एक रोटी ही मिलती थी। किसी घर से गौंचना, किसी से बेझर और किसी–किसी घर से मटरे की।"[93] सफाई के बदले मिले जूठन पर अपने बच्चों को पालना एक माँ के लिए बहुत कष्टमय है। सूरजपाल चौहान ने आत्मकथा के दूसरे भाग 'संतप्त' में माँ की मृत्यु के बाद पिता द्वारा उपेक्षित होने के प्रसंग में लिखा है कि पिता के लिए अपनी संतान (सूरजपाल चौहान) की देखभाल से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था किसी अन्य स्त्री के साथ अंतरंग क्षण व्यतीत करना। यह सच है कि बिन माँ का बच्चा अनाथ होता है। आत्मकथा में माँ से बेहद आत्मीयता व्यक्त करते हुए सूरजपाल चौहान लिखते हैं "बिन माँ के बच्चे की कितनी दुर्दशा होती है, यह तो मैं ही अच्छी तरह से समझ और जान सकता हूँ। एक दौर तो ऐसा भी आया कि मैं पास–पड़ोस के घरों में घुसकर रोटी चुराकर अपनी भूख को शांत करता।"[94] माँ का जीवन ही लेखक को संघर्ष के दिनों में प्रेरणा देने का काम करता रहा। गाँव के दलित जीवन से लेकर दिल्ली में सरकारी नौकरी में कार्यरत होने तक के सफर में माँ पूरे जीवन भर लेखक के लिए प्रेरणास्रोत का काम करती रही।

विष्णु प्रभाकर अपनी आत्मकथा 'पंखहीन' में स्त्री के मातृरूप को सबसे बेहतर रूप में उभारते हैं। उनका लेखन इस प्रसंग में नितांत भावुक और संवेदनशीलता से ओतप्रोत है। उनका मानना है कि 'मां प्रभु के समकक्ष होती है। प्रभु स्वयं पृथ्वी पर नहीं आ सकते इसीलिए उन्होंने माँ को भेजा है।' उन्होंने आगे लिखा है "इस प्रकार मध्य वित्त गृहस्थ की दृष्टि से सब कुछ वैभव संपन्न था। कमी बस एक वस्तु की थी वही एक वस्तु वैभव के अभाव में भी जीवन को रससिक्त करती है। वह एक वस्तु है 'माँ का प्यार'। 'माँ की मार' भी प्यार से प्लावित रहती है। भाभी का प्यार भी पीड़ा से भर देता है। इसका कारण यह है कि माँ अपने प्यार में स्वयं भी रहती है, भाभी का प्यार मात्र प्यार होता है, भाभी नहीं होती उसमें। यहाँ भाभी प्रतीक है माँ से इतर रिश्तो की। निर्वैयक्तिक प्यार दुर्लभ वस्तु है। कथा शिल्पी शरत ने अपने साहित्य में इस प्रेम को अमर कर दिया है। माँ वही होती है जो दूसरे के जाए को भी प्यार करती है। शेष तो अपने जाए को प्यार करने वाली जननियां होती हैं। भाभी माँ नहीं थी जननी थी। माँ होना दुर्लभ है। शास्त्र कहते हैं कि माँ प्रभु के समकक्ष होती है। प्रभु स्वयं पृथ्वी पर नहीं आ सकते इसीलिए उन्होंने माँ को भेजा है।"[95] विष्णु प्रभाकर की माँ शिक्षित होने के साथ ही जागरुक भी थीं। वह अपने जीवन और भविष्य निर्माण का पूरा श्रेय अपनी माँ को

देते हैं। पिता उनके लिए निमित्त मात्र थे। परिवार को हर रूढ़िवाद से बचाकर पुनर्निर्माण कर अपनी संतान के लिए सर्वस्व दान की कामना एक माँ से ही की जा सकती है।

अपनी संतान को हर दुख से दूर कर सुख न्योछावर करने की कामना हरेक माँ की होती है। ऐसे ही एक प्रसंग में तुलसीराम अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में लिखते हैं, "... सबसे मजेदार बात तो यह थी कि दीवाली का त्यौहार आने पर मेरी माँ परंपरा के अनुसार अनाज पछोरने वाले सूप को एक लकड़ी से भद भद पीटते हुए रात की अंतिम घड़ी में घर के एक–एक कोने में जाती और साथ में जोर–जोर से अर्धगायन शैली में 'सूप पीटते दरिद्दर खेदो' का जाप भी करती रहती। गाँव की अन्य महिलाएं भी ऐसा करती थीं, किंतु कोई घर से दरिद्रता भगा पाने में कभी सफल नहीं हुई।[96] माँ को मजदूरी करते देख कर तुलसीराम के मन में एक अपराध–बोध का भाव जाग जाता था।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्री के अन्य रूप बहिन, बहू,... पूरी तरह से अनुपस्थित हैं। कुछेक आत्मकथाओं में बेटी का वर्णन अवश्य मिलता है। अमृतलाल नागर ने अपनी आत्मकथा 'टुकड़े टुकड़े दास्तान' में बेटी के नाम का जिक्र भर किया है। अचला और आरती उनकी दो बेटियां थीं। कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा 'यादों के चिराग' में मोहन राकेश के साथ अपनी बेटी मानू के संबंधों का जिक्र करते हुए लिखा है "शाम को मानू दुपट्टा डालकर बाल्कनी पर कोहनी की टेक लगाकर खड़ी हो जाया करती थी। मैं भी अकेला खड़ा मानू को उदासी से देखा करता था... यहीं इसी छोटे से बारजे पर राकेश और छोटी–सी मानू की अपनी बातें होती थीं...

... क्या देख रही है मानू? राकेश ने पूछा था।

... शाम देख रही हूँ। मानू ने उसे भोला–सा उत्तर दे दिया था। यह भी सच है कि राकेश और मानू में बहुत बातें होती थीं। कभी–कभी तो बहुत जमकर बातें होती थीं। वह एक दोस्त और बच्चे की तरह देर–देर तक मानू से बातें करता रहता था। इसके बाद राकेश मुंबई चला गया था और कई महीने बाद लौटा था तो न्यू राजेंद्र नगर में रहने लगा था। राकेश के चले जाने से मानू नितांत अकेली हो गई थी।"[97] बेटी मानू जो राजेंद्र प्लेस के उनके मकान की मुंडेर पर 'दुपट्टा डालकर' खड़ी रहती। बेटी जो वयःसंधि पर शाम निहारा करती। बेटी जो मोहन राकेश के साथ दोस्तों की तरह घंटों तक बातें किया करती। बेटी जो राकेश के मुंबई जाने पर उदास रहने लगती लगी थी। स्त्री–पुरुष संबंधों को देह के उत्सव की तरह देखने वाले कमलेश्वर ने बेटी का प्रसंग आने पर दुपट्टा डालने से लेकर उदास

रहने तक जितना बताया है उससे ज्यादा छिपा लिया है। मानू एक ऐसी बेटी जो अपने पिता की प्रेमिकाओं का पूरा हिसाब रखती और जरूरत पड़ने पर पिता से बातें भी करवाती है। अपने पिता की हर खबर से मानू वाकिफ थी। यह बेटी और पिता का सहज दोस्ताना संबंध है जहाँ पिता–पुत्री के बीच मर्यादा आड़े नहीं आती। जीवन के हर मुद्दे पर बातचीत करने की स्वीकृति वहाँ है। नैतिकता के दायरे से परे बेटी के साथ एक दोस्त की तरह व्यवहार करना स्त्री के संदर्भ में एक नए संस्कार को सामने लाता है।

चूंकि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कोई संतान नहीं थी इसलिए उनकी आत्मकथा में बेटी का कोई जिक्र नहीं आया है। बहन का जिक्र करते हुए लेखक ने आत्मकथा में लिखा है कि गरीबी और धनाभाव के कारण बहन को शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। भारतीय समाज में बेटे की सुख–सुविधा के लिए बेटी के उत्सर्ग और त्याग की परंपरा रही है। वाल्मीकि जी की शिक्षा हेतु बहन को माँ के साथ सफाई का काम करने के लिए विवश होना पड़ा।

'अपने–अपने पिंजरे', भाग–1 में मोहनदास नैमिशराय ने 'भाभी' का जिक्र करते हुए लिखा है "भाभी मुझसे और मैं भाभी से खूब हिल मिल गया था। वह मुझे बात–बात पर छेड़ती थी। गुस्सा आने पर मैं उसकी पिटाई लगा देता।"[98] भाभी अर्थात भाई की पत्नी। यह लेखक की पुरुषवादी मानसिकता है जो स्त्री को ताड़न के योग्य मानती है। आत्मकथा में 'बेटी' का वर्णन नहीं मिलता है। 'अपने–अपने पिंजरे', भाग 2 में मोहनदास नैमिशराय ने 'साली' के साथ सहज संबंध को दर्शाते हुए लिखा है कि 'वह पत्नी के अलावा सबकुछ थी।' पत्नी की छोटी बहन को 'साली' कहा जाता है। समाज में 'जीजा–साली' के रिश्ते को एक अलग नजरिए से देखा जाता है।

अशोक वाजपेयी ने अपनी आत्मकथा 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' में बेटी की बाल उम्र का वर्णन करते हुए बेटी पर कविताएं लिखने का जिक्र किया है। इसके अलावा पूरी आत्मकथा में अन्यत्र बेटी का वर्णन नहीं मिलता है। भगवतीचरण वर्मा की आत्मकथा 'कहि न जाय का कहिए' में लेखक द्वारा पहली संतान बेटी के होने का जिक्र मात्र आया है। आत्मकथा में नाम 'शकुन्तला' के अलावा बेटी के साथ एक पिता के संबंध आदि का कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता है।

राजेंद्र यादव ने अपनी आत्मकथा 'मुड़–मुड़के देखता हूँ' में बेटी के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। आत्मकथा में बेटी रचना के पैदा होने का संकेत भर है। संबंधों की एक गहरी समझ होने के बावजूद राजेंद्र यादव आत्मकथा में पिता–पुत्री के संबंधों पर पूरी तरह से पर्दा डाल देते हैं। आत्मकथा में राजेंद्र यादव 'बहिन' के

विषय में लिखते हैं "जिसे बहन कहते थे वह क्रमशः भावना और भावुकता का केंद्र बनने लगती थी। उसे न दोस्त कह सकने की सुविधा थी, न प्रेमिका कहने का साहस। लेकिन संबंधों का स्वरूप यही कुछ बन जाता था।"[99] मध्यवर्गीय संस्कारों की ऐसी बंद मानसिकता जो रिश्तो के तहत संबंधों को स्वीकार नहीं करती है। समाज द्वारा प्रेमी–प्रेमिका के रिश्ते की स्वीकृति न होने के कारण भाई–बहिन के रिश्ते में बंधकर प्रेम और वासना की छूट पा लेना नैतिकता के किस दायरे में आता है? अक्सर ही ऐसे प्रसंग सुनने में आते हैं जहाँ चचेरे भाई–बहिन पाप–पुण्य की सीमाओं से मुक्त होकर प्रेम में लिप्त हो जाते हैं। इसमें दोष युवक–युवती का नहीं है बल्कि समाज की मान्यताओं परंपराओं और मर्यादाओं का है।

सूरजपाल चौहान अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग 'संतप्त' में बेटी के विषय में लिखते हैं कि पत्नी से बिगड़ते संबंधों के दौरान बेटी ने ही जीवन में आगे बढ़ने का हौसला दिया। पत्नी और पुत्र द्वारा साथ छोड़ने के बाद बेटी ही सूरजपाल चौहान को संबल देती है। लेखक के जीवन को दिशा देने में बेटी एक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाती है।

विष्णु प्रभाकर को संतान के रूप में बेटी न होने के कारण उनकी आत्मकथा में बेटी का वर्णन नहीं मिलता है। आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर ने स्त्रियों के विविध रूपों में से एक घरेलू स्त्रियों के जीवन के उन छोटे–छोटे अवसरों पर भी निगाह डाली है जहाँ स्त्री मन की गांठें खुला करती हैं। ऐसे ही एक प्रसंग के हवाले से वे लिखते हैं "एक और अवसर पर घर की स्त्रियों को मैंने ऐसी बातें करते देखा है। उस समय एक व्यक्ति मेरी चाची के मायके से कुछ सामान लेकर आया था। उस व्यक्ति को सब 'मेला' कह रहे थे। बहुत बाद में पता चला, 'मेला' उस व्यक्ति को कहते हैं जो पुरुष होकर भी स्त्रियों के बीच में बैठना और वैसी ही बातें करना पसंद करता है।"[100] 'स्त्रियों के बीच में बैठना और वैसे ही बातें करना' यह एक घोर लैंगिक टिप्पणी है जो पितृसत्तात्मक समाज में धड़ल्ले से प्रैक्टिस की जाती है गोया स्त्रियों के बीच बैठना एक निम्न कोटि का काम है। इस प्रसंग में विष्णु प्रभाकर ने लिखा है 'वर्जनाओं से मुक्त होने का नारियां कोई अवसर नहीं चूकती थी।' एक पुरुष की निगाह ऐसे ही देखती और लिखती है। इसका मतलब है कि भारतीय समाज द्वारा 'परिवार' नामक जिस संस्था को हमेशा से महिमामंडित किया जाता रहा है उसमें स्त्रियों को पुरुषों से खुलकर बात करने, हंसने आदि की आजादी नहीं मिली है तभी तो ऐसे दृश्यों को लेखक द्वारा 'वर्जनाओं से मुक्त होने के अवसर' के रूप में परिभाषित किया जा रहा है।

स्त्रियों के प्रति सकारात्मक और समाज द्वारा स्त्री के प्रति अमानवीय व्यवहार की एक अच्छी समझ के बावजूद तुलसीराम की आत्मकथा में बेटी और पत्नी का कहीं कोई जिक्र नहीं मिलता है।

सामंती समाज में स्त्री को तीन नाम दिए हैं – पत्नी, रखैल और वेश्या। जब स्त्री को पुरुष संरक्षण देने के साथ अपना नाम देकर समाज में स्वीकृति देता है तो वह 'पत्नी' है। जब संरक्षण तो देता है लेकिन अपना नाम नहीं देता तो वह 'रखैल' है। जब न तो संरक्षण और न ही सामाजिक स्वीकृति देता है तो वह 'वेश्या' है। 'पत्नी' पुरुष की यदि निजी संपत्ति है तो 'वेश्या' सार्वजनिक संपत्ति। 'पत्नी' को सामाजिक सम्मान के बदले जीवन भर एक पुरुष के लिए समर्पित रहना होता है। सदियों से चली आ रही परंपरा पुरुषों को संभोग की छूट देती है। सवाल यह उठता है कि जिस प्रकार एक स्त्री जब कई पुरुषों के संभोग के काम आती है तो 'वेश्या' कहलाती है लेकिन उस पुरुष को क्या कहा जाएगा जो कई स्त्रियों के साथ संभोग करता है? समाज द्वारा स्त्री के जीवन को अनेक घेरों में कैद किया जाता रहा है। साहित्य और समाज की सबसे बदनाम औरतें वे कही जाती हैं जिन्होंने अपने तन–मन को अपने स्वामियों तक सीमित न रख अपने अंदर एक इच्छा शक्ति की भावना पैदा की। समाज द्वारा ऐसी स्त्रियाँ कुल्टा, रंडी... के नाम की अधिकारिणी हुईं। वास्तविकता यह है कि न तो 'वेश्या' और न ही 'पत्नी' स्वतंत्र नारी है। जहाँ एक ओर वेश्या को जीविका के लिए अपनी यौन सहमति जताते हुए अनेक पुरुषों का बलात्कार सहना पड़ता है वहीं 'पत्नी' को अपने जीवन के साधन जुटाने के लिए अपनी यौन सहमति न होने के बावजूद एक ही पुरुष का बार–बार बलात्कार सहना पड़ता है।

पुरुष आत्मकथाओं के माध्यम से समाज द्वारा 'पत्नी' की निर्धारित भूमिका को देखना एक प्रकार से पुरुषवर्ग की मानसिकता को सामने लाना है। अमृतलाल नागर अपनी आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में अपनी पत्नी के विषय में लिखते हैं "चौक में प्रतिमा, नागरजी की पत्नी से अधिक बा के नाम से ही सरनाम थीं। उनका अपना व्यक्तित्व था।"[101] पति के व्यक्तित्व से परे 'पत्नी' के पृथक व्यक्तित्व की बात और अगले ही पल पत्नी पर शकी होने का आरोप लेखक की उलझी सोच को सामने लाता है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है "लेकिन प्रतिभा का यह मोहल्ले शाही औरतों का विश्वास कि 'मर्द किसी एक स्त्री से बंधकर रह ही नहीं सकता और इसीलिए मर्द की बातों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए' मेरे और प्रतिभा दोनों के लिए ही अभिशाप बन गया।"[102] परिस्थितियों के संदर्भ में अमृतलाल नागर द्वारा अपनी पत्नी के साथ उसके शक और संदेह को दूर करना चाहिए था। अपनी पत्नी प्रतिभा का विश्वास कि मर्द किसी एक स्त्री से बंधकर नहीं रह सकता नागर जी के द्वारा दूर भी किया जा सकता था जो नहीं किया गया और इसकी परिणति

नागर जी के लिए अभिशाप से भरा जीवन जीने में हो गई। पुरुष स्त्री से हरेक छूट लेना चाहता है जबकि वही पुरुष स्त्री को संदेह के घेरे में बार–बार खड़ा करता रहा है।

कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा के पहले भाग 'जो मैंने जिया' में मोहन राकेश के अपनी पहली पत्नी से संबंध विच्छेद के बाद एक नितांत घरेलू लड़की से विवाह की इच्छा व्यक्त करने के संदर्भ में लिखा है "...वह अब एक पढ़ी–लिखी संभ्रांत औरत की जगह नितांत घरेलू लड़की चाहता था।"[103] यहाँ 'घरेलू लड़की' का अर्थ है तन–मन से पति के प्रति समर्पित स्त्री, सवाल–जवाब न करने वाली स्त्री और पति को ही परमेश्वर मानने वाली स्त्री। आत्मकथा के तीसरे भाग 'जलती हुई नदी' में अपनी पत्नी 'गायत्री के विषय में लेखक ने लिखा है "...उसकी जिंदगी तेज रफ्तार नदी की तरह भागती रही है और यह कितना आश्चर्यजनक है कि तटों की प्रकृति से अलग गायत्री भी भागते हुए तटों की तरह उसकी धार के साथ–साथ हमेशा चलती रही है... कोई बाढ़ आई तो वे तट नाविक होकर धार का हिस्सा बन गए और यही कारण था कि गायत्री उसके जीवन की नदी और डायरी बन गई थी।"[104] एक पति के रुप में पुरुष ऐसी स्त्री चाहता है जो अपनी कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों सहित पति द्वारा बताए नियमों के अनुसार अपने जीवन को संचालित करे। कमलेश्वर अपनी पत्नी को संस्कारशील कहते हैं क्योंकि उनकी पत्नी अपने पति के अन्य स्त्रियों के साथ संबंधों को न तो पति और न ही पति के सचिव से पूछती थी। खामोश कठपुतली है संस्कारी स्त्री। पत्नी के प्रति श्रद्धा और प्रेम का आधार है समर्पण। कमलेश्वर भी अपनी पत्नी से इसी समर्पण की माँग करते हैं। कमलेश्वर की आत्ममुग्धता यहाँ साफ दिखाई देती है। पति की स्त्रियों के प्रति आकर्षण और संबंध बनाने की प्रवृत्ति जानते हुए भी 'पत्नी का पति के प्रति पूर्ण विश्वास है' कहना एक प्रकार से सच पर पर्दा डालने जैसा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में पत्नी चंदा का जिक्र करते हुए लिखा है 'वह कभी मेरे सरनेम को आत्मसात नहीं कर पाई'। विवाह के बाद स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में विलीन कर पति की 'पत्नी' के रूप में जानी जाए। यह पंक्ति वाल्मीकि जी की इसी पुरुष प्रवृत्ति की ओर इशारा करती है। पुरुष सवर्ण हो या दलित, स्त्री के प्रति सभी का नजरिया एक जैसा ही होता है। पत्नी के रूप में सबको एक अदद स्त्री की जरूरत होती है।

सदियों से चली आ रही पत्नी के रूप में स्त्री की भूमिका पर अपनी सहमति जताते हुए मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में लिखते हैं "मैं भी तो पुरुष था।

पितृसत्तात्मक समाज का प्रतीक और वह मातृसत्तात्मक समाज के अभाव में जीनेवाली असहाय, अबला का प्रतीक। इसलिए मेरी डांट–डपट सुनकर भी वह सह लेती थी।"[105] पुरुषवर्ग मानता है कि पत्नी के रूप में आंचल में दूध और आंखों में पानी एक स्त्री की चरम उपलब्धि है। मोहनदास नैमिशराय के अनुसार उनकी पत्नी जीवन में उजाला बनकर नहीं बल्कि अंधेरा बनकर आई थी। मर्द और पति होने के नाते लेखक को अपनी पत्नी को डाँटने–पीटने का भी हक था। परंपरा के इसी सच को अपना समर्थन देते हुए लेखक का पत्नी के प्रति सामंतवादी रवैया आत्मकथा में पूरी तरह से सामने आया है। आत्मकथा में लेखक ने वेश्यावृत्ति की चर्चा करते हुए 'रंडी' शब्द का प्रयोग किया है और लिखा है कि 'वे ग्राहकों को लुभाने, पटाने में लगी होती थी।' उन्होंने आगे लिखा है 'यहाँ के लोग मस्त होते थे और औरतें बिंदास'। समझा जा सकता है कि अगर कोई स्त्री जीवन में पूरी तरह आजाद ख्याल हो और इस आजादी को उसने देह और दिमाग दोनों स्तर पर लागू किया हो तो समाज का अधिकांश तबका उसे 'चरित्रहीन' की संज्ञा से ही नवाजता है।

त्याग की अपेक्षा हमेशा स्त्री से ही की जाती है। यही कारण है कि घर की जिम्मेदारी के चलते अशोक वाजपेयी की पत्नी को कत्थक की कुशल नर्तकी होने के बावजूद विवाह के बाद कत्थक का अभ्यास छोड़ना पड़ता है। अशोक वाजपेयी की अपनी पत्नी से साहित्य और कलाओं के प्रति जोड़ने में पति को पूरी सहूलियत बरतने की उम्मीद भी खरी उतरती है। आत्मकथा के अंत में 'अलक्षित भूमिका' में पत्नी द्वारा सहूलियत बरतने को और स्पष्ट किया जाता है, जब वह लिखते हैं कि पत्नी रश्मि ने बीच में ही उनका बौद्धिक साहचर्य छोड़ दिया। पति जिस संस्कार की माँग पत्नी से करता है, अशोक वाजपेयी की पत्नी भी लेखक के शब्दों में 'अत्यंत संस्कारी परिवार से है।' यह पितृसत्ता की देन है कि एक पुरुष को अपनी पत्नी की इच्छा, अनिच्छा, सोच से कोई मतलब नहीं। सेवा, समर्पण स्त्री के लिए बने हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने अपनी आत्मकथा 'कहि न जाए का कहिए' में अपनी पत्नी के विषय में लिखा है "आज सोच रहा हूँ कि उमा ने स्वयं मिटकर मेरी रक्षा की। अभाव और विवशता का जहर उसने अकेले ही पी लिया। उसने मुझे चिंताओं से मुक्त रखा जिससे मैं अपनी बहिर्मुखी प्रवृतियों में अपना मन बहलाव करता रहूँ। घर में वह अकेली समस्त यातनाएं लेकर घुटती रही।"[106] अपनी पत्नी को 'जीवन की निधि' कहना पुरुषवर्ग की मानसिकता को सामने लाता है। अपने पति के लिए स्वयं को समाप्त करते जाना ऐसा त्याग है जिसके बदले में स्त्री को पूज्य या पवित्रता का अभिनंदन मिलता है। स्त्री का त्याग समाज की रची गई साजिश है, यह बात स्वयं स्त्री भी स्वीकार नहीं करती है। एक स्त्री के सारे गुण सरलता ,निश्छलता, भोलापन, सुंदरता... लेखक की पत्नी में मौजूद है जिसका उल्लेख आत्मकथा में हुआ है।

राजेंद्र यादव ने अपनी आत्मकथा 'मुड़–मुड़के देखता हूँ' में पत्नी को एक आरोपी की तरह सिद्ध करते हुए स्वयं की साफ छवि प्रस्तुत करने की कोशिश की है। आत्मकथा में राजेंद्र यादव ने लिखा है "मन्नू आरोप लगाती है कि मैं जिम्मेदारियों और जिंदगी से भागता हूँ... मन्नू का सबसे बड़ा आरोप–तुरप है कि मैं बेहद निर्णय–दुर्बल हूँ।"[107] पुरुष अपनी पत्नी से पूर्ण समर्पण के साथ स्वयं की स्वतंत्रता का अधिकार भी चाहता है। जब 'मन्नू' जैसी स्त्री पति से अपनी भी स्वतंत्रता की माँग कर बैठती है तो पति द्वारा ही कठघरे में खड़ी कर दी जाती है। पत्नी के सारे आरोपों को खारिज करने के साथ–साथ लेखक स्वयं को पूरी तरह से निर्दोष सिद्ध करने की पूरी कोशिश करता है। आत्मकथा में लेखक ने स्वयं को दीन–हीन दिखाते हुए लिखा है कि 'मैं न तो एक अच्छा पति, न प्रेमी और न एक अच्छा पिता हो पाया लेकिन मैंने अपने आपको भी क्या दिया? रातों की नींद, आंखों की रोशनी, दिमागी शांति सब कुछ अमूर्तनों में झांकता रहा।'

सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा में अपनी पत्नी के विवाहेतर संबंधों का जिक्र करते हुए पत्नी द्वारा स्वयं को छलने के प्रसंगों का वर्णन किया है। यह लेखक का एक तरफा पक्ष है जहाँ पति सारे आरोप पत्नी पर मढ़ता है। सवाल यह उठता है कि आखिर वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिसके कारण उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर किसी दूसरे के साथ संबंध स्थापित करती हैं? लेखक ने आत्मकथा में हर स्थिति पर स्वयं को निरपराधी साबित किया है।

विष्णु प्रभाकर ने अपनी आत्मकथा 'पंखहीन' में लिखा है कि उनकी पत्नी जीवन भर साथ निभाने का वचन लेकर उनके जीवन में आई थीं। एक पुरुष स्त्री से पत्नी रूप में 'मातृत्व' भाव की भी आशा रखता है। आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर अपनी पत्नी में 'माँ' के समान हर विषम परिस्थिति में साथ देने वाली स्त्री के रूप को देखते हैं। पति की दृष्टि में पत्नी वह जो पति को कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतंत्रता दे, पति के प्रति किसी प्रकार की शिकायत का भाव न रखे, स्वयं के अस्तित्व को पति के अस्तित्व में विलीन कर पति को संपूर्णता दे। विष्णु प्रभाकर इन सारे गुणों का समावेश अपनी पत्नी में देखते हैं। आत्मकथा में लेखक ने अपनी पत्नी से सेवा और समर्पण की माँग करते हुए लिखा है "... श्रद्धा और विश्वास को तुम भूलो मत। ऐसा करो ये दोनों तत्त्व कभी भी हमारा साथ न छोड़े। जिस दिन श्रद्धा तुम खो दोगी उसी दिन तुम्हारा पतन आरंभ हो जाएगा।"[108] पति (विष्णु प्रभाकर) को सभी चिंताओं से मुक्त कर जीवनभर सहयोगिनी की भूमिका निभाने वाली पत्नी (सुशीला) स्वयं को पति की 'तुच्छ दासी' भी कहती है। इसे सामंतवादी संस्कारों की विजय कहें या एक स्त्री का आत्मसमर्पण? स्त्री जब तक बंधन को दासता न मानकर 'कर्त्तव्य' मानती रहेगी तब तक स्वतंत्रता उससे कोसों दूर रहेगी।

पुरुष के जीवन में स्त्री विभिन्न संबंधों के माध्यम से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। पुरुष माँ से लेकर बेटी तक स्त्री के अनेक रूपों से परिचित होता है। जाहिर है जब पुरुषों के वास्तविक जीवन में स्त्रियाँ उपस्थित हैं तो उनकी आत्मकथा में भी स्त्रियों का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। पुरुष आत्मकथाकारों ने अपने जीवन में आयी स्त्रियों के माध्यम से स्त्री जीवन को समग्रता में जानने की कोशिश बहुत कम की है। कुछ आत्मकथाओं में 'माँ' का वर्णन ही नहीं मिलता है और कुछ आत्मकथाओं में 'पत्नी' और 'बेटी' पूरी तरह से गायब हैं। कई बार माँ, पत्नी या बेटी के वर्णन में आत्मकथाकार की आत्ममुग्धता सामने आई है। इन आत्मकथाकारों ने स्वयं को एक अच्छा पुत्र, अच्छा पति और अच्छा पिता साबित करने की कोशिश अनेक बार की है। पुरुषों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में यह जानने की कोशिश बहुत कम या कहें बिल्कुल नहीं हुई है कि पत्नी के रूप में स्त्री अपने पति से क्या चाहती है? एक माँ के रूप में स्त्री अपने पुत्र से क्या उम्मीद रखती है? एक पुत्री के रूप में स्त्री अपने पिता से किस व्यवहार की उम्मीद रखती है? अधिकतर आत्मकथाओं में स्त्री को पति के प्रति समर्पित रहने की सीख दी गई है। कोई भी पुरुष आत्मकथा पत्नी के प्रति पुरुष के समर्पण की बात नहीं कहती। एक माँ अपना जीवन न्योछावर कर अपने पुत्र के भविष्य का सपना संजोती है। सवाल यह उठता है कि वही पुत्र अपने जीवन में इतना व्यस्त हो जाता है कि उसे माँ की सुध ही नहीं रहती। पत्नी को चौबीसों घंटे सेवा की मूर्ति बनने के लिए प्रेरित करता पति, पत्नी की बीमारी के समय स्वयं सेवा का भाव क्यों नहीं रख पाता? पुरुषों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में कहीं–कहीं स्त्रियाँ भी पुरुषों की हाँ में हाँ मिलाती नजर आती हैं। आत्मकथा की पहली शर्त होती है सत्य का उद्‌घाटन। इन आत्मकथाओं को पढ़ने पर कई बार लगता है कि स्त्रियाँ वही बोल रही हैं जो एक पुरुष उनके मुंह से बुलवाना चाहता है।

स्त्री के जीवन में हर जगह मौजूद पितृसत्तात्मक मूल्यों के पहरे इन आत्मकथाओं में साफ दिखाई देते हैं। इन आत्मकथाओं को पढ़कर कई सवाल उठते हैं – स्त्री को परतंत्रता की बेड़ी में कैद करने वाला पति, पत्नी से स्वयं के लिए हर प्रकार की स्वतंत्रता की चाह क्यों रखता है? पुरुष स्त्री को उसके अस्तित्व से परे देह की परिभाषा में क्यों कैद कर देता है? वास्तविकता यह है कि पुरुष स्त्री को दया, तरस और सुरक्षा तो दे सकता है लेकिन बराबरी का दर्जा नहीं। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में यह पूरी तरह से सामने आया है कि स्त्री प्रेम है, विश्वास है, शक्ति है लेकिन स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं। पुरुष ने स्त्री को नामों के सांचों में फिट किया है।

(ग) विवाह और दाम्पत्य

मानव जीवन की शुरुआत के साथ ही स्त्री और पुरुष के आपसी सम्बन्धों की भी शुरुआत हुई। आदिम काल में स्त्री पुरुष बिना किसी बंधन के साथ रहते थे। धीरे–धीरे समाज और परिवार की परिकल्पना अस्तित्व में आने के साथ ही स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को भी बंधन का रुप दिया गया। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को स्थायित्व देने के लिए विवाह बंधन की मान्यता दी गई। भारतीय समाज में स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध को विवाह के आधार पर ही सामाजिक मान्यता देने का प्रावधान है। पति–पत्नी के रूप में स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध को सामाजिक स्वीकृति देने का चलन हमेशा से रहा है। वस्तुतः भारतीय समाज में विवाह एक ऐसी संस्था है जहाँ स्त्री की स्थिति पुरुष से नीचे रहती है। परिवार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद उसे निर्णय का अधिकार नहीं दिया जाता। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'द सबजेक्शन ऑफ विमैन' में विवाह संस्था पर सवाल उठाते हुए लिखा है "विवाह इकलौती ऐसी सामाजिक व्यवस्था रह गई है, जिसे कई मामलों में बंधक व्यवस्था कहा जा सकता है। हर घर की गृहिणी के अलावा अब कोई गुलाम नहीं बचा है।"[109] वास्तविकता यह है कि 'विवाह' की नींव जिन मूल्यों पर आधारित है, वे मानव मूल्यों के बिल्कुल विपरीत हैं।

भारतीय समाज में परंपरा के अनुसार घर गृहस्थी की जिम्मेदारी स्त्री की मानी जाती है। घर के बाहर के काम और पैसा कमाना पुरुष के जिम्मे आता है। आज बदलते समय में स्त्री घर को संभालने के साथ ही शिक्षित और कमाऊ भी है। स्त्री द्वारा दोहरी भूमिका का निर्वाह करने के बावजूद पुरुष की भूमिका में कहीं कोई बदलाव नजर नहीं आता। सदियों का इतिहास विवाह के माध्यम से पुरुषों के वर्चस्व को प्रभावित करता रहा है। विवाह एक सामाजिक जिम्मेदारी है जिसका उद्देश्य पुरुष के वंश को आगे बढ़ाना है।

विवाह एक ऐसा संस्कार है जिसमें 'कन्यादान' के माध्यम से बेटी के साथ–साथ उसके गुण, मातृशक्ति, प्रजनन क्षमता का भी दान किया जाता है। यह संस्कार पुरुष को मातृशक्ति प्रदान कर वंश के आरंभ का अधिकार देता है। विनिमय की इस प्रक्रिया में स्त्री को अपने वंश, गोत्र छोड़कर पुरुष के वंश और गोत्र को अपनाना पड़ता है। वहीं पुरुष की स्थिति में कहीं कोई परिवर्तन नहीं आता है। विवाह संस्था की क्रूरता ने स्त्री को इतनी गुलामी में रखा है कि उसकी आकांक्षा 'अगले जन्म मोहे बिटिया ना कीजो' जैसी हो गई है। यह संस्था परंपराओं, रीति–रिवाजों के माध्यम से स्त्री की स्वतंत्रता को कसने वाले वर्चस्वों के किलों के निर्माण का काम करती है।

अमृतलाल नागर ने अपनी आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में अपने विवाह का जिक्र करते हुए लिखा है "इसलिए दसवें दर्जे में पढ़ते समय ही 31 जनवरी, सन् 31 को हमारा विवाह धूमधाम से संपन्न हो गया। बिट्टो प्रतिभा बन गईं और अपनी इच्छा पूर्ति को वह भोलेशंकर पर चढ़ाये 108 चावलों की जीत ही मानती थीं। "मैंने तुम्हें पाया है जो मैं चाहूंगी, वही तुम करोगे।" प्रतिभा का यह अदम्य हठ ही मेरे और उनके बीच में क्रमशः झगड़े का कारण भी बना, जिसके जादू में बंधकर मैं अब तक उन बुराइयों से बचा रहा था, जो मेरे अन्य समवयस्कों में आने लगी थीं, उसी के प्रबल बंधन से घुटकर मन बहलाव के लिए अन्य आकर्षणों की तरफ भी बढ़ने लगा। इस कारण से हमारे बीच में अक्सर तनाव भी आ जाता था...।"[110] स्त्री के लिए धर्म ने अच्छे पति की कामना के लिए व्रतों का प्रावधान किया है। दाम्पत्य जीवन में भी पति की सुरक्षा, कुशलता के लिए अनेक व्रत स्त्री के जीवन का अनिवार्य हिस्सा हो जाते हैं। कोई भी धर्म अच्छी पत्नी के लिए पुरुष को व्रत करने के लिए नहीं कहता है। संस्कृति और परंपरा ने पुरुष की पूजा में जल, दूध चढ़ाकर भक्ति के जरिए पति को महिमामंडित करने का काम किया है।

कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा 'जलती हुई नदी' में भारतीय परिवार के विषय में लिखा है "...परिवार भी भारतीय मनुष्य के शुभ का, अनवरत चलने वाले सुख–पर्व का उत्सव है ... उसी में भारतीय मनुष्य का अस्तित्व समाहित है।"[111] भारतीय परिवार की संरचना पुरुष की वकालत अधिक करती है। कमलेश्वर भारतीय परिवार की विशेषता बताते हुए लिखते हैं कि यह जिंदगी पर बोझ नहीं लगता। कमलेश्वर के स्वयं के परिवार ने जिसमें उनकी माँ और पत्नी शामिल थीं, जीवन में कई सहूलियतें दीं। आत्मकथा में कमलेश्वर ने लिखा है "...या शायद उसे ही ऐसा परिवार मिला था... जो उस पर कभी भारी नहीं पड़ा – तुलसी के पेड़ की तरह जिसमें कभी खाद देने की जरूरत नहीं पड़ी। कुछ ऐसी ही स्थिति उनकी पत्नी गायत्री की थी।[112] हिंदू धर्म की संस्कृति, परंपरा और रीति–रिवाजों ने स्त्री को काफी कमजोर करने का काम किया है। कमलेश्वर ने इस प्रसंग में जिस 'तुलसी' का जिक्र किया है वह 'तुलसी' स्त्री के कर्त्तव्यों से बनती है। यह हिंदुस्तानी परंपरा है कि घर के सारे कामकाज, व्रत उपवास सब स्त्री के खाते में। रात देर तक काम में खटनेवाली स्त्री पूरी नींद सो पाने की भी मोहताज होती है। कमलेश्वर द्वारा पत्नी से अबाध दायित्व की कामना और दूसरी ओर स्वयं को सुविधा पुरुष कहना पुरुषवादी मानसिकता के संस्कारों की उपज है। ऐसा सुविधा–पुरुष जो पारिवारिक जीवन के साथ–साथ सेक्स सुख का अबाध अधिकार भी चाहता है क्योंकि लेखक के अनुसार सेक्स पाप से परे एक सत्य है। सेक्स का हर एक क्षण

तमाम स्वीकृत सामाजिक सत्य को लाँघता हुआ अपने आप में स्वतंत्र और वर्जनातीत है। सेक्स के विषय में कमलेश्वर की ये धारणाएं पुरुष के समर्थन में हैं, स्त्री के नहीं क्योंकि स्त्री सेक्स की बाढ़ में पुरुष को बहाने का काम करती है। आत्मकथा में कमलेश्वर ने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के विषय में लिखा है "यही कारण है कि भारतीय स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को ढ़ोते नहीं, सहते हैं। और परंपरा से मिला धीरज उसे सहने को भी सुख में बदल देता है ... बड़े–बड़े सुखों की महत्त्वाकांक्षाओं को तोड़कर छोटे–छोटे सुखों को दिशा दे देता है।"[113] वास्तविकता यह है कि धैर्य और सहने की शक्ति की अपेक्षा स्त्री से की गई है, पुरुष से नहीं। डर लगता है स्त्रियों को यह कहने में कि वह भी जीना चाहती हैं, सेवा–समर्पण से परे पुरुष की जागीर नहीं अपनी आजादी को महसूस करना चाहती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में वैवाहिक परंपरा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि समाज में विवाह से पूर्व लड़की को देखना अपशकुन माना जाता था। परिवार के बड़े–बुजुर्ग ही विवाह तय करते थे। उनका विवाह भी कुछ ऐसा ही हुआ। उमा चक्रवर्ती ने 'जाति समाज में पितृसत्ता' में विवाह की परंपरा पर सवाल उठाते हुए लिखा है "विवाह में वर और वधू के माध्यम से दो परिवारों के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। यही वजह है कि आज भी हिंदू विवाह (ईसाइयों और मुस्लिमों में होने वाले विवाह भी) अरैंज्ड होते हैं यानी वर और वधू के माता–पिता अथवा बड़े–बुजुर्ग इसे तय करते हैं। ऐसी मान्यता है कि विवाह के माध्यम से ही परिवार बिरादरी और समूह का रुतबा बना या बचा रहता है, कमजोर या मजबूत होता है। इसलिए लड़के या लड़की को इसका स्वयं निर्णय लेने के लिए छोड़ना खतरनाक माना जाता है।"[114] स्पष्ट है कि भारतीय परंपरा में विवाह के प्रश्न पर वर–वधू की आपसी सहमति का प्रश्न हमेशा से संदेहास्पद रहा है। वर्तमान समय में बढ़ते तलाकों का एक कारण यह भी है।

भारतीय समाज में विवाह के नाम पर होने वाली विनिमय प्रक्रिया पर प्रहार करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है "भारतीय समाज में विवाह को पवित्र बंधन माना गया है। विवाह के नाम पर लोग शेखी बघारते हैं। विवाह के बहाने एक दूसरे से झूठे वादे करते हैं। विवाह होते–होते एक दूसरे को नीचा दिखाते हैं।"[115] विवाह संस्था के माध्यम से बने सम्बन्धों का आधार कभी–कभी झूठी मर्यादा और नैतिकता पर टिका होता है। विवाह में आदर्श बनने का सपना संजोने वाले मोहनदास भी उन्हीं रीति–रिवाजों की गिरफ्त में होते हैं जो अक्सर ही परंपरा से होते आए हैं। पत्नी की दोहरी भूमिका का जिक्र करते हुए लेखक ने आत्मकथा में लिखा है कि वह माँ बन कर अंकुश भी रखना चाहती थी। यह पुरुष प्रवृति रही है कि पुरुष अपनी पत्नी में माँ के रूप को तलाशने की कोशिश में लगा

रहता है। मोहनदास द्वारा घर की जिम्मेदारी न निभाने के कारण लेखक और उनकी पत्नी के बीच तनावपूर्ण सम्बन्धों का प्रसंग भी आत्मकथा में सामने आया है। इस स्थिति के लिए लेखक अपने से कहीं अधिक पत्नी को दोषी बनाकर उसे कठघरे में खड़ा कर देता है। पति से राय न लेना पुरुष के लिए स्वाभिमान का प्रश्न हो जाता है।

'अपने–अपने पिंजरे' में मोहनदास नैमिशराय ने स्त्री के विवाह पूर्व एवं विवाह पश्चात दाम्पत्य जीवन के फलस्वरूप स्त्री के सामान्य व्यवहारों में आए परिवर्तन को भी रेखांकित किया है। लेखक का यह लिखना कि शादी के बाद लड़कियां खुलना आरंभ हो जाती है, दरअसल हमारे समाज की झूठी नैतिकता का ही एक सच्चा उदाहरण है क्योंकि शादी के पहले खुलना बड़ा ही अनैतिक समझा जाता है। कैसे एक नवविवाहिता से उसकी सहेलियाँ उसके वैवाहिक जीवन और रतजगे आदि के बारे में बातें करती हैं, इसे आत्मकथा में जीवंत रुप में दर्शाया गया है।

विवाह के मामले में अक्सर ही जाति, गोत्र, वंश आड़े आ जाते हैं। 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' में अशोक वाजपेयी ने अपने विवाह के प्रसंग में लिखा है "मसूरी से, वहां सात–आठ महीने बाद, मैंने अपने पिता को रश्मि से विवाह की संभावना के बारे में पत्र लिखा। मेरा परिवार थोड़ा कट्टर कान्यकुब्ज ब्राह्मण था। ... हालांकि उनके अनुसार इससे बहनों के ब्याह में कुछ अड़चन आने की आशंका थी, उन्होंने स्वीकृति दे दी थी जो मेरे लिए बेहद अप्रत्याशित थी।"[116] आज वर्तमान समय में भी विवाह के मामले में कुल की मर्यादा को इतनी तवज्जो दी जाती है कि स्त्री–पुरुष की आपसी सहमति–असहमति का प्रश्न गौण हो जाता है। कितने ही माँ–बाप ने 'मर्यादा' और 'इज्जत' के नाम पर अपने युवा बच्चों को मौत के हवाले कर दिया। जाति के नाम पर क्रूर और बर्बर नीतियों का जारी रहना नैतिकता है? विवाह संस्था पत्नी से जिन गुणों की अपेक्षा करती है, उन सारे गुणों का बखान अशोक वाजपेयी ने अपनी आत्मकथा में किया है। लेखक के अनुसार उनकी पत्नी में एक अच्छी और सुघड़ स्त्री की सभी विशेषताएं – परिवार की गरिमा, मानवीयता, संवेदना, कार्यकुशलता, परस्परता, बच्चों को आत्मनिर्भर, स्वाभिमानी बनाना साथ ही सास के रूप में स्नेहशील और सहिष्णुता आदि गुण मौजूद हैं। इन गुणों को उजागर करने के पीछे लेखक की पुरुषवादी सोच है जो स्त्रीधर्म पर मर मिटने वाली पतिव्रता स्त्री के रुप में अपनी पत्नी को देखता है।

भगवतीचरण वर्मा ने अपनी आत्मकथा 'कहि न जाइ का कहिए' में अपने विवाह का उल्लेख करते हुए लिखा है "18 अप्रैल सन् 1923 वह दिन मुझे अभी तक

याद है जब एक अत्यंत पवित्र आत्मा के संपर्क में मैं आया ... उमा के रूप में मुझे जीवन की एक निधि मिल गई थी, लेकिन उस निधि को सहेजने की न मुझ में प्रवृत्ति थी, न मुझमें क्षमता थी।"[117] अपनी पत्नी को एक 'अत्यन्त पवित्र आत्मा' कहने के बजाए लेखक अगर उसे एक स्त्री के रूप में ही देखता तो ज्यादा अच्छा होता। असल में यही वह शब्दावली है जो स्त्रियों को भुलावे में रखने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। पत्नी किसी की निधि नहीं होती है। उस पर यह कहना कि 'उस निधि को सहेजने कि न मुझमें प्रवृत्ति थी न क्षमता' अपने अपराधों को छिपाने का ही एक प्रयास है। लेखक का यह कहना कि 'वैसे मैंने उससे बेहद प्रेम किया है, लेकिन मुझ पर जो साहित्य का पागलपन सवार था, कविता का बोहेमियनिज्म जो मुझे मिला था, मैं उसका क्या करता'। साहित्य कभी प्रेम में बाधक के रूप में नहीं आता है। यदि पुरुष अपनी पत्नी के बारे में सफाई देने लगे तो निश्चय ही उसका एक अर्थ यह भी है कि उन दोनों के दाम्पत्य जीवन को मधुर बनाए रखने में सबसे ज्यादा त्याग स्त्री ने ही किया है।

भगवतीचरण वर्मा ने आत्मकथा में अपनी दादी के संतानहीन होने पर समाज में लगने वाले कलंक की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'दादा को संतान न होने की कोई चिंता नहीं थी। पहली पत्नी से उनके तीन पुत्र थे। चिंता दादी को थी क्योंकि वह बांझ नहीं कहलाना चाहती थी।' स्त्री प्रकृति से जननी होकर भी अगर बांझ रह गई तो बड़ा भारी कलंक लग जाता है। लेखक ने समाज में विवाह के नाम पर चल रहे अंधविश्वासों की भी चर्चा की है।

राजेंद्र यादव ने अपनी आत्मकथा 'मुड़–मुड़ के देखता हूँ' में पति–पत्नी के तनावपूर्ण सम्बन्धों को दिखाते हुए पत्नी पर स्वयं की स्वाधीनता छीनने का आरोप लगाया है। लेखक की ऐसी स्थिति को दर्शाते हुए मैत्रेयी पुष्पा ने 'वह सफर था कि मुकाम था' में राजेंद्र यादव के शब्दों में लिखा है "इसलिए मैं कहता हूँ कि विवाह जिंदगी की फ्लैक्सिबिलिटी को खत्म कर देता है। तभी तो विवाहित जीवन में घुटन और अवसाद के मौके पैदा होते रहते हैं।"[118] पत्नी द्वारा पति से एकांत समर्पण की माँग और पति द्वारा उसका प्रतिरोध कर एक ऐसे कोने की माँग जिसमें वह अपनी स्वतंत्रता में कैद रह सके। पारिवारिक घरेलू जिम्मेदारियों से भागकर एक पति की मुक्तावस्था की कामना जहाँ सारे दायित्वों का बोझ पत्नी के कंधों पर। कुछ ऐसे ही प्रश्नों से उलझा है राजेंद्र यादव का वैवाहिक जीवन। पत्नी से प्रेम न करने की छूट प्रेमिका के साथ मौज–मस्ती की छूट तो देती है लेकिन पति से अपना हक माँगती पत्नी, सम्बन्ध विच्छेद का प्रस्ताव भी रख देती है। पत्नी की एकतरफा प्रतिबद्धता और पारिवारिक दायित्वबोध ने पैंतीस वर्षों तक तो पति से जोड़े रखा लेकिन निर्बन्ध उत्तरदायित्वहीनता की आड़ में स्वाधीनता का आंदोलन आखिर कब तक

चलता? प्रेमिका और पत्नी के बीच में स्वयं को पिसते हुए दिखाना पति–पत्नी के तनावपूर्ण सम्बन्धों को सामने लाता है। जिससे प्रेम किया उससे विवाह न हो सका और जिससे विवाह किया उससे प्रेम न हो सका। गृहयुद्ध का एक कारण प्रेमिका के प्रति पति का झुकाव और लगाव भी था। पत्नी की सहज अपेक्षाओं को बोझ मानना और स्वयं को हर परिस्थिति से तनावमुक्त कर पत्नी पर घर की आर्थिक जिम्मेदारी के साथ ही तमाम जिम्मेदारियों को सौंपना आजादी के नाम पर पति का पत्नी के प्रति अमानवीय व्यवहार नहीं तो और क्या है?

सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा में पत्नी के अन्य पुरुष के साथ सम्बन्धों का जिक्र करते हुए पति–पत्नी की तनावपूर्ण स्थितियों को दिखाया है। आत्मकथा में लेखक ने पत्नी द्वारा अपनी उपेक्षा के प्रसंग को उजागर करते हुए लिखा है "विमला जय के गले में दोनों हाथ डाले बातें कर रही थीं। मैं इतना ही सुन सका – "यह तो बकता ही रहता है, तूने चार–पाँच दिनों बाद चले जाना है, काहे को मुँह लगाता है इसके।"[119] यह जय और कोई नहीं बल्कि सूरजपाल के अपने भाई का बेटा है। पत्नी द्वारा जय को घर में साथ रखने की शर्त और पति पर 'ना–मर्द' होने का आरोप वैवाहिक जीवन के नाम पर पति–पत्नी के निराशा, अवसाद और घुटन भरे जीवन को सामने लाता है। पति द्वारा पत्नी पर तेईस वर्षों के वैवाहिक जीवन को धूल–धूसरित करने का आरोप और स्वयं को सभी प्रकार के आरोपों से बरी करना एक प्रकार से लेखक की स्थिति को संदिग्ध बनाता है। पत्नी को गैर–जिम्मेदाराना हरकतों के कारागार में खड़ा कर लेखक का स्वयं को दोष रहित और पत्नी द्वारा शोषित दिखाना स्थितियों को सुलझाने के बजाए और अधिक सोचने को विवश कर देता है। लेखक की आत्ममुग्धता यहाँ साफ दिखाई देती है।

कमला को विष्णु प्रभाकर ने पढ़ाया था लेकिन शादी नहीं कर पाए। इसका कारण कुछ परिस्थितियाँ तो कुछ उन्हीं की कमजोरी थी। बाद में विवाह के लिए पंजाबी लड़की के प्रस्ताव पर माँ की प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए लेखक ने लिखा है "अपनों को छोड़कर गैरों में जाना क्या ठीक है? क्या तू नहीं जानता कि पंजाबी तो...।"[120] विवाह के मामले में जाति का प्रश्न हमेशा से सर्वोपरि रहा है और आज भी है। विष्णु प्रभाकर का विवाह जिस लड़की के साथ घर वालों ने तय किया, वह उन्हीं की बिरादरी की थी। आत्मकथा में लेखक ने इस बिरादरी की लड़की के साथ विवाह को अपनी मजबूरी बताया है। अपने प्रति माँ द्वारा किए बलिदान को देखते हुए उन्होंने यह विवाह किया।

आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर ने अपने जीवन में पत्नी के पूर्ण सहयोग और हर विषम परिस्थिति में पत्नी के साथ को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। पत्नी की सहमति

के कारण ही लेखक अपनी इच्छानुसार नौकरी छोड़ने जैसे मामलों में भी चिंतामुक्त रहा। पत्नी का प्यार, भोलापन संघर्ष के दिनों में लेखक के जीवन और सृजन की प्रेरकशक्ति बना रहा। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है "मैं, बयालीस वर्षों के उस संघर्षमय जीवन में जिधर भी झांकता हूँ उस साधारण लड़की की भाषा में मुझे वही असाधारण प्यार और वही अनिर्वचनीय माधुर्य परिलक्षित होता है। वह किसी मध्ययुगीन पतिव्रता का आत्मसमर्पण नहीं था बल्कि बीसवीं सदी की जाग्रत नारी की सही साहचर्य की कामना थी। और यह कामना उस प्रेम में से शक्ति पाती थी जो नर–नारी के सही सम्बन्धों का आधार है।"[121] पत्नी जो पति को सभी बंधनों से मुक्त कर जीवन भर सहयोगिनी की भूमिका निभाती रही। लेखक के अनुसार स्त्री–पुरुष एक–दूसरे की कमियों का विरोध कर और गुणों को अपने में आत्मसात कर दाम्पत्य जीवन को एक आधार दे सकते हैं।

विष्णु प्रभाकर ने आत्मकथा में अपने दाम्पत्य जीवन के विषय में लिखा है कि 'जीवन के अंतिम क्षण तक वे एक–दूसरे के होकर ही रहे।' पत्नी का उनके जीवन में आना जैसे मरुस्थल में गंगा बहने जैसा ही था। यह गंगा प्रेम की गंगा थी। पति के प्रति पत्नी की पूर्ण आसक्ति का चित्र अंकित करते हुए विष्णु प्रभाकर ने आत्मकथा में लिखा है "मेरे प्रति उसकी आसक्ति निरंतर बढ़ती रही। बीच–बीच में उसके लिखे ये अटपटे वाक्य इस बात के साक्षी हैं, 'चाँदनी रात में अकेलापन अखरता है।' या 'मेरे लिए इससे बढ़कर कोई दण्ड नहीं कि आपका पत्र देर से मिले। इन्तजार करते–करते थक जाती हूँ।"[122] पति और पत्नी के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्धों ने ही लेखक के दिशाहीन और संघर्षमय जीवन को गति दी। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है कि उनकी अनेक रचनाओं की प्रेरकशक्ति उनकी पत्नी ही है। पत्नी की मृत्यु के बाद अनन्त स्मृतियाँ लेखक के तन और मन को हर पल दग्ध करती रही हैं। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है "किसी के जाने के बाद पता चलता है कि उससे कोई कितना जुड़ा था। पहले तिल–तिलकर जुड़ने का प्रयत्न, फिर जुड़ने की प्रक्रिया को भूलने का प्रयत्न, यह यातना कितनी त्रासद होती है।"[123] पति–पत्नी का आपसी जुड़ाव, प्रेम और लगाव विष्णु प्रभाकर के सुखद दाम्पत्य जीवन की सूचना देता है।

स्त्री को सृष्टि का रचयिता कहा जाता है। स्त्री समाज को रचती है और समाज उस रचनाकार स्त्री को ही रचने लगता है। यह स्त्री की नियति है कि जिस पुरुष को वह गर्भ में पालकर संसार में जीना सिखाती है वही उसका हिसाब रखने लगता है। विवाह जैसी संस्था स्त्री को नैतिकता की सीख देती है। पिता के घर से निष्कासित हुई स्त्री को पति के घर को पूरी निष्ठा और त्याग से अपनाने के लिए कहा जाता है। गुलामी के इससे ज्यादा नमूने और क्या होंगे जहाँ स्त्री अपने

लिए नहीं अपने पति के लिए समर्पित रहती है। जहाँ वह लक्ष्मण रेखाओं में बंधकर मनुष्य होने की इजाजत पाती है। पुरुषों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में विवाह जैसे प्रश्नों पर सामंती संस्कारों की झलक साफ तौर पर सामने आई है। आत्मकथाओं में पति द्वारा निर्देशित और संचालित पत्नी के रूप में बंधी स्त्री का जीवन सामने आया है। इन आत्मकथाओं को पढ़कर कई सवाल मन में उठते हैं, जैसे – पत्नी से समर्पण की माँग करने वाला पति, पत्नी के प्रति क्यों समर्पित नहीं हो पाता? दाम्पत्य जीवन की सारी जिम्मेदारियां स्त्री के खाते में क्यों। पुरुष आत्मकथाकारों ने पत्नी द्वारा पति पर रीझने की तो बात की है लेकिन अपनी पत्नी के प्रति पति के दायित्वों को अपनी स्वतंत्रता का हनन माना है। पत्नी के लिए कर्त्तव्यों की श्रृंखला और पति के लिए स्वछन्दता।

भारतीय समाज में विवाह स्त्री के शोषण का एक बहुत बड़ा कारण है। इसका मुख्य कारण विवाह के नाम पर होनेवाले रीति–रिवाज, मर्यादा और प्रतिष्ठा के झूठे दावे हैं। वास्तविकता यह है कि दहेज से लेकर कन्यादान जैसी प्रथाएं स्त्री के शोषण को और अधिक बढ़ावा देती हैं। समाज विवाहित स्त्री की आजादी को चरित्रहीनता के दायरे में कैद कर देता है।

साहित्यकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज में व्याप्त समस्याओं को समझे और उन समस्याओं को साहित्य में दर्ज करे। स्त्री भी उस समाज का ही हिस्सा है। पुरुष आत्मकथाकारों ने अपने जीवनक्रम के वर्णन में न तो स्त्री की स्थिति को साफतौर पर दिखाया है और न ही उनके जीवन को। पत्नियों के रूप में शील और संयम की देवियाँ आत्मकथाओं में उपस्थित हैं। अधिकांश आत्मकथाओं में पति पर मुग्ध होतीं पत्नियां उपस्थित हैं। अनेक जगह आत्मकथाकार ने स्वयं को दाम्पत्य जीवन के तनाव में पिसते हुए दर्ज किया है। पुरुषों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में पति–पत्नी के दुख, अवसाद और तनाव भरे सम्बन्धों के कारण ढ़हते दाम्पत्य जीवन की भी झलकियां है। पति–पत्नी के अलगाव के कारण उनकी संतान पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अंकन आत्मकथाओं में बिल्कुल नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में मात्र तथ्य के तौर पर सूचना भर दी गई है। इन आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक मूल्यों को ढ़ोती पत्नियाँ मौजूद हैं। विवाह और दाम्पत्य जीवन के नाम पर यहाँ पत्नियों को सामंतवादी संस्कारों की सीख देते पतियों के चित्र उपस्थित हैं।

(घ) प्रेम और विवाहेतर सम्बन्ध

प्रेम विवाह का मोहताज नहीं है। विवाह के पूर्व और बाद में भी प्रेम हो सकता है। जिसे विवाहेतर संबंध की परिधि में रखा जाता है उसमें प्रेम होने के बावजूद यदि शारीरिक संबंध स्थापित न हो तो क्या उसे हम विवाहेतर संबंध कहेंगे? इसी प्रकार यदि प्रेम करके हम विवाह न कर पाएं तो क्या वह प्रेम अनैतिक हो जाएगा? पितृसत्तात्मक और बंद दिमाग वाले समाजों में बाकायदा कई शब्द प्रेम को अपमानित करने के लिए गढ़े गए हैं। विवाहेतर संबंध इसी प्रकार का शब्द है। कुछ इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेम और विवाहेतर संबंधों को लेकर पश्चिम में नारीवादी चिंतन की तीनों धाराओं में मतभेद रहा है। जहाँ उदारवादियों ने देहमुक्ति के प्रश्न पर एक नैतिक दृष्टिकोण का परिचय दिया था वहीं बाद की नारीवादी चिंतकों ने 'माई बॉडी माई च्वाइस' के नारे के साथ किसी भी तरह की नैतिकता को मानने से इंकार कर दिया। कहना न होगा कि विवाह संस्था जिस विश्वास और नैतिक मूल्यों के आधार पर बनी है उसमें एक स्त्री द्वारा अपने संबंधों को लेकर निर्णय लेने की जिस आजादी का नारा बाद में दिया गया वह एक बड़ा बदलाव था। यह विवाहेतर जैसे किसी भी शब्द को खारिज करता है तथा प्रेम और संबंधों को नितांत निजी चुनाव के विषय के रूप में देखता है। हालांकि हिंदी के आत्मकथाकारों ने अपने लेखन में नैतिक मापदंडों को हमेशा स्त्री–पुरुष संबंधों के प्रश्न पर सामने रखा है। इसीलिए कई बार उनके लेखन की विश्वसनीयता बरकरार नहीं रह पाई है। या तो यह अति यथार्थवादी हो गई है या प्रतिक्रियावादी।

प्रेम एक नैसर्गिक भावना है जबकि विवाह एक सामाजिक जिम्मेदारी। प्रेम आत्मा की तरह है जो कभी मरता नहीं। प्रेम एक ऐसा भाव है जो न नैतिक है, न अनैतिक, न पवित्र और न अपवित्र। समाज उसे अश्लील, अपवित्र या अनैतिक जैसे खाँचों में बाँट देता है। सामाजिक विडंबना है कि अक्सर ही प्रेम को व्यभिचार जैसे शब्दों से जोड़ दिया जाता है, खासकर स्त्री के मामले में। जिस सुख की कामना हमारी इंद्रियां करती हैं वह व्यभिचार न होकर हमारा अधिकार है फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। प्रेम शारीरिक सुख के लिए नहीं किया जाता। ऐसे सुखों के लिए विवाह संस्था तो है। मन को जो अच्छा लगता है वह प्रेम है। प्रेम को सेक्स से जोड़ना प्रेम का अपमान करने जैसा है। सवाल यह उठता है कि सेक्स के लिए विवाह संस्था का प्रावधान किया गया है फिर प्रेम में सेक्स की क्या आवश्यकता? विवाह के मामले में समाज संबंध तय करता है जबकि प्रेम के मामले में ऐसा कुछ नहीं है।

समस्या यह है कि समाज बिना विवाह के प्रेम को मान्यता नहीं देता है। कैसी विडंबना है कि व्यक्ति की नैसर्गिक भावना को भी समाज तय करता है? और उसे वैध–अवैध जैसे खांचों में बांट देता है? परंपरा शादी करो फिर प्यार करो की सीख देती है। "... ईमानदारी से कहा जाए कि शादी सेक्स करने का प्रमाणपत्र है, इसमें प्यार हो, जरुरी नहीं, लेकिन गड़बड़ तो यही है कि हमें प्यार को भी यहीं रोपना पड़ता है जो अपने अनुकूल वातावरण या स्थितियां न पाकर धीरे–धीरे सूखने लगता है और सूखते हुए खोखले पेड़ की तरह अनजाने ही गिरकर खत्म हो जाता है, जबकि प्यार को किसी जायज–नाजायज फतवे की फिक्र नहीं होती।"[124] प्रेम सहभागिता माँगता है, समर्पण नहीं। पितृसत्ता इसे बेवफाई जैसे शब्दों में बांध देती है।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में जीवन के अन्य प्रसंगों के साथ–साथ सबसे महत्त्वपूर्ण विषय प्रेम और विवाहेतर संबंधों को पर्याप्त स्थान दिया गया है। इन संबंधों के बखान के दौरान लेखक भावनात्मक सागर में गोते लगाने लगता है। प्रेम और विवाहेतर संबंधों के प्रसंग कमलेश्वर की आत्मकथा में बहुतायत से मिलते हैं। कमलेश्वर ने बहुत ही कुशलता के साथ उन सभी संबंधों को न केवल समय की तात्कालिकता की उपज बताया है बल्कि अधिकांश को जस्टिफाई भी किया है। अक्सर जब वे ऐसे प्रसंगों को चटखारे लेकर वर्णित कर रहे होते हैं तो स्वयं को या तो विक्टिम मोड में रख लेते हैं या पैसिव रिसीवर बन जाया करते हैं। मानो सारी स्त्रियां एक कालजयी लेखक पर भरभराकर गिर जाने को आतुर हैं। हालांकि जब वे अपने मित्रों या कहें कि समकालीनों की चर्चा इस परिप्रेक्ष्य में करते हैं तो उलाहना देने में तनिक भी संकोच नहीं करते। मन्नू भंडारी – जो उनकी कभी बेहद करीबी मित्र रही थीं – ने उनकी तमाम प्रवृत्तियों को एक स्त्री की निगाह से हमारे सामने रखा है। वे बताती हैं कि कमलेश्वर के दीपा नाम की किसी स्त्री के साथ संबंध थे जो सामाजिक मान्यताओं में विवाह से इतर संबंध था। मन्नू भंडारी ने तहलका के लिए लिखे गए 'कितने कमलेश्वर' शीर्षक संस्मरणात्मक लेख के आरंभ में ही पाठकों को इसका सूत्र पकड़ा दिया है। वे कमलेश्वर के साथ अपनी आरंभिक मुलाकातों का जिक्र करती हुई लिखती हैं "कमलेश्वर जी उन दिनों इलाहाबाद में ही रहते थे और इस आयोजन में व्यवस्थापक की भूमिका में थे। उन्होंने मुझे अपनी एक मित्र दीपा के यहाँ ठहराया। वे आयोजन में भूत की तरह काम कर रहे थे। कभी रात को एक बजे तो कभी दो बजे खाना खाने आते। दीपा उनकी प्रतीक्षा में जागती रहती थी और खाना गरम करके खिलाती। अगर कमलेश्वर जी उस आयोजन की व्यवस्था में लगे हुए थे तो दीपा उनकी देखभाल में। मुझे लेकर वह दीपा को आदेश देते रहते कि वह मेरी सुख सुविधा और जरूरतों का पूरा ध्यान

रखें, मुझे किसी तरह की असुविधा न हो। उन दिनों में मैं इतना तो समझ गई कि दीपा उनकी मित्र से अधिक बढ़कर 'कुछ' है।"[125] मन्नू भंडारी ने कमलेश्वर के विवाहेतर संबंधों के बारे में खुद कमलेश्वर की बातचीत का उल्लेख किया है जिसमें "इधर–उधर की बातचीत के बाद दो टूक शब्दों में उन्होंने कहा – 'देखो मन्नू, मैंने गायत्री, मानू (बेटी) और उसके पति को सामने बिठाकर साफ–साफ कह दिया कि नीना से मेरे संबंध बहुत घनिष्ठ हो गए हैं और इस संबंध को तुम्हें भी स्वीकार करना ही होगा। यहाँ तो मैं रहूँगा ही पर मुंबई जाकर उसके पास भी रहा करूंगा' भाभी सिर झुकाए सामने ही बैठी थीं। वे शायद अपनी स्वीकृति दे चुकी थीं...। आज तक कमलेश्वर जी ने जितने भी संबंध बनाए सबको स्वीकारती ही तो आई हैं। उनकी तो बस, एक ही आकांक्षा थी कि कमलेश्वर जी जो चाहे करें... जिससे चाहे संबंध बनाएं बस यह घर न तोड़ें... उन्हें ना छोड़ें। जब उनके परिवार को कोई आपत्ति नहीं तो भला मैं किस मुंह से प्रतिरोध करती? हां, मन में एक प्रश्न जरूर आया कि कभी बंद भी होगा यह सिलसिला या नहीं?"[126]

मन्नू भंडारी ने कमलेश्वर के उन सभी रूपों को कमोबेश देख–परख लिया था जिसके जरिए वे स्त्री संबंधों की परिभाषाएं गढ़ रहे थे। बावजूद इसके निजी संबंधों को सरेआम न उछालना भी उनकी विशिष्टता ही थी जिसे कमलेश्वर ने जीते जी निभाया। जब एक लेखक स्वयं ही आत्मकथा के माध्यम से अपने विवाहेतर संबंधों को महिमामंडित कर रहा हो तब मन्नू भंडारी का कुछ बातें स्पष्ट कर देना बुरा भी नहीं माना जा सकता। एक कारण यह भी रहा कि मन्नू भंडारी का कमलेश्वर की पत्नी और अन्य महिला सहचरियों से उतनी ही नजदीकी या आत्मीयता रही कि उनके दावे प्रामाणिकता की परिधि न लांघ सके। कमलेश्वर ने हमेशा ही अपने विवाहेतर संबंधों को लेकर एक बड़बोलापन दर्शाया। कभी अपनी विवशता के दिनों में पैसिव रहकर संपन्न स्त्रियों के साथ सहवास का अनुभव लिया तो कभी साहित्यिक उठान के दौर में बौद्धिक सहवास का सुख भोगा। जिस एक चर्चित कवयित्री का उन्होंने जिक्र अपने गुरबत के दिनों में किया है कि 'उनके पास कविता करने के लिए कलम नहीं देह थी' तथा 'उन महिला को पीने पिलाने का शौक था', उसी कवयित्री के साथ संभोगरत होकर उन्होंने देह और संभोग के नए आयाम अर्जित किए।

कमलेश्वर के साथ एक समस्या यह भी रही कि स्वयं के विवाहेतर संबंध उन्हें परिस्थितिजन्य नजर आते रहे लेकिन अपने अन्य परिचितों व मित्रों के संबंध विलास। यह अकारण नहीं है कि जिस भी स्त्री का संसर्ग उन्हें न मिलकर उनके मित्रों को मिल गया उसमें उन्होंने महिला को विक्टिम दर्शाया है किंतु जिस स्त्री ने उन्हें कृतार्थ कर दिया उसे उन्होंने सहजप्राप्य न मानकर खुद के जरिए लाभ

लेने वाली सिद्ध किया। एक ऐसे ही प्रसंग में उन्होंने स्वदेश सेठ उर्फ देशी नामक महिला का जिक्र किया है, जो पाकिस्तान से शरणार्थी के तौर पर अपनी मुंहबोली माँ के साथ भारत आई थी। देशी को अनिंद्य सुंदरी बताते हुए कमलेश्वर आश्चर्य से लिखते हैं कि 'देशी जैसी महिला विभाजन के दौर में बचकर कैसे आ गई।' यह बात लिख कर कमलेश्वर ने अपने आपको ही एक्सपोज कर लिया है। कमलेश्वर ने देशी को अपने मित्रों और सहचरों से साहित्यिक प्रतिशोध के तौर पर भी इस्तेमाल किया। अश्क ने देशी को शरण दी तो वह उनके लिए 'सहज प्राप्य' हो गई, सत्येंद्र शरत के पैरों पर मोजों को रख रखकर नाप ले रही थी तब क्या थी? यदि एक औरत के लिए यही पैमाना है तो दिल्ली के पांचसितारा होटल में अपनी कवयित्री मित्र के हाथों से पैग लेकर उसके साथ संभोगरत कमलेश्वर के चरित्र को मापने का कौन–सा पैमाना होना चाहिए? ठीक इसीलिए कुंठित व्यक्ति को औरत को उसके अतीत में अपमानित नहीं करना चाहिए वरना वही होता है जो मन्नू भंडारी ने तहलका में 'कितने कमलेश्वर' लिखकर किया।

कमलेश्वर ने कश्मीर में मिली एक पाकिस्तानी महिला के प्रति अंकुरित हो रहे अपने प्रेम या रागात्मक लगाव को वर्णित करते हुए लिखा है "मैं तब एक किसी महिला को देखकर बेहद संकुचित हो जाता था। लेकिन यह संकोच किसी दमित सोते की तरह नहीं फूटा था... यह अंकुरित हुआ था... शरीर के सौंदर्य साम्राज्य को तब मैंने पहली बार देखा और अनुभव किया था। वे महिला पाकिस्तानी थीं। उनके पति इटली में थे और वे अकेली अपनी रिश्तेदारी में श्रीनगर आई हुई थीं। तब मैंने धरती को पहचाना था। उसके नैसर्गिक रूप में धरती और प्रकृति कितना देती है, कितने रहस्यों को उद्घाटित करके एक चिरंतन रहस्य से युक्त कर देती है... शायद मैं तब उन महिला–बेगम साहिबा के साथ पाकिस्तान चला जाता। उम्र में वे मुझसे तीन चार साल बड़ी थीं। तहजीब और सलीका उनमें समाया हुआ था। उनमें उनकी पेंटिंग्स जैसी ही स्निग्धता, कोमलता और शालीनता थी। जीवन को धीरज और सौंदर्य के साथ जीने की लालसा थी। पता नहीं तब मेरी जिंदगी का क्या रूप होता।"[127] जीवन के जिस रुप की चिंता कमलेश्वर कर रहे थे, वह निश्चय ही उनके अवचेतन में चल रहे विवाह, प्रेम और नैतिकता के अंतर्द्वंद से सुविधाजनक ढंग से बच निकलने की व्याख्या थी। शरीर के सौंदर्य साम्राज्य को पहली बार देखने का बखान उनके उस रूप को दर्शाता है जहाँ पानी में रहकर कमल के पत्ते की भांति असंपृक्त रह जाने का ढ़ोंग किया जाता हो।

कमलेश्वर ने आत्मकथा में लिखा है कि सेक्स की उनके जीवन में कभी कमी नहीं रही और सेक्स उनके जीवन का सत्य कभी नहीं रहा। लेखक ने स्वयं

स्वीकार किया है कि वासना उनके जीवन में भरपूर रही। सवाल यह उठता है कि यह वासना का ही प्रभाव था कि 'खतवाली', 'भाभी', 'शबनम', 'मीता पांचाल', 'देशी'... जैसी स्त्रियाँ लेखक की गिरफ्त में थीं? हर स्त्री के साथ संसर्ग को अपना पहला अनुभव बताने के क्रम में लेखक यह कहने से भी नहीं चूकता कि इन संबंधों के लिए सभी स्त्रियों के प्रस्ताव के फलस्वरूप मानो बहती गंगा में वह भी बह जाता है। इसे कमलेश्वर का आत्ममोह कहें जिसके कारण वह स्वयं पर रीझ जाते हैं या फिर स्वयं को निर्दोष साबित करने के प्रपंच? आत्मकथा में ऐसे अनेक प्रसंग है जहाँ लेखक ने स्त्रियों द्वारा स्वयं पर आकर्षित होने को उजागर किया है।

आत्मकथा में लेखक द्वारा मदमाती, उफनाती, चिंतामुक्त दिखती और महकती औरतों को नकारने की वर्जना से मुक्त होने का प्रसंग एक ऐसे कमलेश्वर को सामने लाता है जिसे अनेक स्त्रियों के सौन्दर्य में डूबने और फिर डूबकर पार आने की पूरी कला का ज्ञान है।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में प्रेम और विवाहेतर संबंधों के बखान के दौरान स्त्री देह का प्रसंग आते ही उसकी माँसलता का भी खूब बखान किया गया है। मोहनदास नैमिशराय ने ऐसे ही एक प्रसंग में लिखा है "मुंबई से वापस लौटना मेरे लिए दुखद था पर ताई माँ के लिए सुखद। उनके मन में मेरे लिए जिज्ञासा भाव थे। मैं उनके लिए चिड़िया घर से भागा हुआ कोई जीव बन गया था। एक ही पखवाड़े में उनके और मेरे बीच कुछ फर्क आ गया था। वह फर्क मैंने महसूस किया था। बस्ती की लड़कियां मुझे बंबई का बाबू कहने लगी थीं। मुझसे कुरेद–कुरेद कर वे वहाँ की बातें पूछतीं। जवाब में सच भी बोलता और झूठ भी। सभी कुछ न कुछ पूछताछ करते। पर वह कुछ नहीं पूछती थी। उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया था। तन में भी और मन में भी। उसके शरीर में भराव हो गया था। उसकी छातियां सुडौल और भारी हो गई थीं। उसके भीतर जैसे रस भर आया था। उसके अंग–अंग से मादकता छलकने लगी थी। उसके होठों को पहली बार रसमय होते देखा था मैंने। नाम भी तो उसका रसवंती था। उसकी हथेली और पैरों की एड़ियों में अभी भी मेहंदी की सुर्खी थी। ... जब–जब भी उसकी चूडियां खनकती मेरे भीतर बेचैनी उभरती। वह पूरा दिन मेरे लिए गहमागहमी का रहा। मेरे भीतर कशमकश भी रही। मैं समंदर के बीच से लौटा था और उस झील में डूबना चाहता था। समंदर न सही, झील ही सही पर उस झील में अब मेरी हिस्सेदारी न थी। वह किसी और की हो गई थी।"[128]

दरअसल पुरुष के जीवन में स्त्रियों की उपस्थिति देह की परिधि से कम ही उबर पाई है। मोहनदास नैमिशराय की यह स्वीकारोक्ति है कि 'मैं समंदर के बीच

से लौटा था और उस झील में डूबना चाहता था'। स्पष्ट है कि उस विवाहिता स्त्री रसवंती के शरीर के प्रति लेखक के मन में आकर्षण था लेकिन उसे प्राप्त न कर पाने की कुंठा भी। निश्चय ही इस तरह का आकर्षण प्रेम की परिभाषा के दायरे में नहीं आ सकता है। यह विशुद्ध रूप से दैहिक आकर्षण है जो उस स्त्री के साथ लेखक द्वारा शारीरिक संबंध बनाने की चाह को व्यक्त करता है। किसी दूसरे की पत्नी के बारे में यह कहना कि 'उसकी छातियां सुडौल और भारी हो गई थीं...', लेखक की दृष्टि को दर्शाता है जिसमें यौन–कल्पना का भी समावेश है और 'उस झील में अब मेरी हिस्सेदारी ना थी', लेखक की अतृप्त यौन कुंठा की ही शाब्दिक अभिव्यक्ति है।

मोहनदास यहीं नहीं रुकते हैं। रसवंती के बाद उनकी निगाह विमला पर पड़ती है – "विवाह से डेढ़–दो बरस पहले उससे मेरी पहली मुलाकात हुई। यह मिलना अचानक नहीं बल्कि व्यवस्थित रुप में हुआ। जैसे उससे मेरी मुलाकात होना निश्चित था। वैसे सब कुछ पूर्व निश्चित होता नहीं। इस घटना चक्र में कौन किसके साथ कहाँ और कब उलझ जाए। किसी को मालूम नहीं होता। वह बात अलग है कि हमारे ही बीच अधिकांश लोग भाग्य और भगवान के भ्रम में इस तरह की अटकलें लगाते हैं। पर मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा। वह यानी विमला तृप्ती नहीं। रसवंती की तरह न तो उसकी आंखें मोटी–मोटी थीं और न वह स्वयं। उसकी छातियों में उभार भी न था। हालांकि वह सोलहवें बरस को पार कर गई थी। उसके होंठ पतले और नर्म थे। वह दुबली–पतली स्कूल जाने वाली लड़की थी। वह बोलती तो लगता जैसे कोई नन्ही चिड़िया चहक रही हो। पहली बार मैंने उसे देखा तो मेरे भीतर हूक सी हुई। और वही बौराया सा मन उसकी ओर आकर्षित हुए बिना न रह सका। बाद के दिनों में उसके प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया।"[129] यह वर्णन प्रेम और विवाह के दरम्यान लेखक की अतृप्त यौन कुंठाओं का प्रदर्शन है। यह बात और भी महत्त्वपूर्ण तब हो जाती है जब खुद नैमिशराय सूरजपाल चौहान पर पाठकों के सामने निजी संबंधों का नंगा नाच करने का आरोप लगा चुके हैं। 'छातियों में रस भर जाना' और 'छातियों में उभार न होना' से लेखक किस स्त्री दृष्टि का परिचय दे रहा है, समझना मुश्किल नहीं। यह सिर्फ दो वयस्क शरीरों की स्थूल तुलना मात्र है, दो व्यक्तित्वों की तो कदापि नहीं।

इसके उलट तुलसीराम की आत्मकथा के दोनों भागों में जीवन के सर्वाधिक स्पृहणीय भावना के सहज विकास का कोमल चित्रण मिलता है। तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा में एक कवि की भाषा गद्य में उतार दी है और उसी तीव्रता के साथ उन्होंने प्रेम के फूटते अंकुरों को संजोया है। एक लड़की जो कलकत्ते से

बीएचयू में बी.ए. की परीक्षा देने आई थी, से तुलसीराम का मिलना होता है। वह अपनी पढ़ाई के सिलसिले में उनसे कुछ मदद माँगने आई थी। पहली मुलाकात का इतना सहज और मार्मिक वर्णन कम ही देखने को मिलता है। वे लिखते हैं "उसने कहा कि इंग्लिश और पॉलिटिकल साइंस का कोर्स समझ में नहीं आ रहा। करीब आधे घंटे तक वह दरवाजे के बीच खड़ी होकर बातें करती रही और मुझसे पढ़ाई में सहायता करने को कहा। सहायता की बात सुनकर मैं उत्तेजित हो गया था। मैंने कहा कि जो कुछ पढ़ता हूँ उसे आपको बता दूंगा। किंतु पॉलिटिकल साइंस मेरा विषय नहीं है, फिर भी किताब से पढ़कर समझा सकता हूँ। कल से हमारी पढ़ाई शुरू होगी, ऐसा कहकर वह अपना नाम बिना बताए वापस मुड़ गई। बाहर झांकने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ी, किंतु सोचता रहा कि उसका नाम क्या होगा? उस रात कुतूहलवश न तो सो पाया और न कुछ पढ़ पाया। कल्पना का पहाड़ निर्मित होता रहा। बार–बार यह ख्याल आता कि यदि उसका नाम मालूम होता, तो उसे संबोधित करके शेक्सपीयर, मिल्टन, बर्नाड शा, कीट्स, शैली आदि जो भी कोर्स में थे, उनके लेखन पर चर्चा करता। यद्यपि ये चर्चाएं अगले दिन से ही शुरू होने वाली थीं, फिर भी ऐसा लगता था कि सब कुछ उस रात में ही संभव हो जाए, तो कितना अच्छा होता, भले ही कल्पना में ही सही। उसने दरवाजे में जिस तरह खड़ी होकर पढ़ाई में मदद माँगी थी, मैंने महसूस किया था कि जैसे कोई ताजा फूलों का गट्ठर खुद पैदल चलकर आया हो, जो हवा के झोंकों से अचानक उड़ गया। इसके पहले इतना लगाव किसी से नहीं हुआ था, शायद बुद्ध से भी नहीं। उस रात उसके द्वारा बोले गए सारे शब्दों को दोहराता रहा।"[130]

अधिकांश अवसरों पर पुरुष आत्मकथाकार स्त्री से संसर्ग का वर्णन करने में एक उतावलापन दर्शाते हैं। अक्सर यह उतावलापन प्रेम के स्वाभाविक विकास की जगह दैहिक मांसलता को उभारने के कारण उपजता है। तुलसीराम के वर्णन में प्रेम की सहजता के साथ संबंधों का सम्मान और औदात्य भी है। स्त्री के संग प्रेम प्रसंगों में शास्त्रीय और छिछले हो जाने वाले दो ध्रुवों के बीच उन्होंने बौद्ध प्रेरणा से मध्यम मार्ग चुन लिया है। वे अपने औदात्य में न तो शास्त्रीय होते हैं न बेहद छिछले। स्वाभाविकता का दामन पकड़े उन्होंने अपनी प्रेम कथा रची है। नाम लेकर संबंधों का बखान करना छिछलापन भी हो फिर भी बिना नाम लिए ही कथा का जो औदात्य है वह साहित्य को वैयक्तिक से सार्वभौम कर देता है। यह एक तकनीक भी है और एक चारित्रिक विशिष्टता भी। तुलसीराम ने भी अपनी प्रेयसी का नाम सार्वभौम कर दिया और नाम रखा 'उत्पलवर्णा'। तुलसीराम ने अपने प्रेमाख्यान के द्वितीय पर्व का वर्णन कुछ इस तरह किया है "दूसरे दिन करीब दस बजे वह पिछली शाम की ही तरह दरवाजे पर खड़ी होकर अंदर आने की बात कहने लगी।

उसके हाथ में सारे विषयों के पाठ्यक्रम थे। वह अंदर आकर मेरी चारपाई पर गोड़वारी बैठ गई और मैं मुडवारी। उसने कहा कि पाठ्यक्रम एकदम समझ में नहीं आ रहा। मैं उसकी सारी बातें सुनता जा रहा था, किंतु मेरा ध्यान उसका नाम क्या होगा, पर लगा हुआ था। उस समय तक मैं बौद्ध साहित्य में वर्णित एक बुद्धकालीन बौद्ध भिक्षुणी उत्पलवर्णा (उत्पलबन्ना) के बारे में पढ़ चुका था कि वह अपने जमाने की अत्यंत सुंदर युवती थी, जो अनगिनत राजकुमारों के विवाह प्रस्ताव से ऊबकर बुद्ध की शरण में जाकर भिक्षुणी बन गई थी, किंतु उसकी याददाश्त बहुत कमजोर थी, इसलिए बुद्ध स्वयं उसकी शिक्षा दीक्षा का कार्य करते थे। मुझे उसका नाम पूछने में हिचक हो रही थी, किंतु दिमाग में यह बात बार–बार आती थी कि उसका चाहे जो भी नाम हो, मैं उसे 'उत्पलवर्णा' ही जानूंगा।"[131]

अशोक वाजपेयी ने अपनी आत्मकथा 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' में अपने पहले प्रेम के आवेश में कविता लिखने का तो जिक्र किया है लेकिन प्रेमिका को कोई साकार रूप नहीं दिया है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है "प्रेम कविताओं में ऐन्द्रिकता का रंग कुछ और गहरा हो उठा है और कामना की विकल तद्भवता घटती है प्रेम के तत्सम संसार में।"[132] लेखक द्वारा कविताओं में शरीर की उपस्थिति और सक्रियता का निसंकोच स्वीकार स्त्री के प्रति लेखक के दैहिक और शारीरिक आकर्षण का ही उद्घाटन है। आत्मकथा में उल्लिखित एक प्रसंग में लेखक द्वारा अपने प्रेम को अवैध की श्रेणी में खड़े करते हुए उसका गोपन अनेक प्रश्नचिह्न खड़े करता है। सवाल यह उठता है कि क्या यह लेखक के मध्यवर्गीय संस्कारों की देन है जिसके कारण वह इस प्रेम को सार्वजनिक करने से कतराता रहा? वास्तविकता यह है कि प्रेम कभी वैध या अवैध नहीं होता फिर लेखक ने अपने इस प्रेम को अवैध के कठघरे में खड़ा कर उस पर मौन का पर्दा क्यों डाल दिया? लेखक द्वारा स्त्री के शारीरिक सौंदर्य और प्रेम पर लिखी कविता का एक उदाहरण –

"तो जानती है क्या देती हैं तेरी आँखें,
तेरे अनावृत उरोज और सिहरता कनकतन।
X X X
वैसे ही जैसे तुझे रहने दूंगा कपड़ों में
तब तक जब तक मेरी शरीर को
अपनी वासना से सुंदर और उत्सुक नहीं कर लेता..."[133]

अशोक वाजपेयी द्वारा प्रेम के प्रति अपनी उत्सुकता की परिणति स्त्री के शारीरिक अंगों के माध्यम से करना, प्रेम से कहीं अधिक उनके दैहिक आकर्षण को उजागर करता है। उन्होंने जिस उत्सुकता की बात की है वह है स्त्री के शरीर को जानने,

देखने और समझने की जिज्ञासा। यही कारण है कि स्त्री की मादकता, ऐंद्रिकता उनको हमेशा से आकर्षित करती रही है। आश्चर्य होता है कि सब कुछ देने के बदले, सब कुछ लेने की तर्ज पर प्रेम करने वाला लेखक आत्मकथा में अपने प्रेम को ही स्थान नहीं दे पाया!

प्रेम को पवित्रता की श्रेणी में रखनेवाले और वासना से परे प्रेम को ईश्वर मानने वाले साहित्यकार राजेंद्र यादव के प्रेम का आरंभ गुरु, शिष्य की परंपरा में होता है। ट्यूशन पढ़ाने के माध्यम से राजेंद्र यादव 'मीता' के संपर्क में आते हैं। यही संपर्क धीरे–धीरे प्यार में बदल जाता है। आत्मकथा में राजेंद्र यादव ने लिखा है "निम्नवर्गीय खुरदरेपन के बावजूद मुझे वह 'असाधारण' लगती थी। इसी ने उसे दृढ़ता और आत्मविश्वास दिए। परम सुंदरी नहीं थी मगर व्यक्तित्व में तेज था।"[134] प्रेमिका को परिणीता की शक्ल में नाम ढ़ालने की चाह रखने वाली 'मीता' के साथ राजेंद्र यादव अजीवन प्रेम के बंधन में बंधे रहे। 'मीता' जो राजेंद्र यादव के साथ प्रेम जैसे पवित्र रिश्ते में बंधकर आजीवन अविवाहित रही। यहाँ 'मीता' का प्रेम निस्वार्थ है, राजेंद्र यादव का नहीं। राजेंद्र यादव तो एक ओर प्रेमिका और दूसरी ओर मन्नू से विवाह कर दोनों नावों को साधने का काम कर रहे थे। यदि 'मीता' के प्रति राजेंद्र का प्रेम सच्चा था तो मन्नू से विवाह क्यों किया? प्रेम को विवाह की परिधि से दूर रखने वाले राजेंद्र यादव 'मीता' की तरह अपने प्रेम के प्रति समर्पित क्यों नहीं हो पाए? मीता ने तो अपनी मोहब्बत को ही जिन्दगी माना।

आत्मकथा में राजेंद्र यादव ने अपनी प्रेमिका को जिस 'मीता' नाम से संबोधित किया है वह उसका वास्तविक नाम न होकर लेखक का दिया हुआ नाम है। मैत्रेयी पुष्पा ने इसी प्रसंग को उठाते हुए 'वह सफर था कि मुकाम था' में लिखा है "मैं सोचने लगी हूँ, राजेंद्र जी ने इसका असली नाम क्यों छिपाया? मन्नू दी ने भी उनको 'मीता' ही लिखा है। दलील यह है कि उनकी बदनामी होगी। अरे जिसने मोहब्बत में जीवन होम कर डाला, उसको बदनामी डराएगी? ... जिसका नाम फख्र से लेना चाहिए था, उसको छिपाकर क्या सिद्ध किया? क्या आपका दाम्पत्य उसकी प्रेम तपस्या से भयभीत होने लगा?"[135] न जाने कितने लांछनों, आरोपों को सहा होगा उस प्रेम दीवानी ने? अविवाहित पुरुष को समाज ब्रह्मचारी कहता है लेकिन अविवाहित स्त्री तमाम लांछनों के घेरे में खड़ी कर दी जाती है। प्रेमी के लिए जीवन भर उपस्थित रहने वाली 'मीता' के अविवाहित होने का एक कारण अपने प्रेम को आजीवन बनाए रखना भी है। क्योंकि विवाह के बंधन में पड़कर वह प्रेमी से मिलने आदि की छूट नहीं पाती। आत्मकथा में राजेंद्र यादव ने लिखा है "मैंने उसे कहाँ–कहाँ नहीं बुलाया। रात–बेरात, जगह–बेजगह वह उपस्थित रही है।"[136]

एक ओर 'मीता' का पूर्ण समर्पण और दूसरी ओर राजेंद्र यादव की स्त्री–शरीर को जानने की उद्दाम लालसा। राजेंद्र यादव द्वारा एक अज्ञात महिला के द्वारा भेजे पत्र में मिलन की इच्छा को स्वीकारना और "गले में हाथ डालकर निस्संकोच बार–बार चूमना। उसे घर का काम करते हुए देखना ऐसा ही था जैसे मंच पर सब कुछ हो रहा हो। सपने की अवास्तविक दुनिया जैसा।"[137] यह लेखक कि यौन कुंठा है या स्त्री–शरीर के प्रति उत्सुकता या स्त्री–संबंधों को संगीत की लय की तरह ताजगी मानने वाली मानसिकता? महिलाओं के प्रति आकर्षित होने की प्रवृत्ति को स्वीकारने के बावजूद भी लेखक द्वारा अपने जीवन में आई स्त्रियों के साथ संबंधों के मामले में स्वयं को दोषरहित और बतौर शोषित के तौर पर पेश करना "मूल और स्थाई संचालक शक्तियां क्या यही चार–पाँच महिलाएं हैं और इन्हीं के इशारों पर मैं मरघट की नाईं नाचता रहा हूँ।"[138] यह लेखक की शारीरिक अपंगता से उपजी कुंठा है या नित नए प्रेम संबंधों को तलाशने की लालसा?

विष्णु प्रभाकर ने अपनी आत्मकथा में प्रेम के विषय में लिखा है "मैं कहता हूँ जीवन और मरण क्यों, प्रेम तो भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच के अंतर को भी नहीं पहचानता क्योंकि वह कालातीत है, शब्दातीत है। वही कालातीत शब्दातीत प्रेम मेरा कवच है और रहेगा।"[139] यह प्रेम लेखक का अपनी पत्नी से प्रेम है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है कि उनकी पत्नी में प्यार करने की अद्‌भुत क्षमता के साथ स्वाभिमान की अक्षुण्ण भावना भी थी। यहाँ दैहिक संबंधों से परे भावनाओं से भावनाओं के मिलन का प्रेम है।

दरअसल प्रेम में हमें वह नहीं मिलता है जिसकी हमें लालसा होती है बल्कि वही मिलता है जिसके हम योग्य होते हैं। अगर वह सचमुच साहचर्यजनित और निर्व्याज प्रेम है तो वह अपने सबसे कठिन क्षणों में सर्वाधिक घनीभूत रुप में उपजता है। अगर प्रेम संबंधों के सहज साहचर्यजनित विकास को देखना हो तो तुलसीराम की आत्मकथा एक निकष हो सकती है। मणिकर्णिका का एक प्रसंग है जिसमें तुलसीराम बीमार अवस्था में बीएचयू के अस्पताल में पड़े थे और उनकी सहचरी जिसे वे 'उत्पलवर्णा' कहा करते थे, उनसे मिलने आती है। उस दौरान वे कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक सदस्य हो चुके थे तथा सिरहाने कोई न कोई लाल किताब अनिवार्य रूप से रहा करती थी। आत्मकथा में तुलसीराम लिखते हैं "अस्पताल में लेटे–लेटे मेरे हाथ में जब भी कोई किताब देखती, उत्पलवर्णा उसे छीनकर बेड के पास सामान रखने वाले छोटे से रैक में डाल देती। उसने पहली बार जिस किताब को छीना था, उसका नाम था 'स्टेट एंड रिबोलूशन' जिसे लेनिन ने लिखा था। किताब छीनते समय उसने कहा था कि जब तक अस्पताल में हैं, तब

तक बिना कुछ पढ़े मूर्ख बने रहिए। उसकी इस आत्मीयता ने मस्तिष्क को छू लिया था। एक दिन एक नर्स मुझे व्हीलचेयर पर बिठाकर इंजेक्शन रूम में ब्लड टेस्ट के लिए ले गई। उस दिन खूब ठंडी हवा चल रही थी। व्हीलचेयर पर मैं ज्यों ही ब्लड देकर बाहर निकला, उत्पलवर्णा अपना दुपट्टा मुझे ओढ़ाने के लिए दौड़ पड़ी। मुझे उस समय ऐसा लगा मानो मैंने एक नई जिंदगी ओढ़ ली। वह बड़ा ही मार्मिक पल था। वह मार्मिकता मेरे मस्तिष्क पर हमेशा के लिए आरूढ़ हो गई। इस घटना ने मुझे उत्पलवर्णा को कभी भी नहीं भूल पाने की स्थिति में पहुंचा दिया।"[140] यह प्रसंग इसलिए भी मार्मिक है क्योंकि यह वही उत्पलवर्णा थी जिसका तुलसीराम से पहला परिचय ही किताबों के जरिए हुआ था। तुलसीराम कहते हैं कि उसे देखकर उन्हें बौद्ध साहित्य की एक नायिका 'उत्पलबन्ना' की याद हो आई थी कि कैसे वह कई राजकुमारों के विवाह प्रस्ताव से उकता कर बौद्ध भिक्षुणी बन बुद्ध की शरण में चली आई थी।

साहित्य में प्रेम की सर्वोच्च कोटि वही है जिसमें उसके पल्लवन की प्रक्रिया साहचर्य से विकसित हुई हो। उत्पलवर्णा प्रसंग 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' के नायक हीरामन की याद दिलाता है जब तुलसीराम को पढ़ाने के बदले उत्पलवर्णा फीस देने की बात करती है और तुलसीराम सकुचा जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे हीरामन को हीराबाई से बख्शीश लेने में संकोच हुआ था। हीराबाई ने जब हीरामन को 'मीता' कहकर संबोधित किया था तभी से उसके संबंध एक गाड़ीवान और सवारी से कहीं आगे बढ़ गए थे। ठीक यही तुलसीराम के साथ हुआ।

प्रेम यदि शाश्वत भाव है और उसमें अलौकिकता है तो उसे शारीरिक संबंधों में बांधकर शरीर तक सीमित क्यों कर दिया जाता है? पुरुषों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में यह सामने आया है कि कई बार आत्मकथाकार शारीरिक प्रलोभन के चलते प्रेम की झूठी दलीलें देता है। शारीरिक मांसलता में सौन्दर्य की तलाश करने वाले प्रेम को क्या निःस्वार्थ और सच्चे प्रेम की कोटि में रखा जाएगा? प्रेम के मामले में पुरुषों की दृष्टि को उजागर करती ये आत्मकथाएं 'प्रेम' और 'वासना' में फर्क भी सिखाती हैं।

सन्दर्भ

1. कल्याण (नारी अंक) सं. 2072, पृ. 208
2. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 21
3. वही, पृ. 14
4. उमा चक्रवर्ती – जाति समाज में पितृसत्ता, पृ. 73
5. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 100
6. मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 50
7. मैत्रेयी पुष्पा – सुनो मालिक सुनो, पृ. 119
8. अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान, पृ. 34
9. नारी अंक – कल्याण पत्रिका, पृ. 159
10. अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान, पृ. 34
11. वही, पृ. 17
12. नारी अंक, पृ. 221
13. अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान, पृ. 90
14. वही, पृ. 90
15. वही, पृ. 93
16. वही, पृ. 219
17. वही, पृ. 227
18. नारी अंक, पृ. 300
19. हंस, फरवरी, 2012, पृ. 2
20. कमलेश्वर – जो मैने जिया, पृ. 27
21. वही, पृ. 119
22. वही, पृ. 120
23. वही, पृ. 137
24. कमलेश्वर – यादों के चिराग, पृ. 29
25. वही, पृ. 54
26. हंस, मई 2012, पृ. 84
27. कमलेश्वर – यादों के चिराग, पृ. 47
28. वही, पृ. 120
29. वही, पृ. 69–70
30. वही, पृ. 70
31. वही, पृ. 138
32. वही, पृ. 149
33. कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 65
34. वही, पृ. 146
35. वही, पृ. 116
36. वही, पृ. 173

37. कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 45
38. वही, पृ. 55
39. वही, पृ. 115–116
40. वही, पृ. 119
41. वही, पृ. 120
42. वही, पृ. 109–110
43. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ. 11
44. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 13
45. वही, पृ. 20
46. वही, पृ. 37
47. वही, पृ. 132
48. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 80
49. वही, पृ. 99
50. भगवतीचरण वर्मा – कहि न जाए का कहिए, पृ. 113
51. वही, पृ. 78
52. वही, पृ. 169
53. वही, पृ. 113
54. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 34
55. वही, पृ. 35
56. वही, पृ. 25
57. वही, पृ. 53
58. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 26
59. वही, पृ. 26
60. वही, पृ. 37
61. वही, पृ. 75
62. वही, पृ. 77
63. वही, पृ. 77
64. वही, पृ. 77
65. वही, पृ. 162
66. वही, पृ. 162
67. विष्णु प्रभाकर – मुक्त गगन में, पृ. 85
68. वही, पृ. 104
69. वही, पृ. 41
70. विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 11
71. वही, पृ. 22
72. वही, पृ. 100
73. डॉ. तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 13
74. वही, पृ. 80
75. वही, पृ. 114

76. डॉ. तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 25
77. नारी अंक, पृ. 294
78. डॉ. तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 76
79. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 77
80. राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 254
81. कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 20
82. कमलेश्वर – यादों के चिराग, पृ. 14–15
83. वही, पृ. 12
84. कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 116
85. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ. 18–19
86. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 13
87. वही, भाग–2, पृ. 40
88. अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 18, 55, 76
89. वही, पृ. 24
90. वही, पृ. 146
91. भगवतीचरण वर्मा – कहि न जाए का कहिए, पृ. 13
92. वही, पृ. 38
93. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 13
94. सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 29
95. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 87
96. डॉ. तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 63
97. कमलेश्वर – यादों के चिराग, पृ. 10
98. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 25
99. राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 68
100. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 76
101. अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान, पृ. 40
102. वही, पृ. 46
103. कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 136
104. कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 178
105. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 115
106. भगवतीचरण वर्मा – कहि न जाए का कहिए, पृ. 78
107. राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 49
108. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 157
109. जॉन स्टुअर्ट मिल – द सब्जेक्शन ऑफ विमैन, पृ. 87 (अनु. युगांक धीर)
110. अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान, पृ. 44
111. कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 88
112. वही, पृ. 87
113. वही, पृ. 116

114. उमा चक्रवर्ती – जाति समाज में पितृसत्ता, पृ. 39
115. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 94
116. अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 284
117. भगवतीचरण वर्मा – कहि न जाए का कहिए, पृ. 49
118. मैत्रेयी पुष्पा – वह सफर था कि मुकाम था, पृ. 47
119. सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 103
120. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 155
121. विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 191
122. विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 195
123. विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 185
124. मैत्रेयी पुष्पा – आवाज, पृ. 129
125. तहलका, जनवरी 2014, वर्ष 6, अंक–1, मन्नू भंडारी का 'कितने कमलेश्वर'! नाम से लेख, पृ. 1
126. वही, पृ. 13
127. कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 139–140
128. मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 7
129. वही, पृ. 100–101
130. तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 189, 190
131. वही, पृ. 190
132. अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 30
133. वही, पृ. 24
134. राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 114
135. मैत्रेयी पुष्पा – वह सफर था कि मुकाम था, पृ. 56
136. राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 117
137. वही, पृ. 112
138. वही, पृ. 151
139. विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 199
140. तुलसीराम – मणिकर्णिका, 192–193

अध्याय तीन
हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन

(क) बचपन : निर्मिति और परिवेश

(ख) प्रेम, विवाह और दाम्पत्य

(ग) मातृत्व : अनिवार्यता बनाम स्वेच्छा

(घ) पितृसत्ता के दंश

(च) आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न

हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन

आत्मकथा अपने आपको देखने का एक अनुभव है जिसमें किसी प्रकार की चकाचौंध न होकर जीवन की वास्तविकता निहित होती है। स्त्री की आत्मकथा उसके जीवन–संघर्ष का एक माध्यम भी है। शोषण और अन्याय के चक्रों को दिखातीं स्त्री आत्मकथाएं असमानता के तमाम स्तरों का पर्दाफाश करती हैं। ये आत्मकथाएं समाज के पक्षपातपूर्ण व्यवहार को सामने लाकर अनेक सवाल भी खड़ा करती हैं। यह समाज जन्म लेने वाली संतान को किस प्रकार पुत्र–पुत्री के खांचों में विभक्त कर जीवन जीने का पैमाना निर्धारित करता है। स्त्री अपने पूरे जीवनभर तमाम बंधनों और रिश्तों में बंधी होती है। सवाल यह उठता है कि पुरुष के लिए रिश्तों के बंधनों की अनिवार्यता में ढ़लना आवश्यक क्यों नहीं माना जाता? हर समर्पण की आकांक्षा स्त्री से ही क्यों? शिक्षित और आत्मनिर्भर होने के बावजूद घर संभालने की पूरी जिम्मेदारी स्त्री से ही क्यों? स्त्री से सेवा और समर्पण की माँग करने वाला पुरुष स्त्री के प्रति समर्पित क्यों नहीं हो पाता? जन्म लेने वाली पुत्री समाज के पूर्वनिर्धारित शिंकजों में कस दी जाती है और किस प्रकार उसके जीवन को एक निश्चित दिशा में ढ़ाल दिया जाता है। इन तमाम प्रश्नों की अनुगूंज हमें इन स्त्री आत्मकथाओं में देखने को मिलती है।

स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन एक जोखिम भरा कार्य है। स्त्री आत्मकथाकार जब अपने जीवन के बारे में अपनी कथा को समाज के सामने रखती है तो उसके सामने कुछ नैतिक और सामाजिक मर्यादा के दबाव भी होते हैं। भारतीय समाज में लोग अभी भी एक लेखिका की सहज स्वीकारोक्ति और जीवन के सच को ईमानदार अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकने की स्थिति में नहीं है। ऐसे में अनेक प्रसंगों का यथार्थ चित्रण लेखिका के सामाजिक सम्बन्धों और जीवन में असुविधा पैदा कर सकता है। कई बार स्त्री आत्मकथाकारों पर अश्लीलता तक के आरोप लगा दिए जाते हैं। सवाल यह उठता है कि जीवन के जिन बीहड़ों से एक स्त्री का स्वत्व टकराया हो, वह आत्मकथा में अनुपस्थित कैसे रह सकता है। समाज यदि स्त्री के सामने अश्लीलता परोसेगा तो जाहिर है कि स्त्री उसे अपने जीवन की कथा में दर्ज करेगी। स्त्री अपनी आत्मकथा में रिश्तों और जज्बातों के अन्तःसंबंधों की हकीकत को सामने रखती है। समाज यदि स्त्री को देह के आधार पर नापेगा तो स्त्री उस दैहिक और शारीरिक दृष्टि की आलोचना करेगी ही। स्त्री यदि देह के आधार पर गढ़ी गई स्त्री की छवि की अनेक पर्तों को उघेड़ती है तो यह कोई कल्पना नहीं बल्कि समाज और जीवन का सच है।

राह चलती स्त्री पर न जाने कितनी आँखें टिकी होती हैं? अपनी जीवन यात्रा के माध्यम से स्त्री अनुभवों की सच्चाई और यथार्थ को हमारे सामने रखती है। स्त्री यदि अपने शारीरिक सम्बन्धों के बारे में लिखती है तो उसे फूहड़ता क्यों मान लिया जाता है? सवाल उठता है कि सम्बन्ध बनाने वाले पुरुष को यह समाज बाइज्जत बरी कर स्त्री को कठघरे में क्यों खड़ा कर देता है? पुरुषों को स्त्रियों से शारीरिक सम्बन्ध बनाने की तो छूट है लेकिन यदि स्त्री उन सम्बन्धों को उजागर करे तो नैतिकता, मर्यादा आड़े क्यों आ जाती है? पुरुषों को 'सेक्स' करने की छूट है लेकिन यदि स्त्री 'सेक्स' के बारे में लिखती है तो उसे अनैतिक क्यों मान लिया जाता है? जो जैसा है, उसे वैसा ही पेश करने में शालीनता की दीवारें आड़े क्यों आ जाती हैं? सवाल उठता है कि टाट को रेशम क्यों कहा जाए? स्त्री यदि अपने ही पति की असलियत को उजागर कर उसे कठघरे में खड़ा करती है तो उसे चरित्रहीन क्यों करार दिया जाता है? अपने प्रति की गई हिंसा और यौन–उत्पीड़न को स्त्री पति–पत्नी के सम्बन्धों की आड़ में शालीनता की चादर से क्यों ढ़के? समाज की सच्चाई पर पर्दा डालने से क्या सम्बन्धों के बेहतर भविष्य की कल्पना की जा सकती है? स्त्री यदि देह की अश्लीलता को सामने रखती है तो जीवन में न जाने कितनी बार वह अपने प्रति किए गए अश्लील व्यवहार से गुजरती भी है। अपने रोजमर्रा के जीवन में स्त्री न जाने कितनी बार देह के आधार पर गढ़ी छवियों से साक्षात्कार करती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि जमाने की करवट के साथ स्त्री के प्रति अदब की करवटें भी बदलनी चाहिए। स्त्री आत्मकथाएं समाज का एक ऐसा आईना है जिसमें समाज अपनी वास्तविक तस्वीर देख सकता है। यदि बुरी सूरत वाले को उस आइने से ही शिकायत हो तो इसमें उन स्त्री आत्मकथाकारों का क्या दोष? अपने ही पति द्वारा अन्य स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाते हुए देखने वाली पत्नी से यह समाज मौन की आकांक्षा क्यों रखता है? स्त्री आत्मकथाएं सम्बन्धों की नग्न सच्चाई को हमारे सामने रखती हैं। अपने स्वत्व के लिए संघर्ष करती ये आत्माभिव्यक्तियाँ समाज को स्त्री को मनुष्य समझने का संदेश भी देती हैं।

इस अध्याय में कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, पद्मा सचदेव, कौसल्या बैसंत्री, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा, सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाओं को केन्द्र में रखकर स्त्री–जीवन के विभिन्न पक्षों को खोजने की कोशिश की गई है। एक स्त्री का अनुभव–संसार पुरुष की तुलना में विस्तृत और व्यापक होता है। अपने जीवन में घटित घटना को एक स्त्री आसानी से नहीं भुला पाती है। पिता के घर में बेटी के रूप में जन्मी स्त्री अपने मायके से जुड़ी हरेक घटना और अनुभव को याद रखती है। पिता के घर से पति के घर में विस्थापन

भी उसे जीवनभर याद रहता है। जन्म लेने वाली बेटी धीरे–धीरे यह जानने लगती है कि बड़े होकर उसे इस घर से विदा होना है। इसलिए वह अपने जीवन के हरेक क्षण को संजोकर रख लेना चाहती है। वहीं दूसरी ओर पुरुष के मन में निश्चिन्तता का भाव होता है। पुरुष के लिए एक घर से दूसरे घर में विस्थापन का प्रश्न ही नहीं होता है। अतः वह घटनाओं और अनुभवों को स्त्री की अपेक्षा कम महत्त्व देता है। एक स्त्री बेटी, पत्नी और मां की भूमिकाओं और अनुभवों से गहरे स्तर तक जुड़ी होती है। यौन–शोषण से गुजरने वाली स्त्री जीवनभर उस अनुभव को नहीं भुला पाती। उसका प्रभाव उसके शरीर के साथ ही मन पर भी पड़ता है। यौन–शोषण से जुड़ी घटनाओं के परिणाम भी स्त्री को पूरे जीवनभर भुगतने पड़ते हैं। इस अध्याय में स्त्री–जीवन के विभिन्न रूपों – बचपन, प्रेम, विवाह और दाम्पत्य, मातृत्व, आर्थिक आत्मनिर्भरता, पितृसत्ता के दंशों आदि को स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में खंगालने की कोशिश की गई है। एक स्त्री का जीवन किन–किन नैतिकताओं और मर्यादाओं के घेरे में जकड़ा होता है, इसका अहसास हमें इन आत्मकथाओं को पढ़कर हो जाता है। एक पिता की 'राजकुमारी' कही जाने वाली बेटी पति की 'अर्द्धांगिनी बनकर किन–किन भूमिकाओं का निर्वहन करती है, उन भूमिकाओं और दायित्वों का प्रत्यक्ष अंकन हमें इन आत्मकथाओं में देखने को मिलता है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने आत्मकथा के विषय में लिखा है, "आत्मकथा स्वीकारने–अस्वीकारने या वाद–विवाद का मंच नहीं। जो जिस पर बीता सो बीता और उसे उसने व्यक्त भी किया। जो जहां बीता उसे यदि कोई नहीं रोक सका तो उसे व्यक्त करने पर जिरह क्यों? अपनी बुद्धि विवेक के सहारे सभी प्राणी सुखी–संतुष्ट जीवन तो जीना ही चाहते हैं न। कोई भी वीरानगी, धोखा, विश्वासघात आदमी स्वयं आमंत्रित नहीं करता न ही अपने फोड़ों से मवाद बहाना सुखकर स्थिति है। मैं औरत थी, औरत हूं, औरत ही रहूंगी। मेरी शारीरिक संरचना मेरे अहं, मेरे विचार मेरे तई हैं। मैं जीती रही व जिऊंगी।"[1] स्त्री आत्मकथाएं जिजीविषा की इसी अदम्य आकांक्षा को सामने रख संघर्ष का एक इतिहास भी हमारे सामने रखती हैं। महिला आत्मकथाकारों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन व्यवस्था के तमाम बंधनों का पर्दाफाश करने के साथ ही देह व्यवस्था के नियमों–कानूनों की वास्तविकता को भी उजागर करता है।

सीमोन द बोउवार ने लिखा है, "हमने या तो स्त्री का शुद्ध मांसल देखा या फिर उसे स्वयं प्रकृति माना। वह खिला हुआ गुलाब या जलपरी या भोर का तारा है या फिर पुरुष के सम्मुख वह उर्वरा धरती है, भौतिक सौन्दर्य और जगत की आत्मा है। वह कविता है। वह इस लोक से परलोक तक ले जाने वाली एक

मध्यस्था है। प्रसाद या वेद वाक्य, ध्रुवतारा या जादूगरनी। वह अतीन्द्रिय का दरवाजा खोलती है। वह वायवीय है किन्तु स्वयं अपने लिए अपनी अन्तर्व्यापिता में खत्म होने के लिए बाध्य। यदि अपनी निष्क्रियता से वह शान्ति और संगतता पुरुष के जीवन में लाती है तो वह देवयाणी है किन्तु यदि वह इस आरोपित भूमिका के खिलाफ जाती है तो बद्धहस्त कीट है या राक्षसी। कुछ भी हो मगर पुरुष की दृष्टि में वह विशिष्ट अन्या है, जिसके माध्यम से वह स्वयं परितृप्त होता है, मुक्ति–लाभ करता है। वह पुरुष की असन्तुलित जिन्दगी का प्रतिसन्तुलन है, उसकी मुक्तिदाता है, उसकी जिन्दगी का सबसे कीमती दाव, उसका सुख।"[2] पुरुष स्त्री की संवेदना और प्रेम के पूर्ण समर्पण का आकांक्षी रहता है। स्त्री का यह पूर्ण समर्पण पुरुष के अहम् को सन्तुष्टि देता है। सवाल यह उठता है कि स्त्री की निष्ठा, भक्ति, पवित्रता... की मांग करने वाला पुरुष उसी निष्ठा, भक्ति, पवित्रता... को अपने जीवन और व्यवहार में लागू क्यों नहीं कर पाता? जब एक पुरुष स्त्री के जीवन के बारे में लिखता है तो वह स्त्री को आश्रित की भूमिका में देखता है। पुरुष के अनुसार स्त्री की उपयोगिता पुरुषों के लिए है। पुरुष यह चाहता है कि स्त्री अपनी चेतनता, शक्ति भूलकर पुरुष की भोग्या बने। वहीं दूसरी ओर जब एक स्त्री अपनी नज़र से अपने जीवन को देखती है तो अपने स्वत्व, अपने अस्तित्व के लिए वह छटपटाती है। स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में भी यही हुआ है। यहाँ स्त्री अपनी देह को, अपने वजूद को अपने नजरिए से देखती है। जहाँ एक ओर पुरुष स्त्री के जीवन को विभिन्न भूमिकाओं, खांचों में विभक्त कर उसके अस्तित्व को ही टुकड़ों–टुकड़ों में बांटकर देखता है। वहीं दूसरी ओर स्त्री विभिन्न भूमिकाओं का निर्वहन करते हुए अपने जीवन को सम्पूर्णता में देखती है। वह न तो अपने आपको देवी रूप में देखती है और न ही राक्षसी रूप में। वह अपने आपको मनुष्य रूप में देखती है। आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री समाज की प्रथाओं की दासता से मुक्ति का मार्ग भी खोजती है।

आत्मकथा के माध्यम से स्त्री जब अपने जीवन के बारे में लिखती है तो जीवन जीने के क्रम में स्त्री–जीवन के विभिन्न रूप, भूमिकाएं, दायित्व स्वयमेव ही आत्मकथा में आ जाते हैं। बचपन में पिता, विवाह के बाद पति और पुत्र का संरक्षण चारदीवारी में कैद स्त्री–जीवन पर पितृसत्ता की पहरेदारी को भी सामने लाता है। समय और समाज की बदलती परिस्थितियों में आत्मकथा के माध्यम से स्त्री अपने जीवन के अनछुए पहलुओं को सामने लाने के साथ ही स्त्री के अनकहे इतिहास को भी सामने रखती है।

(क) बचपन : निर्मिति और परिवेश

व्यक्ति के जीवन में उम्र के विभिन्न पड़ावों में बचपन अपनी खास विशिष्टता रखता है। आशा और उमंग से भरा जीवन का ऐसा हिस्सा जहाँ तनाव और चिंता का नामोनिशान भी नहीं होता। शरारत, रूठना, मनाना और जिद करने जैसी सभी क्रियाएं बचपन को जीवन और उम्र के अन्य पड़ावों से अलग करती हैं। बचपन ही वह समय है जब व्यक्ति लाभ–हानि, सुख–दुख... की चिंता किए बगैर अपनी ही मस्ती में मस्त रहता है। बचपन व्यक्ति को शारीरिक, सामाजिक और भावनात्मक सुदृढ़ता भी प्रदान करता है। बचपन के विषय में सुभद्राकुमारी चौहान की यह कविता उल्लेखनीय है –

'बार–बार आती है मुझको मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की सबसे मस्त खुशी मेरी।।
चिंता रहित खेलना–खाना वह फिरना निर्भय स्वच्छंद।
कैसे भूला जा सकता है बचपन का अतुलित आनंद?
मैं रोई, माँ काम छोड़कर आईं, मुझको उठा लिया।
झाड़–पोंछ कर चूम–चूम कर गीले–गालों को सुखा दिया।।
आ जा बचपन! एक बार फिर दे दे अपनी निर्मल शांति।
व्याकुल व्यथा मिटानेवाली वह अपनी प्राकृत विश्रांति।।'

बचपन व्यक्ति के भविष्य की वह नींव है जिस पर उसके व्यक्तित्व की निर्मिति होती है। जन्म लेने वाली संतान इस बात से अनभिज्ञ होती है कि उसे पुत्र के रूप में घर की विरासत संभालनी है या पुत्री के रूप में घर के चूल्हे–चौके की जिम्मेदारी लेनी है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने बचपन को भी लिंग के आधार पर विभाजित कर एक बेटी के बचपन को शिकंजों में कसने की कोशिश की है। पितृसत्ता के साथ–साथ सामाजिक व्यवस्था ने जातिगत भेदभाव के आधार पर बचपन को भी सवर्ण और दलित जैसे वर्गों में विभक्त किया है। पितृसत्ता जहां एक ओर बेटी को बचपन से ही संस्कारों की दुहाई देने लगती है, वहीं दूसरी ओर बेटे को जन्म से ही स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाती है। धीरे–धीरे बड़ी होती बेटी को रहने, पहनने, ओढ़ने... का तौर–तरीका सिखाया जाता है। बचपन से ही बेटी को घर की जिम्मेदारी को संभालने की सीख दी जाती है। यह जीवन का सच है कि एक बेटी का बचपन वही नहीं होता जो एक बेटे का होता है और एक दलित बच्चे का बचपन उस रूप में नहीं होता जिस रूप में एक सवर्ण बच्चे का। इसे समाज की विडंबना कहें या जीवन की विडंबना? दलित समाज में एक दलित बेटी का बचपन और अधिक अभिशाप हो जाता है।

जॉन स्टुअर्ट मिल लिखते हैं, "बहुत बचपन से सभी स्त्रियों को यह सिखाया जाता है कि उनका आदर्श चरित्र पुरुष के चरित्र से ठीक विपरीत होना चाहिए। इच्छाशक्ति और आत्मनियंत्रण नहीं बल्कि समर्पण और दूसरे के नियंत्रण के समक्ष झुक जाना उनका गुण होना चाहिए। सारी नैतिकता उन्हें बताती है कि यह महिलाओं का कर्तव्य है और सभी मौजूदा भावनाओं के अनुसार यह उनका स्वभाव है कि वे दूसरों के लिए जिएं, पूर्ण आत्मत्याग करें...। महिलाओं की बुद्धि पर साधनों के इस महान प्रभाव को हासिल कर, पुरुषों के स्वार्थी स्वभाव ने इसका पूरा–पूरा प्रयोग महिलाओं को अधीन रखने के लिए भी किया। उन्हें यह जतलाया गया कि विनम्रता, समर्पण और अपनी निजी इच्छा का पुरुष के हाथों पूर्ण अर्पण ही महिला के शारीरिक आकर्षण का आवश्यक भाग है।"[3] जिस बचपन को व्यक्तित्व संवर्द्धन का कारक माना जाता है, वह वास्तव में स्त्री को त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ाता है। पितृसत्ता जन्म से ही स्त्री को यह सिखाती है कि उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। बचपन से ही स्त्री स्वतंत्रता से वंचित रहती है। सामाजिक व्यवस्था स्त्री को बचपन से ही दूसरे को खुश करने के लिए स्वयं को वस्तु रूप में रहना सिखाती है।

बचपन की मासूमियत में प्यार की आकांक्षा निहित होती है। कुसुम अंसल का बचपन संपन्नता और वैभव से तो भरा है लेकिन वहाँ आत्मीयता का पूरी तरह अभाव है। माँ के प्यार के लिए कुसुम छटपटाती हैं। बचपन की लोरी, लाड़, प्यार, दुलार, मनुहार जैसा वहां कुछ नहीं है। मात्र ग्यारह महीने की उम्र में माँ की मृत्यु और पिता की दूसरी शादी कुसुम के अकेलेपन को और अधिक बढ़ा देती है। हंस पत्रिका में 'मेरे माहौल ने मुझे बिगाड़ा' शीर्षक नाम से प्रकाशित लेख में कुसुम अंसल लिखती हैं, "घर में पर्याप्त धन, समृद्धि होने पर भी हाथ खाली के खाली रहते हैं और अपना ही अस्तित्व रह जाता है, परिचयविहीन। ऐसे सत्य के अनुभव की पूर्व धारणा नहीं बनाई जा सकती, उसे जीकर जाना जा सकता है। पर सत्य यही था कि मेरे नाम से जुड़ा पिता का नाम भी माँ के साथ विलुप्त–सा हो गया था।"[4] एक ओर आर्यसमाजी हवन अनुष्ठानों के कठोर धार्मिक नियमों में बंधा घर का वातावरण और दूसरी ओर नई माँ द्वारा भय और अनुशासन के नियम कुसुम के बालमन को पीड़ा और अवसाद के घेरे में कैद कर लेते हैं। आत्मकथा में कुसुम अंसल लिखती हैं, "मेरे छोटे–से मस्तिष्क में अनुभवों की तह पर तह जमती जा रही थी, एक उलझन के साथ दूसरी जुड़ रही थी, कोमल से बचपन के नन्हें पलों के अनुभव बहुत बड़े थे और उनको सँभालने का सलीका भी मुझे नहीं आता था – मेरे चारों ओर जाने–अनजाने नौकरों की, दूरपार के रिश्तेदारों की रहस्यात्मक फुसफुसाती आवाजें एक ताना–बाना बुन रही थीं और मेरा समूचा भोलापन उस तंतुजाल में

उलझता जा रहा था और मैं अदृश्य डर से सहमी रहती थी। शब्द खो जाते, किसी के सामने स्कूल में या पढ़ते समय चुप लग जाती थी। परछाइयों से भी भय लगता था मुझे और मैं उस विशालकाय हवेली की जीवंतता के मध्य डरी–सहमी किसी एक अकेले कोने में चुपचाप खड़ी रह जाती।"[5]

बचपन की मासूमियत को किसी समृद्धि की नहीं बल्कि अपनेपन और प्यार की तलाश होती है। रोता हुआ बच्चा माँ के स्पर्श मात्र से ही चुप हो जाता है। कुसुम का बचपन माँ के प्यार में पलने–बढ़ने के बजाय अनुशासन और नियंत्रण में बीतता है। "ऐसी कोई दो बाँहें नहीं थीं जिन पर झूलकर सारे सवाल पूछे जा सकते थे या कोई ऐसा जो अपने स्नेहिल अंक में बैठाकर उनका समाधान कर देता, चूम लेता, ऐसा कोई नहीं था जो हमारे अपने उमड़ेपन को अपने तक लौटा सके इस शरीर में स्थापित कर सके।"[6] दस वर्ष की उम्र में अपने पिता के घर से बुआ और फूफा के घर एक गोद ली संतान के रूप में जाना कुसुम के मन में कई सवाल भी खड़ा करता है – "यहाँ मेरा एकदम राज्य था, परंतु मन के किसी कोने में मेरे भाई और उनका प्यार उदासी के एक गुब्बार की तरह उमड़ता रहता था – मुझे लगता था कि एक दर्द–सा है – एक टीस, सी है जो मेरे भीतर घर कर रही है – मन में सवाल उठता है – आखिर यह दर्द क्या है? किसी ने कहा दुख है... तो सवालिया हुआ मन पूछता, क्या होता है यह दुख?"[7] बरसात में गरजते बादलों और छम–छम करती बारिश में नहाने के लिए आकर्षित कुसुम के बालमन को चिंता की लकीर घेर लेती है, "शायद वय के उस हिस्से में प्रत्येक का व्यवहार एक जैसा होता है, पर पता नहीं क्यों मुझे महसूस होता कि मुझमें और स्कूल की अन्य लड़कियों में कुछ भिन्नता है –अजीब–सा एक एहसास मुझे मस्ती की उस रेखा से एक कदम आगे खींच ले आता, जिस रेखा पर बाकी सब गुनगुनाते, खिलखिलाते चले जाते थे। कुछ था जो मेरे भोले से मन में सवाल जगा रहा था, लग रहा था मेरे परिवेश में एक उलझाव है – सब लड़कियों की एक माँ है और मेरी तीन, सब लड़कियों के एक पापा हैं पर मेरे दो। हमारे घर के वातावरण में एक नियंत्रण था सब कुछ बाकायदा होता था, पत्ता गिरता था तो उसे भी सलीके से अपने गिरने का स्थल तलाशना होता था – तो फिर मैं अपने सन्नाटे में किससे प्रश्न करती?"[8]

कृष्णा अग्निहोत्री को बचपन में माँ के प्यार के बजाए स्त्री–कर्त्तव्यों की सीख मिलती है। "माँ आठ–नौ वर्ष की लड़की को रसोईघर में ढ़केल देती, कहती, 'लड़की हो, ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हो, घर का काम–काज न सीखोगी तो क्या ससुराल जाकर हमारी नाक कटवाओगी। पिता प्रातः उठा देते, 'गाने–बजाने का अभ्यास करो, पढ़ाई करो... खाने–पीने के अलावा भी कुछ और भी आना चाहिए।"[9]

कृष्णा अपनत्व चाहती है पर उसे यह नसीब नहीं। कृष्णा के बालमन को जानने की कोशिश कोई नहीं करता। बचपन क्या माँगता है? ममता और लाड़–दुलार से भरी बाँहें जिनका स्पर्श ही बच्चे के लिए ऐश्वर्य और विलासिता से कम नहीं होता। कृष्णा के बचपन में मस्ती भरी जिदें न होकर आज्ञाओं के पहरे हैं, तभी तो कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "मैंने बचपन नहीं देखा, बहुत पहले ही बड़ी हो गई थी। छोटी बुआ, बड़ी बुआ, माँ सभी तो कहते रहे, 'यह सीखो, वो करो, पढ़ो, काम करो।' किसी को यह चिंता नहीं थी, मैं क्या चाहती हूँ। मुझे क्या अच्छा लगता है, क्या बुरा लगता है। मैं क्या सोचती हूँ। यह विडंबना तो मुझे आज तक भोगनी पड़ी है।"[10] माँ द्वारा नजर नीची कर चलने जैसी नसीहतें कृष्णा के बालमन को पीड़ा से भर देती हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री का बचपन जहाँ एक ओर प्यार और ममता की तलाश में स्नेह के लिए भटकता है। वहीं दूसरी ओर यौन शोषण के अनेक अनुभवों से भी होकर गुजरता है। अपराध क्या है कृष्णा का कि वह लिंग में पुरुष नहीं, स्त्री होकर पैदा हुई? "लड़की का कोमल भोला बचपन भी क्या पुरुष से सहन नहीं होता, वह उसे भी अपने गंदे सुख हेतु चीर देने को आतुर रहता है।"[11] घर में भैंस, दूध आदि का प्रबन्ध करने वाला पुलिस कांस्टेबल लालकुंवर बच्चों को कहानियां सुनाने के बहाने से अश्लील हरकतें करता है। निर्दोष स्नेह की कामना में कृष्णा और उसके साथ की बच्चियों को सुरक्षा देने के बजाए लालकुंवर उन बच्चियों के माध्यम से अपनी यौनकुंठा को शांत करने का प्रयास करने लगता है। "वह दूध पिलाकर हमें सुला देता और हमारे हाथों में अपने गुप्तांग को पकड़ा देता। एक बार अर्द्धनिद्रा में मैंने उसे झटका थां बात बहुत शोचनीय थी, जब उसने शकुन्तला को दूसरे कमरे में ले जाकर और कुछ करना चाहा... वह चिल्लाई... मैंने लालकुंवर को उस पर झुका देखा तो लालकुंवर के बाल पकड़कर खींचना शुरू कर दिया और चिल्लाई।"[12] कृष्णा के बचपन में यौन–शोषण के अनेक प्रसंग सामने आते हैं, "छोटी बुआ का जवान नौकर ऊपर ही रहता था, जो भी लड़की खेल–खेल में पिछले कमरे में छुपती, वह उसे पकड़ कर देर तक गाल रगड़कर चूम लेता। सबसे पहले जनको... उसके बाद जनको ही वहां हमें छुपने को प्रेरित करती। सबसे बुरी बात मुझे यह लगी कि वह हम छः सात वर्ष की मासूम बच्चियों को नंगा करके अपने ऊपर सुला लेता...।"[13] न केवल नौकरों द्वारा बल्कि घर के सदस्यों द्वारा भी बच्चियों का यौन–शोषण पुरुष की कामुकता को सामने लाता है। "दद्दू मुझे अब बुरे लगने लगे। वे मुझे, शकुन्तला, चन्दो को गोदी में उठाकर 'रामचरितमानस' की कहानी सुनाते, जो हम में से किसी को भी पसंद न था क्योंकि दद्दू नंगे हो जाते और हमें वह अच्छा न लगता। भला इतना बड़ा–बूढ़ा बच्चों के साथ ऐसा क्यों करे?...

सखाराम लालकुंवर तो नौकर हैं, पर दद्दू 'छीः... छीः' हम सबने विद्रोह कर दिया।"[14] बचपन में ही लड़की होने का दर्द झेलना पड़ता है कृष्णा को। पुरुष को स्त्री योनि रूप में ही दिखायी देती है फिर चाहे वह बच्ची हो या वृद्धा!

यह समाज का सच है कि स्त्रियाँ सम्बन्धों की किसी भी छत के नीचे पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं हैं। बढ़ती असुरक्षा के आतंक से भय के माहौल में जीती स्त्रियों का स्वस्थ मानसिक विकास आज के समय में एक महत्त्वपूर्ण सवाल है। सत्ता, समाज और समय के सामने यह सवाल अपने उत्तर की प्रतीक्षा में आज भी खड़ा है। क्या कभी बेटियां भी बेटों की तरह भय से मुक्त जीवन जीने का हक ले पाएंगी? आज के समय में कानून व्यवस्था में परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक सोच में बदलाव की आवश्यकता है। सवाल यह उठता है कि क्या पितृसत्तात्मक समाज अपनी बेटियों को बलात्कार, यौन–शोषण के भय से मुक्ति के लिए प्रयासरत है या भय और आतंक के माहौल में रखकर पितृसत्ता की सुरक्षा और सुदृढ़ता को बनाए रखना चाहता है?

पितृसत्ता बचपन से ही स्त्री को अपने शिकंजे में कसना आरम्भ कर देती है। इस संदर्भ में गोपा जोशी लिखती हैं, "परिवार में बच्चों को पितृसत्तात्मक संस्कार दिए जाते हैं। लड़कों को अक्खड़ बनना तथा लड़कियों को अबला के ढांचे में ढ़ाला जाता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रकृति हर समाज, परिवार, क्षेत्र, वर्ग तथा काल में भिन्न–भिन्न होती है। पर हर काल, क्षेत्र तथा युग में हर परिवार पितृसत्तात्मक होता है। गरदा लरनर के अनुसार परिवार ही अपने असमान (पर सर्वमान्य) ढांचे से समाज में असमान ढांचे की नींव रखता है।"[15] पितृसत्ता परिवार के भीतर बच्चों के लालन–पालन को भी पुत्र–पुत्री के खांचों में बांटकर देखती है। परिवार के भीतर पितृसत्ता की सबसे बड़ी एजेंन्ट माँ है जो बेटी को संस्कारों, नैतिकता और मर्यादा... के पालन की दुहाई देती है। यदि एक माँ यह प्रण कर ले कि जिन नैतिकताओं को उसने ढ़ोया है, उन नैतिकताओं, मर्यादाओं से वह अपनी बेटी को दूर रखेगी तो ऐसी स्थिति में पितृसत्ता की नींव पर अपने आप घुन लगना आरम्भ हो जाएगा। इस संदर्भ में गोपा जोशी लिखती हैं, "जब माता–पिता के परिवार में बेटी को समान अधिकार के संस्कार नहीं मिलते उसको पुत्र के समान जीना नहीं सिखाया जाता तो कैसे वह पति के घर व समाज में समान अधिकारों की आदि होगी। इस प्रकार बेटी के दोयम दर्जे की शुरुआत उसकी मानसिक गुलामी का प्रशिक्षण माता की गोद में पिता के घर पर ही आरंभ हो जाता।"[16]

प्रभा खेतान को बचपन में माँ के प्यार के बजाए तरह–तरह की हिदायतें मिलती हैं, "अम्मा की झिड़कियाँ सुनते–सुनते कान पक जाते... "ठीक से चल क्या

घोड़ी–सी फुदकती है।"... "सुई में धागा ठीक से पिरो, अरे तेरा हाथ क्यों काँपता है, सीधी बैठो, कूबड़ मत निकालो।"[17] माँ द्वारा उपेक्षित प्रभा को आत्मसम्मान की कमी ने पूरे जीवन भर प्रभावित किया। "माँ ने प्यार नहीं किया, यह तो समझ रही थी, क्योंकि मैं ठहरी काली। माँ की तरह गोरी नहीं। मैं बहुत शान्त' गीता की तरह स्मार्ट नहीं, मुँह पर फटाफट जवाब नहीं दे पाती, लेकिन मैं पढ़ने में तो अच्छी थी, क्या यह काफी नहीं था?"[18] प्रेम और स्नेह तलाशती प्रभा को दाई माँ से ममता और अपनेपन की छाँव मिलती है। दोनों साथ–साथ कभी हंसती हैं तो कभी रोकर अपने दुःखों को भूलने का प्रयास करती हैं। माँ के अपनेपन के अभाव की टीस प्रभा के व्यक्तित्व में एक कुंठा का जन्म भी ले लेती है। एक माँ बेटी को वही ममता, प्यार क्यों नहीं दे पाती जो वह एक पुत्र को देती है? "कैसा अनाथ बचपन था। अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला लें। शायद... हाँ, शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच।"[19] चलने से लेकर ओढ़ने–पहनने की हिदायतें प्रभा के बचपन को लगभग वीरान सा कर देती हैं, "ठीक से चलो, क्या पैरों की धम–धम आवाज करती चलती हो? शऊर से बैठ... कूबड़ क्यों निकाल लेती हो? क्या खो–खो लगा रखी है? खाँस रही हो तो खाँसे ही जा रही हो..." और यदि मैं खाँसी दबाने की कोशिश करती तो, "क्या गाय की तरह गरगरा रही है...?"[20] प्रभा का अपराध उसका लड़की होना था या लड़की के रूप में गोरा न होकर काले रंग की होना था?

स्त्री के लिए सौन्दर्य एक बहुत बड़ा प्रतिमान है। यहाँ भी पितृसत्ता के नियम–कानून आड़े आ जाते हैं। बेटी को जन्म लेते ही सुन्दरता, शालीनता और संकोच... की सीख दी जाती है। बेटी की सुन्दरता के पीछे उसके विवाह की कामना निहित होती हैं चूँकि विवाह के लिए स्त्री का सौन्दर्य, रूप, रंग, गुण... एक प्रमुख पैमाना है इसलिए अपने ही घर में वह इन पैमानों पर तौली जाने लगती है। प्रभा स्वयं के प्रति माँ के कठोर व्यवहार के विषय में विचार करते हुए लिखती हैं, "उन्हें मेरा कुछ भी क्यों नहीं अच्छा लगता? जरा–सी हरारत, हल्की–सी खाँसी और उनके दिमाग से चिनगारियाँ क्यों फूटने लगती हैं। कहीं कुछ शॉर्ट सर्किट हो जाता है। भगवान! मेरी माँ मुझसे क्यों इतनी घृणा करती है? मेरा कद लम्बा क्यों होता जा रहा है? मेरे दाँत बाहर क्यों निकलते हुए हैं?... बाहरवालों को चाय का कप पकड़ाते हुए मेरे हाथ काँपने क्यों लगते हैं? चलते समय पैरों की धमधम आवाज क्यों होती है? मैं हमेशा उस परी की कल्पना करती जो अपनी जादुई छड़ी से मुझे छूकर सिंड्रेला बना देगी।"[21] सवाल यह उठता है कि क्या एक पुत्र के लिए जीवन जीने के तौर–तरीके पूर्व निर्धारित होते हैं? पुत्र–पुत्री के भेद के चलते बचपन से

ही पुत्री की उन्मुक्त हंसी छीनकर उसे हीन भावना का शिकार बना दिया जाता है। सीमोन द बोउवा ने ठीक लिखा है कि 'औरत जन्म से औरत नहीं होती बल्कि बढ़कर औरत बनती है।'

बलात्कार और यौनशोषण एक ऐसा अनुभव है जो स्त्री के जीवन की बुनियाद को हिला देता है। ऐसा ही एक अनुभव प्रभा के जीवन में भी घटता है, "बस इतना कहना चाहूँगी कि मैं कुंआरी नहीं, किसी ने जबर्दस्ती मेरा..." "जब मैं नौ साल की थी। घर में ही..." उस दिन दाई माँ ने भी तो यही कहा था – "काहू से ना कहियो, अपने पति से भी नहीं।" पर क्यों? उत्पीड़न के बावजूद औरत से खामोश रहने को क्यों कहा जाता है?"[22] जब स्त्री अपने ही घर–परिवार में सुरक्षित नहीं तो फिर समाज–देश–विश्व... के किस कोने में उसकी सुरक्षा की परिकल्पना की जा सकती है? शारीरिक उत्पीड़न की शिकार स्त्री को भी पवित्रता के नाम पर मौन रहना सिखाया जाता है। यदि इसी मौन को प्रतिरोध, विरोध में दर्ज किया जाए तो बहुत हद तक स्त्री के शारीरिक शोषण में कमी आएगी। जिस दिन यह समाज स्त्री के शोषण को पवित्र–अपवित्र के खांचों में विभक्त न कर उसे उत्पीड़न के एक अपराध की तरह देखेगा, उसी दिन से स्त्री, समाज में अपने जीने का वास्तविक हक पाएगी।

सुन्दरता का प्रतिमान मन्नू के बालमन में एक हीनता ग्रंथि पैदा कर देता है, "गोरा रंग पिताजी की कमजोरी थी सो बचपन में मुझसे दो साल बड़ी, खूब गोरी, स्वस्थ और हँसमुख बहिन सुशीला से हर बात में तुलना और फिर उसकी प्रशंसा ने ही क्या मेरे भीतर ऐसे गहरे हीनभाव की ग्रन्थि पैदा कर दी कि नाम, सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के बावजूद आज तक मैं उससे उबर नहीं पाई?"[23] बच्चे के सहज स्वभाव की अपेक्षा रूप–सौन्दर्य के पैमाने व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते हैं। मन्नू का बचपन भी सहज विकास की अपेक्षा पूर्वनिर्धारित पुत्री के खांचों की चारदीवारी से अछूता नहीं रहा है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा का बचपन भी समाज द्वारा पुत्री के लिए निर्धारित पैमानों से होकर गुजरता है। बचपन से ही स्त्री को सलीके से रहने की हिदायतें दी जाती हैं। एक माँ ही बड़ी होती बेटी को घर के कामकाज सीखने की चली आ रही परंपरा में बाँधने का काम करती है। "एक यह दूसरी भवानी है – दस ग्यारह साल की होने आयी – एकदम फूहड़ है। दाल–चावल तक ढंग से बीनने नहीं आते। बस किताबें चटवा लो, बाबूजी के दोस्तों में बैठ कर पटर–पटर गप्पें लगवा लो सच मानो ससुराल जाएगी तो बाप का बड़ा नाम उजागर करेगी।"[24] स्त्री के लिए गृहकार्य में दक्षता एक अनिवार्य गुण माना जाता है। आज भी विवाह के समय

स्त्री से उसकी योग्यता के बजाए घरेलू कार्यों में प्रवीणता को वरीयता दी जाती है। "घर पर माँ को एक ही चिंता सताती – मुझे अब तक घर के काम, खासतौर से खाना बनाने में, कोई रुचि नहीं थी। उस वक्त घरों में बारह साल की लड़की, बड़ी सयानी समझी जाती थी... "इसके उम्र की लड़कियाँ पूरा खाना बना लेती हैं और इसे चाय बनाना भी नहीं आता, मसाला भूनना तो दूर की बात है।"[25] जहाँ एक ओर पुत्र से बचपन में खेलने, कूदने, दौड़ने के लिए कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर स्त्री को बचपन से ही घर की जिम्मेदारी संभालने की दलीलें दी जाने लगती हैं। पुत्र की स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता को शारीरिक विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। वहीं पुत्री का शारीरिक विकास चिन्ता का विषय बन जाता है। समाज द्वारा निर्धारित तौर–तरीकों को बचपन से ही स्त्री पर जबरन लाद दिया जाता है।

दलित स्त्री जाति, वर्ण और लिंग के कारण बचपन से ही सर्वाधिक दमित और शोषित रही है। सामाजिक जाति व्यवस्था ने दलित बच्चों के बचपन को भी अस्पृश्यता जैसे प्रश्नों से जोड़कर हीन भावना में पूरी तरह जकड़ लिया है। कौसल्या बैसंत्री का बचपन भी छुआछूत के कारण एक उन्मुक्तता के बजाए हीनता और कुंठा से घिरा रहता है। ""मेरे साथ जो दो कुनबी जाति की लड़कियाँ पढ़ती थीं, वे काफी अमीर घर की थीं। वो भी अच्छी–अच्छी साड़ियाँ पहनकर आती थीं। ... मैं अस्पृश्य हूँ, इसका मुझे बहुत दुख होता था और मैं हीनता महसूस करती थी। कोई मुझसे मेरी जाति न पूछ बैठे, इसका मुझे सदैव डर रहता था। इसलिए मैं अकेली चुपचाप खाने की छुट्टी में या स्कूल शुरू होने के पहले एक ओर बैठी रहती थी। लड़कियों के साथ खेलने में भी डर लगता था। मैं दूर अलग बैठकर उनका खेल देखती थी।"[26] दरिद्रता और अभाव... भी बचपन की उन्मुक्त हँसी को छीनकर चिंता की लकीर खींच देते हैं। जातिगत व्यवस्था और विपन्नता के चलते अनेक दलित बच्चे भुखमरी के दर्द को झेलने को विवश होते हैं। बचपन की मस्ती, रूठने, मनाने और जिद करने के खेलों से परे उन बच्चों का बचपन लू की लपटों और कड़कड़ाती ठंड में आश्रय पाने की आशाओं से होकर गुजरता है। गरीबी, दलित और स्त्री होने के कारण कौसल्या बैसंत्री का बचपन अनेक उपेक्षाओं, तिरस्कारों और अभावों में बीतता है।

कौशल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित जीवन के बचपन की त्रासदी को बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हुए लिखा है, "कभी घर में बच्चों की देखभाल करने वाला कोई न हो तो उस बच्चे को अपने साथ जहाँ काम करते वहाँ ले जाते थे और पास ही किसी पेड़ या किसी बड़े घर की छाया में कपड़ा बिछाकर लिटाते। माँ बीच में आकर उसे देखती और अपना दूध पिलाकर चली जाती थी। नहीं तो बच्चे को झोलीनुमा पालने में सुलाकर जाती थी और

अड़ोसी–पड़ोसी के बच्चे को कभी देख लेने के लिए कहती। पाँच साल के बच्चे के हवाले भी माँ–बाप छोटे बच्चे को पालने में डालकर चले जाते थे। पाँच साल का बच्चा पालने की रस्सी खींचता रहता। झूले में बच्चा सो जाता तो वह खेलने चला जाता। कभी उसे नींद आ जाती तो वहीं जमीन पर लुढ़ककर सो जाता। पालने में बच्चा रोता रहता, फिर सो जाता। पास में माँ काम कर रही होती तो वह दौड़ी–दौड़ी आती और जल्दी से अपना दूध पिलाकर चली जाती थी। बच्चा टट्टी–पेशाब में सारा दिन पड़ा रहता था। शाम को माँ आने पर ही उसको साफ करती थी। छः–सात साल की लड़कियाँ माँ–बाप के काम पर जाने पर झाड़ू–बर्तन, साफ–सफाई करती थीं। रेंगने वाला बच्चा हो तो उसके पाँव में लंबी रस्सी बाँधकर उसका एक सिरा किसी खाट से बाँध देते थे और आसपास कुछ खाना कटोरी में रख देते थे या मुरमुरे जमीन पर ही डाल देते थे। बच्चा उन्हें बीन–बीनकर खाता रहता था। रो–रोकर जमीन पर ही सो जाता टट्टी–पेशाब में। ऐसे में उन्हें बीमारियाँ होना स्वाभाविक था और मृत्यु भी। बच्चा ज्यादा देर सोता रहे इसलिए उसे अफीम खिलाकर भी सुलाते थे।"[27] बचपन जिसे उम्र का सबसे बेहतरीन पड़ाव कहा जाता है, यदि वही बचपन एक अभिशाप बन जाए तो इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी? एक माँ के लिए दो जून की रोटी की विवशता के कारण अपने दुधमुँहें बच्चे को छोड़कर काम करने की पीड़ा एक बच्चे से उसका बालसुख तो छीनती ही है, साथ ही एक माँ के मातृत्व सुख को भी अंधेरे में खड़ा कर देती है। कहने को तो देश आजाद हो गया लेकिन क्या यह आजादी ऐसे उन हजारों बच्चों को दरिद्रता से आजाद कर पायी है जो आज भी भूखे, नंगे बदन जीने को अभिशप्त हैं?

सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में अपने बचपन को याद करते हुए लिखती हैं, "कहते हैं, जीवन में बचपन सबसे मधुर होता है, प्यारा–प्यारा और प्यार भरा। मगर मेरा बचपन इतना रूखा–सूखा क्यों रहा? मधुरता की बातें हम लोगों के लिए नहीं होतीं। सवर्ण–सम्पन्न, सुविधाओं और सम्मान से पूर्ण लोगों के बचपन मधुर होते हैं।"[28] सुशीला टाकभौरे को बचपन से ही दलित होने की त्रासदी झेलनी पड़ती है। दलित होने के कारण सुशीला को बचपन में ही सबसे अलग और सबसे पीछे रहना सिखाया जाता है। अपने बालमन की लालसा को व्यक्त करते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "मैं रोज स्कूल के बच्चों को सुंदर पोशाक पहने, खेलते हुए और पढ़ाई करते हुए देखती। मेरा भी मन होता, मैं स्कूल जाऊँ। प्राइमरी स्कूल की कक्षा के बच्चे जोर–जोर से पढ़ते, मैं दूर खड़ी रहकर उनकी पढ़ाई सुनती, उनके खेलकूद देखती और माँ से जिद करके कहती – "मेरा भी नाम स्कूल में क्यों नहीं लिखवाते? मैं कब स्कूल जाऊँगी?"[29] सुशीला टाकभौरे को बचपन से ही घृणा और अपमान का सामना करना पड़ता है।

समाज की यह वास्तविकता कि दलित बच्चे को सर्वप्रथम दलित होने का पाठ पढ़ाया जाता है। सुशीला के जीवन में भी यही हुआ है। अपने दलित समाज के बच्चों के बचपन की त्रासदी, पीड़ा और दुख को दिखाते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "बरसात में गरीबों का जीवन कष्ट और समस्याओं से घिर जाता। ये हाथ कमाओ, वो हाथ खाओ जैसा जीवन था। गीली लकड़ी, ठंडा चूल्हा, भूख से किलबिलाते बच्चे, उदास माँ–बाप, मानो भोग रहे हों जीवन का अभिशाप!"[30] जिस समाज में रहने और खाने की इतनी बड़ी समस्या हो, उस समाज में बालमन की सहज आकांक्षाओं', इच्छाओं के त्याग की कल्पना की जा सकती है। ऐसे बच्चों का बचपन गरीबी और अभाव के चलते दुखद ही बीतता है। सुशीला को बचपन में ही ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता का अनेक बार अनुभव कराया जाता है।

दलित होने के साथ ही स्त्री होना सुशीला टाकभौरे के बचपन को वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था और पितृसत्ता के तिहरे शिकंजे में कस देता है। "पूरे घर को छोटी झाड़ू से झाड़ने–बुहारने का काम, सुबह–शाम घर में सबसे जूठे बर्तन मांजने–धोने का काम मैं करती थी। घर की लिपाई–पुताई करना, कपड़े धोना, आटा गूंथना, रोटी सेंकना भी करती थी। 10–11 वर्ष की उम्र में मुझे घर के बहुत से काम करने पड़ते थे। काम नहीं करने पर पिटाई होती थी।"[31] काम करने और खेल न पाने की विवशता सुशीला को बचपन में ही अपनी उम्र से कहीं अधिक उम्र का बना देती है। सुशीला को सवर्णों की सम्पन्नता द्वारा अपने बचपन में अनेक बार उपेक्षित होना पड़ता है। "एक बार देर होने के कारण, स्कूल जाने की जल्दी में, घर में पहनी फ्राक पहने हुए मैं स्कूल चली गई। फ्राक में पैबन्द लगे थे। मेरी फ्राक देखकर लड़कियां हँस रही थीं। स्कूल में खराब कपड़े पहनकर आने पर सजा मिलती थी। उस दिन मुझे गुरुजी ने पूरी कक्षा के सामने, अपने टेबल के पास घुटनों पर खड़े रहने की सजा दी।"[32] जातिभेद के कारण सुशीला को छोटी उम्र में ही प्रताड़ित और अपमानित किया जाता है। इस कारण सुशीला का मन उपेक्षा और अपमान के दंशों से हमेशा भयभीत रहता है। सहज जीवन के बजाए सुशीला के मन में कुंठा और हीन भावना जन्म ले लेती है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "यदि बचपन से मुझे निडरता सिखाई जाती, या हर बात में समतावादी व्यवहार पाने की आदत डाली जाती या भेदभाव–अपमान के बदले विरोध–विद्रोह करने की बात बताई जाती तो यही मेरा आचरण बनता।"[33]

समाज और देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि स्त्री को निर्विघ्न जन्म लेने और जीने का अधिकार मिले। स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में बेटी के बचपन की पीड़ा, दुख और शोषण का रूप सामने आया है। लगभग सभी लेखिकाएं स्त्री होने के दर्द को बचपन में भी झेलती हैं। आत्मकथाओं में व्यक्त

यौन–शोषण के प्रसंगों से यह सामने आया है कि आज भी स्त्री पुरुष के लिए यौन सामग्री ही है। पुरुष की कामुकता एक नन्हीं बच्ची को भी मनुष्य के रूप में जीने की छूट नहीं देती। कभी सम्बन्धों के नाम पर स्त्री के बचपन को हवस का शिकार बनाया जाता है तो कभी उसकी अबोधता को यौनतृप्ति का माध्यम बनाया जाता है। कानून जिस अश्लीलता और अभद्रता से बच्चों को दूर रखने के लिए कहता है, क्या वही कानून स्त्री के सन्दर्भ में भी लागू हो पाता है? जिस अभद्रता से बच्ची का बालमन बिल्कुल अनभिज्ञ होता है, वही अभद्रता उसके सामने परोसी जाती है। स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं के माध्यम से यह भी सामने आया है कि बच्चियों को यौन–शोषण के प्रतिरोध की नहीं बल्कि सहने की सीख दी जाती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री को बचपन में ही यौन संदर्भों से जुड़े शोषण आदि से परिचित करवाया जाए क्योंकि बचपन में अनभिज्ञता के चलते बच्चियों को पुरुषों द्वारा अपनी हवस का शिकार बना लिया जाता है।

स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में यह सामने आया है कि स्त्री के लिए बचपन एक रिक्तता और सूनेपन से होकर गुजरा है। बचपन में स्त्री को कल्पनाओं, आकांक्षाओं और सपनों के सृजन के बजाए घर की चारदीवारी में पलने, बढ़ने और रहने की सीख दी जाती है। पितृसत्ता ने स्त्री के बचपन को इस कदर प्रभावित किया है कि एक माँ ही अपनी बेटी को बंधनों में बंधने की जमीन तैयार करती है। दलित आत्मकथाओं में जातिगत भेदभाव के कारण स्त्री का बचपन और अधिक उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार से होकर गुजरता है। संस्कारों की दुहाई देने वाला समाज मान्यताओं और परंपराओं की आड़ में स्त्री को उसके बचपन की आजादी तक नहीं दे पाता है।

(ख) प्रेम, विवाह और दाम्पत्य

प्रेम, विवाह और दाम्पत्य का आधार विश्वास और आपसी सहयोग है। सुखद दाम्पत्य जीवन के लिए आवश्यक है कि विवाह का आधार प्रेम और स्नेह हो। प्रेम के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी परिणति विवाह में हो। अक्सर विवाह में देखा गया है कि प्रेम, विवाह के बाद वही नहीं रहता जो विवाह से पूर्व होता है। एक ही छत में आकर प्रेम परिवार और पितृसत्ता की संरचनाओं में उतना सहज और स्वाभाविक नहीं रह जाता। विवाह सामंजस्य चाहता है जो जीवनभर साथ निभाने का वादा भी माँगता है। आपसी मेल–मिलाप का यह मिलन जीवन की नए सिरे से शुरुआत ही तो है। जहाँ एक ओर प्रेम किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता वहीं दूसरी ओर विवाह अनेक दायित्वों और कर्त्तव्यों से बंधा होता है जो सात फेरों से आरंभ होकर जीवनभर तमाम नियमों में बंधा होता है। प्रेम और विवाह एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। प्रेम के लिए भावना का भावना से वरण आवश्यक है, जबकि विवाह में आपसी प्रेम से कहीं अधिक वंश को महत्त्व दिया जाता है।

मैत्रेयी पुष्पा प्रेम और विवाह के विषय में लिखती हैं, "विवाह तो सामाजिक जिम्मेदारी और पारिवारिक संवर्द्धन के लिए होता है, इसमें व्यक्ति गृहस्थ की नई भूमिका में आता है। प्रेमी–प्रेमिकाओं के मामले में ऐसा कुछ नहीं होता। वहाँ न भूमिका बदलती है न आपसी सम्बन्ध।"[34] प्रेम त्याग, बलिदान नहीं बल्कि आपसी सहभागिता माँगता है। मैत्रेयी पुष्पा विवाह और प्रेम को एक–दूसरे से भिन्न मानते हुए लिखती हैं, "बेशक, विवाह प्रेमी–प्रेमिकाओं को अपने वजूद से बेदखल करके ही मानता है। प्रेमियों के अस्तित्व का खात्मा यहीं होता है। हवनकुंड की आग में स्मृतियों को जलाने का नियम है। इसलिए ही तो वैवाहिक प्रेम की जिंदगी को सुरक्षित मान लिया गया है। इसी प्रकार के प्रेम को साधते रहना विवाह की आदर्श स्थिति है। सवाल उठता है कि साधने की जरूरत क्यों पड़ती है? क्या वैवाहिक प्रेम में अपना बल नहीं होता कि उसे तमाम व्रत–उपवासों, सुहागिक गहनों और माँग–सिंदूर और माथे की बिंदियों के रूप में पताका–सा फहराते रहना होता है। ...मगर यह प्रेम होता है, हम नहीं मानते क्योंकि जहाँ स्त्री–पुरुष को साथ रहकर सेक्स करने और बच्चा पैदा करने की सामाजिक अनुमति मिलती है, वहाँ प्यार की तड़प का क्या मतलब?"[35]

प्रेम जाति, धर्म, भाषा, रूप, रंग से परे होता है। यह एक ऐसी अनुभूति है जो व्यक्ति को मनुष्य होने का एहसास कराती है। प्रेम की आधारशिला होती है – स्वतंत्र सत्ताएं जिनमें आत्म के साथ प्रेमियों को आपस में प्रेम करने की छूट होती

है। दोनों का आपसी सम्बन्ध पारस्परिक होता है जिसमें अधीनता न होकर व्यक्तित्व संवर्द्धन का भाव छिपा होता है।

"बायरन ने कहा है – "पुरुष का प्रेम पुरुष के जीवन का एक हिस्सा भर होता है। लेकिन स्त्री का तो यह सम्पूर्ण अस्तित्व ही है।"[36] वास्तव में स्त्री और पुरुष के लिए प्रेम का अर्थ अलग–अलग होता है। स्त्री प्रेम में अपना व्यक्तित्व तक भूलकर सर्वस्व त्याग कर देती है। सच्चे प्रेम में दो व्यक्तित्व मिलकर एक हो जाते हैं। स्त्री इसी तर्ज पर प्यार करती है। चूंकि स्त्री का प्यार शर्तहीन होता है, अतः वह विश्वास पर आधारित होता है। जबकि पुरुष के प्रेम में भावुकता के साथ अहम् का भाव भी छिपा होता है। पुरुष, प्रेम में स्त्री के अस्तित्व को अपने अस्तित्व में विलीन करने का आकांक्षी रहता है। पुरुष यदि स्त्री से प्रेम करता है तो वह प्रतिदान में स्त्री का सर्वस्व पाने का भी आकांक्षी होता है।

प्रेम सहज, स्वाभाविक भाव है जबकि विवाह एक निर्णय है। प्रेम को निर्णय से जोड़ने पर उसकी सहजता समाप्त हो जाती है। विवाह के लिए प्रेम के आधार की अनिवार्यता नहीं होती है। "जैसा कि फ्रायड ने कहा है कि पति, प्रेमी पुरुष का एक संपूरक तो हो सकता है किंतु यह प्रेमी पुरुष नहीं हो सकता। प्रेम और विवाह का यह अन्तर आकस्मिक नहीं बल्कि विवाह की संस्था में निहित विरोधाभास है। इसका उद्देश्य समाज के स्वार्थ की सिद्धि के लिए स्त्री और पुरुष का यौन तथा आर्थिक गठबंधन होता है।... भावनात्मक या कामनात्मक जरूरतों के आधार पर विवाह में प्रेम और सौंदर्य की अपेक्षा आज भी सामाजिक स्तर और भौतिक सुख–सुविधाओं की जरूरत अधिक देखी जाती है। पुरुष अपने लिए विवाह नहीं करता बल्कि अपने परिवार और संतान के लिए करता है।"[37]

पुरुष के जीवन में प्रेम की भांति विवाह भी वही नहीं होता जो एक स्त्री के लिए है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के लिए अनिवार्य और आवश्यक होते हुए भी समानता के स्तर पर पारस्परिक नहीं होते। पुरुष एक स्वतंत्र और पूर्ण व्यक्ति होता है जबकि स्त्री पराधीन की भूमिका में होती है। पुरुष का अस्तित्व और व्यक्तित्व उसके कामों से निर्धारित होता है, वहीं दूसरी ओर स्त्री का व्यक्तित्व उसके प्रजनन और गृहस्थी की भूमिका द्वारा निर्धारित होता है। इस संदर्भ में सीमोन द बोउवा लिखती हैं, "आदिम समाज में औरत दान की वस्तु थी, पारस्परिक विनिमय का एक माध्यम। सभ्यता के विकास के साथ विवाह संस्था ने अनुबंध का अधिकार ग्रहण किया। क्रमशः हम देखते हैं कि स्त्री विरासत में अपना हक पाती है और व्यक्ति के हिसाब से एक सामाजिक स्थान भी, किंतु दहेज और विरासत अब भी उसे परिवार में एक गुलाम की स्थिति में ही रखते हैं।"[38] विवाह के बाद स्त्री को पुरुष का धर्म

और वर्ग सबकुछ स्वीकार करना पड़ता है। वह पुरुष की अर्द्धांगिनी बनकर अतीत के सम्बन्धों को लगभग भूलकर पति के सम्बन्धों को अपना लेती है। वह अपना व्यक्तित्व, कौमार्य, जीवन... पति के प्रति समर्पित कर देती है।

सामाजिक परंपरा आज भी स्त्री को यौन स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं है। आज भी समाज स्त्री के प्रेम को व्यभिचार से जोड़कर देखता है। यदि स्त्री किसी से प्रेम करती है तो यह आवश्यक नहीं कि वह उससे विवाह करे। आत्मनिर्भरता के बावजूद यदि स्त्री विवाह नहीं करती है तो उसे मानवीय अधिकारों और मानवीय गरिमा से वंचित रखा जाता है।

हिंदू धर्म के अनुसार "पत्नी यदि अपनी इच्छा को पति की इच्छा में विलीन कर दे तो इस लोक में भी उसका जीवन अधिक सुखमय बन जाता है। उसकी ... में उन्नति है।"[39] हिंदू धर्म और संस्कृति पत्नी को पति के प्रति समर्पित होने की वकालत करती है। उमा चक्रवर्ती विवाह के विषय में लिखती हैं, "विवाह जन्म और रक्त (वंश) के सम्बन्ध में लोगों द्वारा गढ़ी गई धारणाओं या रीतियों का ही एक पहलू है। विवाह का उद्देश्य होता है, पुरुष के वंश की शुद्धता और निरंतरता बनाए रखना। इससे उस जाति या उपजाति की शुद्धता अक्षुण्ण रहती है, पुरुष जिसका सदस्य होता है।"[40]

प्रेम निश्छलता, विश्वास और ईमानदारी से भरा आपसी लगाव है। यह सामाजिक विडंबना ही है कि अक्सर ही स्त्री के प्रेम को व्यभिचार से जोड़ दिया जाता है। प्रेम मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं, "प्रेम, जो प्रेमी का स्पर्श करना चाहता है, उसके दुखदर्द को छूना चाहता है, उसको तकलीफों और प्राणलेवा हमलों से बचाना चाहता है, किसी भी मनुष्य के अधिकार में आता है तो फिर स्त्री के हक में क्यों नहीं?"[41] स्त्री के लिए प्रेम नहीं बल्कि विवाह जीवन का परम लक्ष्य माना जाता है। जबकि पुरुष अविवाहित रहकर भी तिरस्कार नहीं बल्कि आदर पाता है। यदि पुरुष विवाह नहीं करता है तो वह ब्रह्मचारी कहलाता है। उसके प्रति समाज की श्रद्धा और सम्मान और अधिक बढ़ जाता है। विवाह के बिना स्त्री की पूर्णता की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती? 'पति ही गति' का सिद्धांत स्त्री के जीवन का आवश्यक कर्म क्यों माना जाता है? परिवार में जहाँ एक ओर बेटे के रोजगार और उन्नत व स्तरीय जीवन की चिंता की जाती है वहीं दूसरी ओर बेटी के विवाह को परम लक्ष्य माना जाता है।

दाम्पत्य जीवन के मामले में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की नैतिकता विवाह संस्था तय करती है। गृहस्थ धर्म की नैतिकता स्त्री को पत्नी से बढ़कर और कुछ नहीं मानती। यदि वह माँ बनती है तो उसके मातृत्व को पुरुष की पत्नी के रूप में ही

मान्यता दी जाती है। बिना पति के उसका माँ होना अवैध और अनैतिक माना जाता है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं, "स्त्री–पुरुष सम्बन्ध की नियमावली खूंखार कानूनों का पोथा है, क्योंकि इसमें पुरुष सम्बन्ध बनाता है, स्त्री सम्बन्धी बनती है, जिसमें ज्ञात कराया जाता है कि सामन्तों, विद्वानों और शास्त्रों के हिसाब से औरत को अपनी चेतना कील देनी है।"[42] स्त्री की स्वाभाविक इच्छाओं को विवाह संस्था में महत्त्व ही कहाँ दिया जाता है? विवाह स्त्री के हर कदम को कर्त्तव्यों में बांध देता है। कर्त्तव्य जो पति और पारिवारिक समूह के इर्द–गिर्द हो।

विवाह के संदर्भ में तसलीमा नसरीन लिखती हैं, "'शादी' नामक घटना पुरुष और नारी दोनों के जीवन में ही घटित होती है। दोनों ही एक नए जीवन में प्रवेश करते हैं। लेकिन उस घटना में दोनों के लिए व्यवहृत होने वाले क्रियापद भिन्न हैं। लड़की 'शादी के लिए बैठती है', लड़का 'शादी करता है।' यानी जो बैठता है, वह निष्क्रिय है और जो करता है, वह 'कर्ता' है। इसलिए 'गृहकर्ता' शब्द पुरुष के लिए है। और गृहस्थी संभालना शब्द से खाना पकाना, घर–बार सँवारना, धूल साफ करना, बच्चे पालना वगैरह का बोध होता है। किसी भी तरह कोई तर्क किए बिना ये काम स्त्रियों के जिम्मे सौंप दिए गए हैं। चाहे कोई स्त्री आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो या ज्ञान, बुद्धि, विद्या, व्यक्तित्व में पुरुष से ज्यादा क्यों न हो? इस धरती पर पुरुष ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ 'कथन' तैयार किए हैं। उनमें से कुछ को 'धर्म' और कुछ को 'नियम' का रूप दे दिया गया है।"[43] विवाह संस्था पति के प्रति पत्नी की एकनिष्ठता की वकालत करती है। यहाँ आपसी मिलाप से कहीं बढ़कर स्त्री की पवित्रता के सवाल खड़े किए जाते हैं। विवाह–बंधन में बंधते समय पति–पत्नी को एक–दूसरे के प्रति निभाया जाने वाला धर्म बताया जाता है। फेरों के माध्यम से कर्त्तव्यों के रूप में कसमें खाई जाती हैं। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही होती है। पति स्वामी बन जाता है और पत्नी दासी। स्त्री के मन के साथ ही तन के समर्पण का वचन लिया जाता है।

भारतीय समाज में विवाह को पवित्र धार्मिक अनुष्ठान की तरह देखा गया है। भारतीय परंपरा में विवाह को तो सहज स्वीकृति मिली हुई है लेकिन प्रेम को नहीं, इस संदर्भ में राजेंद्र यादव लिखते हैं, "प्रकृति तो चाहती है कि प्रेम किया जाए पर समाज ने जो अपने तौर–तरीके बनाएं हैं उसमें सिर्फ विवाह करने की छूट है, प्रेम की नहीं।"[44] विवाह संस्था स्त्री के जीवन को निर्धारित करने में मुख्य भूमिका अदा करती है। स्त्री के जीवन का यह सच है कि उसका अपना कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि स्त्री के जीवन को पुरुष के आधीन कर दिया जाता है। विवाह स्त्री और पुरुष दोनों का होता है। लेकिन विवाहित होने के चिह्न स्त्री को अकेले वहन

करने पड़ते हैं। अविवाहित और विवाहित पुरुषों में कोई अन्तर नहीं होता। लेकिन वहीं दूसरी ओर विवाहित और अविवाहित स्त्री में भेद करने के लिए अनेक चिह्न बनाए गए हैं।

कुसुम अंसल को विवाह से पूर्व प्रेम तो होता है लेकिन यहाँ घर की सम्पन्नता आड़े आ जाती है। कुसुम को बड़े घर की बेटी होने का भय है। संयमित वार्तालाप के बावजूद कुसुम प्रेम में समीपता और घनिष्ठता का अनुभव करती हैं। "उन दिनों 'वही' हमारी क्लास का सबसे मेधावी छात्र था, मैं ही नहीं, क्लास की अन्य लड़कियां भी उसके आसपास मंडराती थीं। अपनी नवोर्जित इस भावना से मैं बिल्कुल भी पुलकित नहीं हुई थी, डर के एक ज्वार में उतर गई थी, बैठी–बैठी डर जाती, लगता घर के लोगों को पता चलेगा कि मैं प्रेम करने लगी हूं तो क्या होगा? मेरे 'उसके' बीच दूरियों का एक घना जंगल पहले से मौजूद था। वह बहुत मध्यवर्गीय परिवार का लड़का था और मैं बड़े परिवार की एकमात्र बेटी थी, पर उस समय मन किसी भी अवरोध को मानने से इंकार करता और हम दोनों वन के दो वृक्षों की तरह चुपचाप खड़े रहते, एक–दूसरे के निकट होते हुए भी दूर रहते, एक दूसरे को देखते हुए, एक–दूसरे को महसूसते हुए, सूंघते हुए। कभी–कभी लगता टहनियों के कोमल हाथ आगे आ रहे हैं, स्पर्श में से सहम इतना घुला होता था कि मैं खुलकर स्वीकार नहीं कर पाती थी।"[45] कुसुम प्रेम में कभी रोमांचित हो उठती हैं तो कभी प्यार के नाममात्र से काँप उठती है। एम.ए. की पढ़ाई के समाप्त होने के साथ ही कुसुम का यह प्रेम भी तिनकों की तरह हवा में दूर कहीं जाकर किसी नए निर्माण का अवकाश दे जाता है। "यदि मैं प्रेम को अपने लिए परिभाषित करती तो कहीं टीसता था मेरा अपना नन्हा–सा अंकुरित प्रेम जो उपेक्षाओं की आंधी में पल्लवित ही नहीं हुआ।"[46]

कुसुम अंसल प्रेम के विषय में लिखती हैं, "प्रेम एक इच्छा है, एक इच्छा जो एक विशेष इच्छा के रूप में प्रत्येक हृदय में बहती, तरंगित होती है। यह इच्छा मात्र स्त्री–पुरुष ही नहीं, वृक्ष की जड़ और फूलों में भी होती है, श्वास और वायु में भी होती है। प्रेम स्त्री–पुरुष के मध्य घटित होता है जिसे शायद शरीर के पाँच तत्त्व भी चाहें तो ढूंढ नहीं पाते। प्रेम को हवा की तरह ओढ़ा जा सकता है, समुद्र–सा लपेटा जा सकता है और पर्वतों की तरह बाँहों के बंधन में आलिंगित किया जा सकता है। प्रेम हमारा वायदा है अपने आपसे किया हुआ जिसे हमें निभाना होता है। मुझे लगता था, प्रेम कोई प्रक्रिया या प्रोसेस नहीं है जिसमें शरीरों को जुड़ना या बिछुड़ना शामिल होता है, प्रेम तो बीज की तरह अंकुरित होता है और फूल–सा खिलता है, प्रेम मनुष्य के भीतर एक सूक्ष्म–सी मानवीय चेतना है जो ऊपर उठकर

अजन्मा शाश्वत में बदल जाती है।"[47] पति का संयम कुसुम के प्रति प्रेम को अवरुद्ध कर देता है। कुसुम पति के साथ प्रेम की धारा में बहकर अपने अस्तित्व को भिंगोना चाहती हैं किंतु पति का अलगाव कुसुम के मन में निराशा, अवसाद पैदा कर देता है। पति के लिए सर्वप्रथम उनका व्यवसाय है, पत्नी का स्थान अंत में। "मेरा दाम्पत्य एक घिसे हुए तयशुदा रास्ते पर चलने लगा जो मुझे स्वीकार नहीं था। सुशील चाहते मैं बदल जाऊँ, आम स्त्रियों की तरह खुश रहूँ परंतु प्रेमी एक–दूसरे के लिए वस्तु नहीं हो सकते और अपने लिए वस्तु हो जाना मुझे कतई स्वीकार नहीं था।"[48]

विवाह के पूर्व कुसुम के जिस मन में भावनाओं की कविता बहा करती थी, फूल महका करते थे, विवाह के बाद अब उसी मन में निराशा के कांटे उग आते हैं। कुसुम के लिए विवाह एक बंधन बनकर आता है जिसमें पति को पत्नी के सेवा, समर्पण से मतलब भर है, भावनाओं से नहीं। पति के लिए पत्नी से कहीं अधिक 'कैरियर' और व्यवसाय की प्राथमिकता है। पति से प्रेम की आकांक्षा में कुसुम को 'डिप्रेशन' के अलावा और कुछ नहीं मिलता है। हाँ यह अवश्य है कि पति से कुसुम की कोई अनबन या झगड़ा आदि नहीं होता। लेकिन बिना प्रेम और लगाव के विवाह भी तो एक समझौता ही है। "... प्रेम एक ऐडवेंचर है, जो जीने के लिए ही नहीं, आत्मा के लिए भी आवश्यक होता है...।"[49]

सम्पन्नता में पली–बढ़ी कुसुम विवाह के उपरांत मध्यवर्गीय परिवेश को भी पूरी तन्मयता के साथ संवारती है। वैवाहिक जीवन में आकर एक ओर जहाँ कुसुम का विश्वास और मान्यताएं टूटती हैं, वहीं दूसरी ओर प्रेम की रिक्तता और अधिक गहरी हो जाती है। "मैंने सोचा था, अपनी इस नई भूमिका में बस प्रेम या स्नेह को ही अहम् जानकर सबसे मिलूंगी, हवा की तरह अभौतिक–सी इस नई रेखाकृति में रोमांस के रंग आरोपित करूंगी परंतु प्रेम... प्रेम भी एक अजनबी प्रश्न–सा मेरे सामने आ खड़ा होता...।"[50] कुसुम के जीवन में विवाह पूर्व प्रेम और विवाह के बाद पति के प्रेम का लगभग अभाव रहता है। दाम्पत्य के नाम पर पति की व्यस्तता कुसुम के जीवन में एक सूनेपन को हमेशा घेरे रहती है।

बचपन से ही प्रेम की भूखी कृष्णा अग्निहोत्री को जीवनभर प्रेम के बजाए शारीरिक और मानसिक यातनाएं ही झेलने को मिलती हैं। आत्मकथा में कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "कितना कठिन है एक स्त्री का पूरे जीवन बिना मर्द व प्यार रहित जीवन जीना। आज भी ऊंची उड़ान के बावजूद स्त्री अस्मिता को समाज ने अपनी मुट्ठी में कैद रखा है। अपने को बहुत सुलझे, समझदार एवं आधुनिक कहने वाले पुरुषों ने भी बिना चढ़ावे के किसी स्त्री को सहायता शायद ही की हो।"[51]

कृष्णा का विवाह डिप्टी कलेक्टर से होता है जो आगे चलकर आईपीएस अधिकारी बनता है। जीवन की नई यात्रा में कृष्णा कल्पनाओं, कोमल भावनाओं और इस विश्वास के साथ आगे बढ़ती है कि पति–पत्नी केवल एक–दूसरे के लिए ही होते हैं। "पति पर पूरा आधिपत्य पत्नी का है और वह उसका समर्थक, शायद पति का कोई और अर्थ समझ ही नहीं आता था।"[52] लेकिन अगले ही पल कृष्णा की भावनाओं को विवाह के चंद घंटों बाद ही पति के व्यवहार से बड़ा आघात पहुंचता है। विदाई के बाद ससुराल जाते समय प्रथम मिलन में ही पति की कामुकता सामने आ जाती है, "मैं बातूनी हूं, परंतु बात का अवसर नहीं मिला। उन्होंने बिना वार्तालाप, जान–पहचान या स्नेह के मेरे साथ वह सबकुछ कर डाला, जो अच्छा नहीं ही लगा था। उसे सैक्स विकृति ही कहेंगे।"[53] पति को केवल और केवल कृष्णा के शरीर से मतलब था, मन से नहीं। मात्र कुछ ही दिनों में कृष्णा के सामने विवाह की वास्तविकता सामने आ जाती है, "शादी का अर्थ, ऐसा लगा था जैसे मान्यताओं के पिंजरे में कैद कर किसी नाजुक पक्षी को सींक से नोंचा जाए और वह घायल न भाग सके, न उड़ सके, न मारनेवालों को डरा सके।"[54]

कृष्णा ने विवाह से पूर्व प्यार से भीगे जीवनसाथी की जो कल्पना की थी, वह धीरे–धीरे यथार्थ में आकर पूरी तरह मुरझा जाती है। "नाजुक–सी कोमल उम्र में तो मन–कमल की प्रत्येक पंखुड़ी अपने पति के हाथों में खुलते समय उत्सुक–सिकुड़ी एवं घबराई होती है। अजीब–सी रहस्यात्मक भावनाओं के झूले में मन पेंगे लेता रहता है और यदि ऐसे पवित्र मन पर प्रथम पुरुष ठोकर मार दे, झूला तोड़ दे, पंखुड़ी नोच दे और चीख–चिल्लाकर कहे, 'तू मेरी सहगामिनी नहीं, तू स्त्री नहीं, मेरे लिए विवाह मंत्रों के द्वारा खरीदी दासी है, जिसे केवल मेरे इशारों व मनमाने व्यवहार के सम्मुख सिर झुकाना है तो कैसा भूचाल उठता है मन में?"[55] कृष्णा के जीवन में विवाह सामंजस्य, सहयोग नहीं बल्कि समझौता और समर्पण बनकर सामने आता है। पति की शर्तों पर निर्धारित पत्नी का जीवन कृष्णा को पति–पत्नी के खोखले रिश्तों की वास्तविकता से परिचित कराता है। "और हो गई धुलाई। रुई–सी धुनाई, इसके बाद बलात्कार की पुनरावृति। अब तो कुछ–कुछ यही समझ आ रहा था कि इसी सब में जीना है।"[56] दाम्पत्य जीवन के नाम पर मारपीट, गाली–गलौज और पति के अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्ध। कृष्णा के जीवन में पति–पत्नी सम्बन्ध के नाम पर हिंसा और यौन–उत्पीड़न के अलावा और कुछ नहीं था, "पद का घमंड मेरे पति को अत्यधिक था। जिला हकीम क्या थे, भगवान थे और मुझे तो प्रताड़ित करने का उन्हें धार्मिक अधिकार ही था।"[57]

विवाह का धार्मिक अनुष्ठान पति को पत्नी की मारपीट, शारीरिक शोषण का भी अधिकार दे देता है? "रात पतिदेव पीकर आए तो उन्हें औरत की आवश्यकता

थी, पर मैं तो नाराज थी, इसलिए सोने का बहाना बनाने लगी। भला कप्तान साहब को यह कैसे सहन होता, उठाया पुलिसिया डंडा, बहुत मारा। रोती हुई मुझको आगोश में ले, अपनी आग ठंडी की और खर्राटे भरने लगे। मैं देर तक तड़पती–कलपती रही...।"[58] पति के लिए पत्नी दैहिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र थी। यहाँ तक कि पति को शारीरिक सुख देने के लिए कृष्णा पति की इच्छानुसार नृत्य भी सीखती हैं और इच्छा न होने के बावजूद शराब भी पीती हैं। यह स्त्री का पति के समक्ष आत्मसमर्पण है या पति की इच्छानुसार स्वयं को पितृसत्ता के खांचे में ढ़ालने का यत्न? यह स्त्री के जीवन का सच है कि वह पति की एकनिष्ठता पाने के लिए न जाने कितने जतन करती है। वह सर्वस्व देने के बदले चाहती हैं कि पति केवल और केवल उसका होकर रहे। पत्नी के आत्मसमर्पण के बावजूद कृष्णा के पति कृष्णा के साथ अश्लील व्यवहार करने के साथ ही अन्य स्त्रियों से शारीरिक सम्बन्ध बनाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते। "तुम मेरी सुंदरता के माप में फिट नहीं बैठती। उस पर तुम्हें अच्छी अंग्रेजी बोलना भी नहीं आता और कामसूत्र के पहलू भी तुम नहीं जानती। कैथरीन इन सब गुणों में खरी है, और वह मुझ पर जान भी छिड़कती है।"[59] कृष्णा के पति का यह कथन पुरुष के मन की तमाम तहों को उजागर कर देता है। पत्नी में बारबाला और अपने शयनयान की रंभा होने जैसे अनेक गुणों की एक साथ मौजूदगी को तलाशने वाला पति, अपनी पत्नी के प्रति मात्र एक पैमाने पर भी समर्पित क्यों नहीं हो पाता? पत्नी से सब कुछ अर्पण की चाह रखने वाला पति, पत्नी के प्रति स्वयं ही अर्पित क्यों नहीं हो पाता? ऐसे अनेक सवाल हैं जो कृष्णा के दाम्पत्य जीवन के माध्यम से उभरते हैं। यह न केवल कृष्णा के जीवन का सच है बल्कि यह उन अनेक महिलाओं के जीवन का हिस्सा है जो पति द्वारा मारपीट के साथ ही पति की शारीरिक तृप्ति का माध्यम भर होती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "नारी की शारीरिक तुष्टि उसी पुरुष से होती है, जिससे प्रेम हो, जो उसे सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन में सम्मान व सुरक्षा प्रदान करे। इस तथ्य को अग्निहोत्री जी कभी नहीं समझ पाए।"[60]

पति का घर छोड़ने के बाद कृष्णा के जीवन में प्रेम के अनेक प्रस्ताव आए। बेइंतहा मोहब्बत का झूठा दावा करने वालों का एकमात्र लक्ष्य होता था – कृष्णा के साथ शारीरिक संसर्ग। विनय, गांगुली, समाधिया जी जैसे अनेक पुरुष कृष्णा के समक्ष प्रेम के झूठे वादे करते हैं।

सेशन जज श्रीकान्त से प्रेम और प्रेम के कारण कृष्णा दूसरा विवाह तो कर लेती हैं लेकिन यहाँ भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। यहाँ भी पुरुष की कामुकता सामने आ जाती है। कृष्णा अग्निहोत्री लिखती है, "आकर्षण दोनों ओर से था... मुझे

स्मरण है वह शाम जब मैं श्रीकान्त जी के घर अपनी पीएच.डी. लेने के लिए ठहरी थी। उसी दिन उन्होंने मुझसे प्रस्ताव रखा, तुम्हारे बिना अब सफर कठिन है... मुझे जो भोजन पसंद था, वही श्रीकान्त तैयार करवाते। यहाँ तक कि करेले स्वयं ही बनाते। सुबह नाश्ते में गरम जलेबी ही आती...।"[61] श्रीकान्त द्वारा किए गए इन झूठे वादों की वास्तविकता जल्द ही कृष्णा के सामने आ जाती है। "विवाह के बाद श्रीकान्त मुझे पत्नी का दर्जा नहीं देना चाहते थे... बात इतनी उन्होंने बढ़ा ली कि कभी चेहरे पर एसिड फेंकने की बात करते तो कभी चौराहे पर बेइज्जत करने की धौंस देते। अब तो हद थी कि मेहमान जैसी भी मैं उनके घर नहीं जा सकती थी, मेरी जान को खतरा था... श्रीकान्त को मैंने तन व मन से प्यार किया था... लेकिन वे सेशन जजी के कारण मुझे झुकाकर, तोड़कर, डांटकर, अपमान करके, अपमान करवा कर रखना चाहते थे।"[62] यहाँ तक कि श्रीकान्त कृष्णा को वेश्या कहने तक में नहीं हिचकिचाते – "तुम वेश्या हो, चार–चार आने की वेश्या हो।"[63] क्या स्त्री से सम्बन्ध बनाने की प्रथम अनिवार्यता उसके शरीर के भोग पर आधारित होती है? कृष्णा के दूसरे पति श्रीकान्त जो पहले कृष्णा की तारीफ करते थकते नहीं थे, अब वही पति कृष्णा पर पवित्रता, नैतिकता के लांछन लगाकर उसके चरित्र को ही संदेह के घेरे में कैद कर देते हैं। श्रीकान्त को जब तक कृष्णा के शरीर के उपभोग की लालसा थी, उनका झूठा प्रेम भी केवल और केवल तभी तक के लिए था। श्रीकान्त के ये कथन कृष्णा को बिस्तर पर सुलाने भर के प्रलोभन मात्र थे – "वे स्वयं कहा करते थे – ऐसा अनुपम सुख और ऐसी सुगंधित देह का स्पर्श उन्हें प्रथम बार हुआ।"[64]

कृष्णा के पहले पति आईपीएस अधिकारी और दूसरे सिविल जज। दोनों ही कानून के रखवाले। कृष्णा को दोनों पतियों से हिंसा, शारीरिक, मानसिक और यौन उत्पीड़न के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। "छोटी उम्र तक माँ ने ममताविहीन रखा, बाद में सत्यदेवजी ने एक क्षण भी अपनेपन से अभिभूत नहीं किया। आलोचना, मार–पीट और गाली दी।... वहाँ से हटी तो शोषण के कठोर चक्रव्यूह से निकलते–निकलते मैं बेहाल हो गई। जो भी पुरुष आया, उसने शरीर पर पहले दृष्टि डाली, मदद नहीं दी। अपने तन को बचाते–बचाते मैं थक गई। तन शुद्ध मन आहत। श्रीकान्त ने भी शरीर को ही अधिक चाहा...।"[65] पति से इतर सुख यदि पत्नी के लिए चरित्रहीनता है तो पति के सुख के लिए, भोग के लिए, गुलामी के लिए पत्नी द्वारा अपने सुख, अपने अधिकारों का विसर्जन करना क्या चरित्रहीनता नहीं है? पितृसत्ता यदि पत्नी से पति के प्रति देहधर्म की बात करती है तो पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य, धर्म... के नाम पर मौन का आवरण क्यों ओढ़ लेती है? पत्नी में प्रथम दिवस की कमसिन कुंवारी का सौंदर्य ढूंढने वाले कृष्णा के पहले पति के

लिए पत्नी मात्र दैहिक पूर्ति भर के लिए थी, "रात सदैव मेरे लिए परीक्षा की ही रहती। दुर्गंध–उल्टी। अनाप–शनाप व्यवहार, उल्टा–सीधा बकना, गाली–गलौज, अस्वीकृति पर पिटाई... आज भी यह स्मरण होते ही दुख होता है कि एक दिन थकने के कारण अस्पताल में मेरी आंख लग गई थी तो इन्होंने लात मारकर मुझे जगाया, 'साली सोने आती है क्या?'"[66] कृष्णा के जीवन के अनेक प्रसंग पति द्वारा किए गए बलात्कार और यौन शोषण को सामने लाते हैं, "आधी रात को शराब में धुत्त अग्निहोत्रीजी घर आते ही मुझे पलंग से घसीट अंकशायिनी बना लेना चाहते। बस मैं यही नहीं सह पाती, विरोध करती और जमकर पिटती और बलात्कार को सह बेशर्मी से सो जाती। अपने दामन में यही शादी की सौगात पड़ी थी।"[67]

दूसरे पति श्रीकान्त की अभद्रता के कारण विवाह संस्था पर से कृष्णा का विश्वास पूरी तरह से उठ जाता है। दूसरे पति का व्यवहार कृष्णा को मानसिक प्रताड़ना के साथ ही अनेक बार अपमानित भी करता है, "इस औरत ने पहले पति को डंसा, अब मुझे डंसेगी।"[68] यहाँ तक कि कृष्णा के दूसरे पति कृष्णा के लेखन को भी अपना नाम देने को मजबूर करते हैं। पत्नी की प्रतिभा पर भी पति अपना अधिकार समझता है।

कृष्णा को दोनों पतियों से ही उपेक्षा और अपमान मिलता है। आत्मकथा में कृष्णा अग्निहोत्री ने लिखा है, "अब तक मेरी स्थिति ऐसी रही कि बचपन बिना खिलौने के बीत गया। यौवन पति के प्यार रहित।"[69] कलेक्टर अमन और प्रताप के प्रति कृष्णा आकर्षित होती हैं लेकिन यहाँ भी उसके शरीर पर ही सभी की दृष्टि रहती है। प्रताप कृष्णा से यह कहने में भी नहीं है हिचकिचाते, "इतनी जिंदगी तो जी ली, अब और क्यों जीना चाहती हो?"[70]

कृष्णा को प्रेम के बदले सभी से विश्वासघात मिलता है। कृष्णा अग्निहोत्री लिखती है, "...भीतर बैठी औरत को सदा एक ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा रही, जो उसे प्रेमी–सा सहलाए और उसे आलिंगनबद्ध कर इतना व्याकुल कर दे कि मेरी औरत समर्पण के लिए बाध्य हो जाए। मेरी यह एकतरफा चाहत रही, यही सत्य भी है। ऐसा पुरुष मुझे कभी नहीं मिला।"[71] प्रेम और विवाह के नाम पर कृष्णा को सिर्फ और सिर्फ झूठे वादे, प्रलोभन, शारीरिक और यौन उत्पीड़न ही मिलता है। पति–पत्नी के सम्बन्धों के नाम पर कृष्णा को मारपीट, लांछन और झूठे आरोपों के अलावा और कुछ नहीं मिलता है। यह न केवल कृष्णा के जीवन की सच्चाई है बल्कि उन हजारों महिलाओं के जीवन का अनिवार्य हिस्सा है जो सुरक्षा के नाम पर सेवा, श्रम और सेक्स के साथ अपनी अनिच्छा के बावजूद अपने ही पति द्वारा उत्पीड़ित और बलात्कृत की जाती हैं।

पद्मा सचदेव के जीवन में प्रेम कुछ इस प्रकार आया, "तो साहब दुनिया का बेहद हसीन हादसा गुजर गया। पूरी रूह, पूरे जिस्म, पूरी दुनिया पर हावी हो गया। मुझे दीपजी से इश्क हो गया।"[72] पद्मा दीपजी से प्रेम करती हैं और घरवालों के विरुद्ध जाकर दीपजी से विवाह भी करती हैं। विवाह के उपरान्त पति की वास्तविकता पद्मा के सामने आ जाती है। अस्पताल में टीबी की बीमारी से जूझ रही पद्मा को पति का यह संदेश प्रेम की काल्पनिक दुनिया से यथार्थ पर लाकर खड़ा कर देता है। "पहले तो ये कि अगर मैंने अपनी माँ के साथ या किसी रिश्तेदार के साथ कोई ताल्लुक रखा तो वो मुझे घर में नहीं रखेंगे। और दूसरा ये कि मैं उन्हें तलाक दे दूँ नहीं तो उनके घर में किसी की शादी न होगी। सब लोग ये कहेंगे कि इनके घर में टीबी है, यहाँ हम शादी–ब्याह न करेंगे।"[73] पति द्वारा पद्मा को भेजे गए पत्रों में बार–बार तलाक की बात पद्मा को दुख और अवसाद से घेर लेती है। महीनों अस्पताल में बीमारी से जूझती पद्मा की खबर न तो पति ही लेता है न ही ससुराल वाले। क्या दाम्पत्य जीवन का यही आधार है कि पत्नी की बीमारी के कारण पति उससे तलाक ले ले? शराब के नशे में हमेशा धुत रहने वाला पति पद्मा को अपमानित करने के सिवाय और कुछ कर भी क्या पाता? "शराब पी लेने के बाद उनके भीतर का मनुष्य गायब हो जाता था और वो एकदम दानव हो जाते थे।"[74]

बीस–बाईस की उम्र में ही दीपजी से विवाह पद्मा को जीवन के कड़वे अनुभवों से साक्षात्कार कराता है। पति की शराबी लत, अभद्रता के चलते पद्मा, पति से तलाक ले लेती हैं, "मैं बस में जा रही थी। एक मुक्ति का अनुभव करती हुई। एक ऐसे जाल से मुक्ति, जिसके कांटे अब तक मेरी रूह के जिस्म पर चुभे हुए थे।"[75] पहले पति से सम्बन्ध विच्छेद के बाद सुरिन्दर सिंह द्वारा किए गए शादी के प्रस्ताव को पद्मा स्वीकार कर लेती हैं। सुरिन्दर सिंह पद्मा के दूसरे पति होने के साथ ही प्रेमी भी हुए। जहाँ एक ओर पहला विवाह पद्मा के दुख का कारण बनता है वहीं दूसरा विवाह पद्मा के जीवन में पति का साथ और सहयोग लेकर आता है।

प्रभा खेतान एक ऐसे व्यक्ति से प्रेम करती हैं जो उनसे उम्र में 18 वर्ष बड़ा है, विवाहित है और कई बच्चों का पिता है। बाईस वर्ष की उम्र में डॉक्टर सर्राफ के प्रति प्रभा का आकर्षण जीवन भर के लिए प्रेम में परिणत हो जाता है। "उनकी वह पहली छुअन भीतर तक सहला गई। पहली बार किसी पुरुष ने प्यार से मुझे अपनी हथेलियों से भरा और पहली बार कोई पुरुष मुझसे कह रहा था कि "तुम कितनी आकर्षक हो' पहली बार किसी की बाहों में मैंने खुद को सुरक्षित महसूस किया।"[76] प्रेम को ही विवाह मानने वाली प्रभा जीवनभर अविवाहित रहती हैं। प्रभा के अनुसार "विवाह एक ओवररेटेड संस्था है। मैं इस संस्था को ज्यादा तरजीह देने

से इंकार करती हूँ।"[77] प्रभा मानती हैं, "जो घट गया, जिससे प्रेम हो गया मैं उसे ही विवाह मानती हूँ।"[78] प्रभा विधिवत विवाह तो नहीं करती हैं किंतु डॉक्टर सर्राफ के प्रेम में पत्नी की भांति पूर्ण समर्पित हो जाती हैं। प्रेमी के प्रति पूर्ण एकनिष्ठता के बावजूद प्रभा खेतान को एक पत्नी की भांति ही संदेहों के घेरे में खड़ा किया जाता है। "मुझ पर नियन्त्रण रखने का यह उनका अपना तरीका है। मेरे नाम की हर चिट्ठी पहले डॉक्टर साहब की मेज पर जाती थी। तीस साल के साथ के बावजूद मैं कभी उनका विश्वास नहीं जीत पाई। मेरे संपर्क में आने वाले हर पुरुष के प्रति वे सन्देहग्रस्त रहते और रिश्तों की कैफियत देते–देते मैं थक जाती।"[79] समाज प्रभा को दूसरी औरत का दर्जा देता है। दूसरी औरत अर्थात पथभ्रष्ट और अपवित्र। प्रभा अपने आप से सवाल करते हुए लिखती हैं, "क्या सारी वैधता सात फेरों से मिलती?"[80]

प्रभा के द्वारा तन, मन और धन से भी पूर्ण समर्पण के बावजूद डॉक्टर सर्राफ का प्रभा के प्रति प्रेम केवल और केवल दैहिक स्तर पर था, "मेरे लिए इस सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं... क्योंकि मेरे लिए औरत बस एक देह है, मन लगाने की चीज...।"[81] यह सच है कि स्त्री पर अधिकार स्थापित कर पुरुष प्रसन्नता का अनुभव करता है। स्त्री एक प्रकार से पुरुष के गर्व का प्रतीक भी बन जाती है। पुरुष स्त्री को तमाम झूठे प्रलोभनों के जाल में फंसाकर उसके शरीर को भोगना चाहता है। डॉक्टर सर्राफ भी प्रभा को झूठे प्रेम और खोखले आश्वासनों का झुनझुना थमाकर उसके शरीर को अपनी तृप्ति का माध्यम बनाते हैं। "मेरी देह से एक–एक कर उतरते कपड़ों के साथ और भी अड़चने उतरती जा रही थीं। क्षणभर को, बस क्षणांश को वे रुके, मेरी नंगी चिकनी देह पर हाथ फिराते हुए उन्होंने कहा – "तुम कितनी कमसिन हो प्रभा।"[82]

पुरुष तो स्त्री को देह मानता ही है और यदि स्त्री भी स्वयं को देह मानने लगे तो इससे भयावह स्थिति और क्या होगी। यह प्रभा की कुंठा है या डॉक्टर सर्राफ की जीत, जब प्रभा अपने अस्तित्व को भूलकर स्वयं को शरीर मानने लगती है, "...मेरी देह पुरुष की जिस भूख को जगा पाती है, वह देह बड़ी कीमती है। जब वे कहते ... "तुम मेरी चीज हो, मेरी।" तो मुझे बेहद सुकून मिलता है।"[83] चुनाव, निर्णय की स्वतंत्रता को अपना अधिकार मानने वाली प्रभा अपने स्वत्व को भी डॉक्टर सर्राफ के प्रति समर्पित करने के लिए बाध्य क्यों हो जाती हैं? विवाह को बंधन मानने वाली प्रभा डॉक्टर सर्राफ की अभद्रता को झेलने के लिए क्यों मजबूर होती हैं? यह शायद प्रभा के अकेलेपन का भय था जो कई बार न चाहने के बावजूद प्रभा को डॉक्टर सर्राफ से जोड़े हुए था। समाज द्वारा रखैल कही जाने पर

प्रभा डॉक्टर सर्राफ के आश्रय में उपेक्षा और तिरस्कार से मुक्ति का सपना तो देखती हैं लेकिन "याद नहीं आता कि प्यार और संतुष्टि के क्षण कभी दो दिन भी मेरे जीवन में स्थायी रहे हों। किसी दिन यदि मैं जरा खुश भी होती तब अमूमन कुछ ऐसा घटता, कुछ ऐसा ताने–बोली कि मुझे वापस रोने का दौरा पड़ जाता, आँसुओं का सैलाब उमड़ पड़ता। परिस्थिति पूरी तरह मुझ पर हावी थी, एक अवैध रिश्ते को जीकर दिखलाने के प्रयास का शायद यही हश्र होना था...।"[84] प्रभा को जीवन में प्रेमी से जिस प्रेम और सम्मान की आकांक्षा थी, वह प्रेम उनके लिए एक सपना बनकर ही रहा। जीवन भर डॉक्टर सर्राफ के प्रेम को अपना जीवन मानने वाली प्रभा को प्रेम के बदले पीड़ा और दंश ही मिलता है। "स्नेह, प्यारविहीन ... थार का रेगिस्तान जैसा मेरा जीवन रहा है...।"[85]

प्रभा खेतान विवाह को पितृसत्तात्मक मूल्यों की संस्था मानकर संस्कारों के नए अर्थ को सामने रखती हैं। विवाह की नैतिकताओं, मर्यादाओं से प्रभा मुक्त तो होती हैं लेकिन साथ ही एक बंधन में भी बंधती जाती हैं। डॉक्टर सर्राफ से एक प्रेमिका की तरह प्यार करने के साथ ही प्रभा पत्नी की भांति अपने शरीर को पूरी तरह समर्पित भी कर देती हैं। प्रेमिका, पत्नी की भूमिकाओं का निर्वहन करने के साथ ही प्रभा डॉक्टर सर्राफ की बीमारी के समय एक माँ की तरह उनकी देखभाल भी करती हैं। डॉक्टर सर्राफ के प्रति प्रभा की पूर्ण निष्ठा प्रभा को डॉक्टर सर्राफ का पूर्ण समर्पण दे पाती है? नहीं, शायद इसलिए प्रभा एक अन्य पुरुष के प्रति आकर्षित होती है और दोनों के बीच शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं। प्रभा परंपरागत व्यवस्था से कुछ हद तक तो मुक्त होती है लेकिन मुक्ति के साथ ही डॉक्टर सर्राफ के साथ अपने बंधन को जीवनभर ढ़ोने के लिए मजबूर भी होती हैं। "हमारा अपराध था कि हम प्यार करते थे, वैसे ही जैसे हजारों स्त्री–पुरुष करते हैं लेकिन इन हजारों स्त्री–पुरुषों की शादी हो जाती है और यदि शादी नहीं होती तो वे अलग–अलग हो जाते हैं। त्रासदी तो यह थी कि न हमारी शादी हो सकती थी और न हम अलग हो पा रहे थे।"[86]

लेखन के जरिए राजेंद्र यादव से मन्नू भंडारी का परिचय प्रेम में बदल जाता है, "राजेंद्र की मित्रता अब धीरे–धीरे दूसरी दिशा की ओर मुड़ चली... और यह परिवर्तन एकतरफा तो था नहीं, उसमें मेरी बराबरी की सहमति ही नहीं, सहयोग भी था। परिणाम यह हुआ कि मेरे लेखकीय उत्साह–उमंग में रोमानी रंग भी भरने लगे...।"[87] मन्नू भंडारी और राजेंद्र यादव के प्रेम की परिणति विवाह में होती है। विवाह के साथ ही दोनों का प्रेम अनिवार्यताओं और अपेक्षाओं की टकराहट में बदल जाता है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश के साथ ही मन्नू के सपनों और उमंगों पर एक

प्रश्नचिह्न लग जाता है। "पर जिंदगी शुरू करने के साथ ही लेखकीय अनिवार्यता के नाम पर राजेंद्र ने 'समानान्तर जिंदगी' का आधुनिकतम पैटर्न थमाते हुए जब कहा कि 'देखो, छत जरूर हमारी एक होगी लेकिन जिंदगियाँ अपनी–अपनी होंगी – बिना एक–दूसरे की जिंदगी में हस्तक्षेप किए बिल्कुल स्वतंत्र, मुक्त और अलग' तो मैं तो बिल्कुल अवाक्।"[88]

राजेंद्र यादव के साथ मन्नू भंडारी के सहजीवन की शुरूआत ही एक अजीब किस्म के अलगाव से होती है। घर की सारी जिम्मेदारियां और आर्थिक से लेकर सभी प्रकार की समस्याएं मन्नू के खाते में आती हैं। वहीं दूसरी ओर राजेंद्र यादव के अधिकार क्षेत्र में था – स्वतंत्रता, घर से लेकर आर्थिक सभी प्रकार की जिम्मेदारियों से छूट और जहाँ–तहाँ घूमने–फिरने की आजादी। पारिवारिक दायित्वों से मुक्ति के साथ ही राजेंद्र यादव मन्नू के प्रति भावनात्मक आदि सभी प्रकार के दायित्वों से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि मन्नू के माँ बनने पर राजेंद्र यादव पूरी जिम्मेदारी मन्नू पर थोपकर एक प्रकार की उदासीनता और तटस्थता ओढ़े रहते हैं। आत्मकथा में मन्नू भंडारी लिखती हैं, "मेरा बड़ा मन करता था कि कभी तो राजेंद्र मेरे पास अकेले में आकर बैठें... बच्ची को देखें, पर नहीं, ये तो मिलने के निर्धारित समय पर भीड़ के साथ आते थे और भीड़ के साथ ही लौट भी जाते थे। हो सकता है कि यह तटस्थता ... यह उदासीनता भी इनके तथाकथित 'आधुनिक जीवन' के पैटर्न का हिस्सा ही हो। जो भी हो, मेरे लिए तो यह सारी स्थिति अकल्पनीय ही नहीं, बेहद–बेहद तकलीफदेह भी थी।"[89]

विचार, आचरण, जीवन... में आधुनिकता का पैटर्न थमाकर राजेंद्र यादव मन्नू को दुख, तकलीफ, मानसिक प्रताड़ना देने के साथ ही न्यूरोलजिया का शिकार भी बनाते हैं। राजेंद्र यादव के अनुसार "पत्नी को एक नर्स की भांति होना चाहिए जो सिर्फ पति की सेवा करे, बदले में उससे अपेक्षा न करे।"[90] पत्नी की सभी अपेक्षाओं, आकांक्षाओं से मुक्ति को अपना अधिकार समझने वाला पति उन्हीं अपेक्षाओं की कामना पत्नी से क्यों करता है? लेखक को संवेदनशील कहा जाता है। राजेंद्र यादव अपने लेखन में दुखी, त्रस्त और यातनाओं से ग्रस्त लोगों के प्रति अपनी पूरी संवेदना, करुणा उड़ेल देते हैं लेकिन पत्नी का नाम आने पर उनकी सारी संवेदना क्यों सूख जाती है? "क्या पत्नी उन्हें हाड़–मांस का प्राणी ही नहीं लगती या कि काल्पनिक पात्रों के गढ़े हुए सुख–दुख पर ही अपनी सारी संवेदना उड़ेलकर वे इतने खाली–खोखले और करुणा–विहीन हो जाते हैं कि जीवित पत्नी के लिए उनके पास कुछ बचता ही नहीं?"[91]

प्रेम, आपसी लगाव के अभाव और यातनामय परिस्थितियों को झेलने के बावजूद क्या कारण रहा कि मन्नू भंडारी 35 वर्षों तक राजेंद्र यादव से जुड़ी रहीं? इसका जवाब स्वयं मन्नू भंडारी भी नहीं खोज पाती हैं। राजेंद्र यादव का मीता से प्रेम और मन्नू से विवाह एक पुरुष की वास्तविकता को सामने लाता है। मन्नू ने राजेंद्र यादव से क्या चाहा था? अटूट विश्वास, आत्मीयता, संवेदनशीलता और एकनिष्ठता। अपने वैवाहिक जीवन में मन्नू को पति से उपेक्षा, विश्वासघात और पीड़ा ही मिलती है। अकेलेपन के भय के चलते मन्नू इतने वर्षों तक पति से जुड़ी रहती हैं इस विश्वास के साथ कि, "अपने बदले व्यक्तित्व के साथ अब जरूर राजेंद्र तकलीफ में मेरा ख्याल रखेंगे, जिसकी मुझे जरुरत भी थी।"[92] पति के साथ रहकर भी अलगाव, उपेक्षा और संवेदनहीनता की यातनाओं से घिरा दाम्पत्य मन्नू और राजेंद्र के खोखले सम्बन्धों को सामने लाता है। प्रेम, विवाह और दाम्पत्य के नाम पर यहाँ पति की अहम्, कुंठा, उत्तरदायित्वहीनता ही देखने को मिलती है। यहाँ पति को कभी घर दमघोटू लगता है तो कभी पत्नी की अपेक्षाएं स्वयं की रचनात्मक ऊर्जा को खोने वाली जकड़नों से भरी। पत्नी से प्रतिकार के बावजूद पति के जुड़ाव का एकमात्र सूत्र था – घर से मिलने वाली सुविधाओं और पत्नी की आर्थिक निर्भरता में जीवनयापन।

चंद्रकिरण सौनरेक्शा के जीवन में विवाह से पूर्व एकतरफा आकर्षण के दो प्रसंग सामने आते हैं। पहला जब चंद्रकिरण नाटक में काम करने वाले लड़के के प्रति आकर्षित होती हैं। "दो दिन बीत चुके थे, पर मुझ पर से उस नाच का नशा नहीं उतरा – मन करता दुबारा वही नाच देखने जाऊं। ...मैंने किताबों में पढ़ा था जो व्यक्ति या वस्तु बार–बार आँखों के सामने आए समझ लो उससे प्यार हो गया।"[93] दूसरा प्रसंग तब आता है जब 'साहित्यरत्न' की परीक्षा के लिए प्रयाग में ठहरने के दौरान प्रेमप्रकाश नामक व्यक्ति चंद्रकिरण के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है। "मेरा मन कल्पना के आकाश में पंख लगाकर उड़ने लगा – प्रेम, गोरे, सुंदर युवक थे, मेरा रंग, उनकी तुलना में काफी गिरा हुआ था। पर उनके द्वारा खुद विवाह का प्रस्ताव मिलना – मेरे किशोर मन के लिए बड़े गर्व का कारण बन गया। पति के रुप में उनकी छवि ने मुझे रोमांचित कर दिया।"[94] दोनों ही प्रसंगों में चंद्रकिरण का मन पापबोध से भर जाता है। पहले प्रसंग में, "यास्मीन – यानी वह मुसलमान था। बाप रे। एक आर्यसमाजी हिंदू लड़की को मुसलमान लड़के से प्रेम हो गया। मुझे तो डूब मरना चाहिए... आंखें मूंदकर प्रार्थना की – हे ईश्वर! मेरी गलती क्षमा करना। मैंने जानबूझकर तो यास्मीन से प्रेम नहीं किया, मैं क्या करूं? अपने माँ–बापूजी की बदनामी मैं सहन नहीं कर सकती, इसलिए आत्महत्या कर रही हूं।"[95] दूसरे प्रसंग में, "मैंने ज्यों ही पढ़ना छोड़ सिर ऊंचा किया, प्रेम ने पीछे

से गले में हाथ डाल, मेरे मस्तक पर अपने गरम होंठ रख दिए... मैं पलभर को संज्ञा–शून्य–सी हो गई... दूसरे ही क्षण चेतना लौटते ही मैंने प्रेम को जोर से धक्का दिया, अपने को मुक्त करके, जोर–जोर से रोने लगी, साथ ही चीखने लगी, "तुमने पाप किया है, तुमने पाप किया है – भगवान हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे।"[96] जिस समाज में प्रेम को पाप से जोड़कर देखा जाता हो, वहां चंद्रकिरण का यह पापबोध कोई आश्चर्य का प्रश्न नहीं रह जाता है। समाज में आज भी प्रेम को धर्म, जाति, स्टेट्स आदि से जोड़कर स्त्री को प्रेम करने की छूट नहीं दी जाती है। चंद्रकिरण के मन में प्रेम के प्रति अपराधबोध भी सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं और सोच की ही उपज है।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा का विवाह 'विचार' के उपसंपादक कांतिचंद्र सौनरेक्सा से सम्पन्न होता है। चंद्रकिरण विवाह के बाद पारिवारिक जिम्मेदारी के साथ ही आर्थिक जिम्मेदारी का भी निर्वहन करती हैं। इतनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद चंद्रकिरण ने घर के कामकाज संभालने के साथ ही अपनी रचनात्मकता को भी जिंदा रखा। पति की शंकालु दृष्टि और उत्तेजित स्वभाव चंद्रकिरण को अनेक बार कठघरे में खड़ा करता है। चंद्रकिरण द्वारा भेजी गई कहानी पर संपादक का पत्र आने पर पति की प्रतिक्रिया दाम्पत्य जीवन के खोखलेपन को काफी हद तक उजागर कर देती है – "ये साले संपादक भी लड़कियों को बड़े मीठे–मीठे पत्र लिखते हैं। अभी कोई पुरुष लेखक अपनी रचना भेजता तो उत्तर ही पन्द्रह दिन बाद मिलता – या मिलता ही नहीं। तुमने भी तो कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा जरूर... उसके चूतड़ों में घी मला होगा।"[97] एक साधारण प्रशंसापत्र भी पति की कुंठा का कारण बन जाता है कि वह पत्नी को घिनौनी गाली देने में भी नहीं हिचकिचाता।

अपमान और उपेक्षा सहने के बावजूद चंद्रकिरण पति से विरोध का नहीं बल्कि सहयोग और स्वीकृति का रास्ता चुनती है। घर छोड़कर जाने का संकल्प पलभर में पतिव्रता पत्नी बनने में तब्दील हो जाता है – "भविष्य में अपने आप को कल शाम की स्थिति में दुबारा न पड़ने और कांतिजी को, किसी भी प्रकार अपशब्द की उस सीमा तक जाने का अवसर न प्रदान करने के लिए, मैंने दूसरा निश्चय किया – कहानी लिखूंगी, पर इन्ही को पकड़ा दूंगी – फिर 'यह' चाहे जहाँ प्रकाशन के लिए भेजें – मेरा कोई सीधा संपर्क नहीं रहेगा – न संपादक के पत्र आएंगे, न झगड़े होंगे। (शायद यही वह सबसे आदर्शवादी, पतिव्रता पत्नी का निर्णय था – जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यक जीवन ने चुकाई – और लगभग गुमनामी के कगार पर खड़ी – अभिशप्त सरस्वती के वरदान–सी मैं खड़ी हूं।"[98]

पति के हर 'विरोध' को चंद्रकिरण 'स्वीकार' में तब्दील कर दाम्पत्य में सामंजस्य का रास्ता तलाशती हैं। पति की खुशी के लिए वह मांस–मछली तक बनाना सीखती है जबकि वह स्वयं मांसाहारी नहीं हैं। अन्य स्त्रियों से शारीरिक सम्बन्ध के बावजूद चंद्रकिरण के पति अनेक बार पत्नी को कठघरे में खड़ा करते हैं। एक पत्नी के रुप में चंद्रकिरण न केवल पति की उपेक्षा को सहती हैं बल्कि पति द्वारा अपने ही बिस्तर को परायी स्त्री के साथ इस्तेमाल करते हुए देखने की पीड़ा को भी झेलती हैं। "उस कमरे का एक दरवाजा गैलरी में खुलता था, उससे मैं गैलरी में आ गई और भीतर से द्वार बंद हो गया। क्रोध, अपमान, आत्मग्लानि से मेरा तन–मन जल रहा था। आंसू नहीं थे आंखों में। मैं किसी भी कमरे में जाती, तो बात खुल जाती, गैलरी में अखबार रखे थे, उन्हीं को बिछाकर, द्वार से टेक लगाकर बैठ गयी। बीच–बीच में ऊँघ भी गई हूँगी।"[99] पति के अत्याचारों को सहती एक स्त्री को पति द्वारा ही गुमनामी के अंधकार में कैद कर दिया जाता है। मर्यादा, नैतिकता, प्रतिष्ठा के नाम पर चंद्रकिरण न तो पति की इच्छा के विरुद्ध जाती हैं और न ही पति से सम्बन्ध विच्छेद कर अलग होने का निर्णय लेती हैं। पति से प्यार और स्नेह के बजाए चंद्रकिरण को अपमान, तिरस्कार और लांछन ही मिलते हैं। स्वयं का लेखन भी पति की प्रसन्नता और इच्छा का प्रश्न बन जाता है। जीवनभर पति से विश्वास की आशा रखने वाली चंद्रकिरण को दाम्पत्य के नाम पर गाली–गलौज और अपमान ही मिलता है। परिवार की प्रतिष्ठा के कारण चंद्रकिरण पति से अलग नहीं होती हैं। वह नहीं चाहती हैं कि समाज उसे 'छोड़ी हुई औरत' की संज्ञा दे।

सवाल यह उठता है कि अत्याचार सहते हुए भी मौन रहना आदर्श पत्नी की श्रेणी में आता है? अपने जीवन की अपेक्षा घर परिवार की मान–मर्यादा, प्रतिष्ठा की परवाह करना, पितृसत्ता के संस्कारों का पोषण नहीं तो और क्या है? विवाह के नाम पर चंद्रकिरण को न तो पति का भावनात्मक साथ मिलता है और न ही रचनात्मक। बावजूद इसके वह पति को छोड़ क्यों नहीं पाती हैं? आत्मकथा में चंद्रकिरण लिखती हैं, "एकमात्र मौन ही, मेरे दुख का साथी था। आज मैं, और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूँ। और यह कोई गर्व की नहीं, दुख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा...।"[100]

कौसल्या बैसंत्री का जीवन जातिगत भेदभाव और अभावों में बीता। इस कारण उनके जीवन में प्रेम करने का कोई अवकाश ही नहीं था। जीवन जीने के संकट इतने अधिक थे कि प्रेम उनके जीवन में अछूता ही रहा। कौसल्या का विवाह देवेंद्र कुमार नाम के व्यक्ति से हुआ। "विवाह के बाद एक दूसरी तरह का अभिशाप

मानो कौसल्या की प्रतीक्षा कर रहा था। वह चार बच्चों की माँ बनी और घर की चारदीवारी में कैद कर दी गई। शक्की पति का अविश्वास और उत्पीड़न उसे तोड़ देता है।"[101]

कौसल्या की भावना, इच्छा, खुशी से परे देवेंद्र कुमार अपने ही बनाए घेरे में रहने वाला व्यक्ति था। स्वतंत्रता सेनानी होने के बावजूद वह पत्नी को दासी के रूप में ही देखता है। आत्मकथा में कौसल्या ने लिखा है, "पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में ही देखता था। ...मैं खाना बन जाने पर खा लेती थी। तब उसने यह शिकायत मेरे भाई से की कि मैं उससे पहले खाना खा लेती हूं। कोई जरूरी है कि पत्नी सबसे पीछे खाए। जिसे भूख लगे वह खाए।"[102] देवेंद्र कुमार को पत्नी की आवश्यकता सिर्फ खाना बनाने और शारीरिक भूख मिटाने भर के लिए थी। पत्नी की किसी भी इच्छा, भावना का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं था। यहाँ तक कि वह पैसों को भी अलमारी में ताले में बंद करके रखता था। कौसल्या ने पति के स्वभाव और पत्नी के प्रति पति के उपेक्षा भरे भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है, "मेरे कपड़े, चप्पल की सिलाई के लिए पैसे लेने में बहुत पीछे पड़ना पड़ता, तब पैसे देता था। वे भी पूरे नहीं पड़ते थे। कभी 'नहीं' भी देता। कहता अगले महीने लेना। जब अगले महीने पैसे देने की बात आती तब कुछ–न–कुछ कारण निकालकर झगड़ा करता। मारने दौड़ता। मैंने बाद में उसके साथ ज्यादा बात करनी छोड़ दी क्योंकि वह जरा–जरा सी बात पर गाली देता था। जब देवेंद्र कुमार अपने गांव बिहार जाता तब एक कागज पर इतने पैसे दूध के, इतने सब्जी के, इतने राशन के और चालीस रुपये तुम्हारी पगार लिखकर रख देता, जैसे मैं वहाँ उनके घर की नौकरानी हूं।"[103]

क्या कारण रहा कि इतना अपमान सहने के बावजूद कौसल्या पति से अलग नहीं हो पाई? अपनी लगभग पूरी उम्र पति के साथ बिताने के बाद वह पति के अत्याचार के विरुद्ध कोर्ट में केस दर्ज करती हैं। पति के झगड़े और गालियां सहते हुए भी वह पति के साथ चालीस वर्ष बिता देती हैं। इसके पीछे पति पर कौसल्या की आर्थिक रुप से निर्भरता एक कारण हो सकता है। जीवनभर जातिगत भेदभाव के दंश और पीड़ा को झेलती आई कौसल्या पति के अत्याचार को बच्चों की जिम्मेदारी के कारण भी सहती हैं। यही कारण है कि जब कौसल्या के बच्चे बड़े और आत्मनिर्भर हो जाते हैं तब वह पति से अलग होने का निर्णय लेती है।

सुशीला टाकभौरे के जीवन में प्रेम के लिए न तो स्थान था और न ही उनके जीवन की परिस्थितियां प्रेम करने के लिए अनुकूल थीं। सामाजिक बन्धनों और मूल्यों के चलते उनके जीवन में प्रेम का अभाव ही रहा। संस्कारों ने भी उन्हें प्रेम

करने की छूट नहीं दी। "माँ–नानी की शिक्षा से यही सीखा था, माता–पिता जिसके साथ मेरा विवाह करेंगे, उसी से प्यार करना है और उसी का प्यार पाना है। अपने मन से किसी अनजान लड़के से प्रेम करना पाप है। प्रेम शादी के बाद पति से ही किया जाता है, यह संस्कार बचपन से मिला था। प्रेम के आदान–प्रदान की और मन की कोमल भावनाओं के फलने–फूलने की सम्पूर्ण अपेक्षा शादी के बाद पति से ही थी।"[104] सुशीला का विवाह अपनी उम्र से कहीं अधिक बड़ी उम्र के प्रौढ़ व्यक्ति के साथ होता है। विवाह के बाद सुशीला का जीवन दोहरे शिंकजे में कैद हो`जाता है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "क्या पति के सामने पत्नी का कोई स्थान नहीं होता? ससुराल में बहू की स्थिति क्या इतनी नगण्य होती है? स्त्री की स्थिति इस तरह पद दलित रहती है? स्त्री इतना अपमान, इतनी पीड़ा क्यों सहती है? उसे ऐसा क्यों बनाया गया? दुख के साथ मेरे हृदय में भावनाओं का बवंडर उठा था।"[105]

सुशीला विवाह के बाद न केवल पति द्वारा प्रताड़ित होती हैं बल्कि सास और ननद द्वारा भी अनेक बार अपमानित की जाती हैं। घर की पारिवारिक जिम्मेदारी संभालने के साथ ही सुशीला आर्थिक जिम्मेदारी का भी निर्वहन करती हैं। पति का व्यवहार सुशीला के लिए हमेशा मारपीट और गाली–गलौच भरा ही रहा। "मेरे साथ घर में मारपीट–गाली–गलौच सब कुछ हुआ। बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूँसे मारना – मैंने सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे।"[106] पत्नी के साथ सात फेरे लेने वाला पति दिए गए वचनों को क्यों नहीं निभा पाता है? सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "शादी क्या है? पति क्या है? सुख क्या है? अपनापन क्या है? सब निरर्थक लगते थे। टाकभौरे जी मुझे एक अजनबी की तरह लगते। मन में कभी यह भाव नहीं जागा कि पति यानी अपना कोई होता है। मित्र या साथी होना तो बहुत दूर की बात थी।"[107] पति के सारे कामों कपड़े धोने से लेकर जूते पहनाने तक की जिम्मेदारी सुशीला को उठानी पड़ती है। यहाँ तक कि सुशीला की तनख्वाह पर भी पति अपना अधिकार समझता है। घरेलू हिंसा के साथ ही सुशीला पति द्वारा आर्थिक शोषण की भी शिकार बनती हैं। "वे मुझे अक्सर कहते थे – "तू मेरे सामने कुछ भी नहीं है। तेरी औकात सिर्फ एक बर्तन माँजने वाली नौकरानी के बराबर है।"[108]

समाज में ऐसी अनेक स्त्रियाँ हैं जो सुशीला की तरह बच्चों के नाम पर जीवनभर पति का अत्याचार सहती हैं। सुशीला अनेक बार पति से अलग होने का निर्णय लेती है लेकिन कभी संस्कारों के नाम पर तो कभी परिवार को टूटने से बचाने के लिए वह पति से अलग नहीं हो पाती हैं। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "कई बार मैंने निर्णय लिया – 'मैं उनके साथ नहीं रहूँगी।' मगर कुछ

दिनों में मैं अपने मन को समझाकर निर्णय बदल लेती, क्योंकि बच्चों के लिए पिता की जरूरत होती है, यह मैं समझती थी। धीरे–धीरे मेरा मन बदल जाता – 'जाने दो, आगे ऐसा नहीं होगा। परिवार टूटने से बच्चों के साथ अन्याय होगा। बच्चों को माँ के साथ पिता भी चाहिए।'"[109] अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता के बावजूद बच्चों के लिए, अत्याचार–मारपीट और अपमान सहते हुए भी पति के साथ सुशीला का जुड़ा रहना कहाँ उचित है? यह सच है कि बच्चों की परवरिश के लिए पिता का प्यार भी आवश्यक होता है लेकिन यदि वही पिता बच्चों की माँ को सेवा करने वाली कठपुतली मात्र समझे तो क्या पत्नी का पति से जुड़ा रहना आवश्यक है? अपमान, तिरस्कार सहने के बावजूद सुशीला अपने पति से अलग नहीं हो पाती हैं। इसका कारण बच्चों की परवरिश के साथ ही उनके अकेलेपन का भय भी है। "बच्चे दाम्पत्य जीवन के निमित्त रहे। वे हमें जोड़े रखने की कड़ी बन गए। बच्चे नहीं होते, तब भी हम साथ रहते। बिना कड़ी के जुड़े, अपनी–अपनी धुरी पर घूमते हुए सौर मण्डल के अदृश्य जैसे बन्धन में बंधे। तब भी वे सूर्य की तरह तपते रहते, मैं धरती की तरह सहती रहती। इस बन्धन से छूटकर जाती भी भला कहाँ? अपने निर्धारित स्थान को छोड़कर फिर से कोई अन्य निर्धारित स्थान पा लेना सबके लिए सम्भव नहीं होता। इसके लिए हौसला चाहिए, सबसे टकराने का। टक्कर का, जवाब देने का और अपने लिए फिर से कोई नया स्थान बना लेने का साहस चाहिए।"[110]

लगभग सभी लेखिकाओं के जीवन में प्रेम, विवाह और दाम्पत्य के नाम पर अकेलापन, घुटन, पति का अत्याचार, शारीरिक और यौन उत्पीड़न, आर्थिक शोषण कमोबेश मात्रा में विद्यमान है। आठ लेखिकाओं की आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि लगभग सभी लेखिकाओं के जीवन में विवाह उनके लिए बंधन बनकर ही सामने आता है। कुसुम अंसल के प्रति पति का व्यवहार शारीरिक या यौन उत्पीड़न भरा तो नहीं रहता है लेकिन यहां पति की व्यस्तता के चलते पत्नी अवसाद और अकेलेपन का शिकार बनती है। कृष्णा अग्निहोत्री के जीवन में प्रेम और विवाह दोनों ही दुख और पीड़ा के कारण हैं। विवाह दूसरा भी उनके लिए अपमान, उपेक्षा और निराशा से भरा रहा। पद्मा सचदेव के जीवन में प्रथम विवाह उनकी मानसिक यातना का कारण बनता है लेकिन दूसरा विवाह खुशहाली बनकर सामने आता है। प्रभा खेतान अविवाहित रहने के कारण विवाह से तो अछूती रहीं लेकिन उनके लिए प्रेम भी विवाह संस्था की ही भांति बंधनों में कैद करने वाला साबित हुआ। मन्नू भंडारी के जीवन में प्रेम और विवाह दोनों ही कष्टदायक रहे। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के जीवन में प्रेम का स्थान नहीं रहा। विवाह उनके लिए भी हिंसा व यौन उत्पीड़न का कारण बना। कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे के

जीवन में प्रेम का अभाव रहा। वहाँ दाम्पत्य के नाम पर पति द्वारा मारपीट, अपमान उपेक्षा और तिरस्कार भरा व्यवहार ही सामने आता है।

तमाम उत्पीड़न, शारीरिक और मानसिक हिंसा सहने के बावजूद आठ लेखिकाओं में से केवल कृष्णा अग्निहोत्री और पद्मा सचदेव ही पति से अलग होने का निर्णय ले पाती हैं। मन्नू भंडारी पति से अलग होने का निर्णय तो लेती हैं लेकिन 35 वर्ष पति के साथ गुजारने के बाद। कौसल्या बैसंत्री भी लगभग पूरी उम्र पति के साथ बिताने के बाद पति से अलग होने के लिए कोर्ट में केस दायर करती हैं। यह अकेलेपन का भय है या संस्कारों का पोषण जिसके चलते लेखिकाओं का अपने पति से जुड़ाव बना रहा? इनमें से अधिकांश लेखिकाएं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हैं। बावजूद इसके वे पति के अत्याचार को सहती हैं। वास्तविकता यह है कि पति के अत्याचार के विरोध के लिए स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ ही मानसिक रूप से आत्मनिर्भरता भी बेहद आवश्यक है। लगभग सभी लेखिकाएं पढ़ी–लिखी और अपने अधिकारों के प्रति सजग होने के बावजूद एक प्रकार से मानसिक गुलामी के जीवन में ही जीती रहीं। विवाह और प्रेम के नाम पर उनमें कभी प्रेमिका तो कभी पत्नी बनने की जद्दोजहद सामने आती है। प्रभा खेतान के भीतर पत्नी बनने की और लगभग सभी विवाहित लेखिकाओं के भीतर पति की प्रेमिका बनने की अकुलाहट दिखायी देती है। दाम्पत्य के नाम पर लगभग सभी लेखिकाएं पति की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का माध्यम भर रहीं। पति–पत्नी के सम्बन्धों के नाम पर लगभग सभी लेखिकाओं का जीवन एक प्रकार के अकेलेपन में ही बीता। केवल पद्मा सचदेव को जीवन में दूसरे पति द्वारा भावनात्मक और रचनात्मक सहयोग मिलता है।

"भारतीय स्त्री की त्रासदी यह भी है कि वह 'सारी क्रूरताओं', शोषण, उत्पीड़न और अपमान के बावजूद, न पति के साथ रहना चाहती है और न उसे छोड़ना चाहती है। सहनशीलता या धीरज रखने को कहें तो उसे लगता है कि फिजूल 'उपदेश' दे रहे है। विवाह के बाद स्त्री को भला पिता के घर में कौन 'शरण' देगा और दे भी तो कब तक? वह हमेशा इसी आशा और विश्वास के भ्रमजाल में फँसी रहती है कि एक न एक दिन संकट की स्थितियाँ समाप्त हो जाएँगी। उसके सपनों के राजकुमार का 'हृदय परिवर्तन' हो जाएगा। ऐसे में वह अक्सर भविष्य को भगवान् भरोसे छोड़ अनिश्चितता में भटकती रहती है।"[111] कुसुम अंसल को छोड़कर लगभग सभी स्त्री लेखिकाएं इसी अनिश्चितता में जीवन भर भटकती रहती हैं। कभी पति के हृदय परिवर्तन के नाम, कभी बच्चों के नाम पर तो कभी परंपरा और संस्कृति के नाम पर ये लेखिकाएं जीवनभर शोषण को झेलती हैं।

(ग) मातृत्व : अनिवार्यता बनाम स्वेच्छा

सामाजिक मान्यता और परपंरा के अनुसार स्त्री के जीवन की सार्थकता के लिए मातृत्व आवश्यक माना गया है। परंपरागत मान्यता के अनुसार माँ बने बिना स्त्री 'संपूर्ण स्त्री' नहीं बन सकती। "मनु अगर यह कहते हैं कि ब्रह्मा ने स्त्रियों की रचना गर्भधारण करने के लिए की है, तो उनका मूल अभिप्राय स्त्री के माँ या जननी होने–बनने या बन सकने से भी रहा होगा और 'संतानोत्पत्ति की अनिवार्यता से भी। स्त्री चाहे तो आजीवन कुमारी नहीं रह सकती। रहेगी, तो 'नरक' जाएगी।"[112] हिन्दू धर्म और संस्कृति के अनुसार स्त्री के मातृत्व की सार्थकता पुत्र की जननी होने में है। शास्त्रों द्वारा स्त्री के मातृत्व को महिमामंडित किया गया है। यह पुरुषों द्वारा पुरुष के स्वार्थ के लिए बनाया गया सिद्धान्त है।

विवाह संस्था ने स्त्री के मातृत्व के माध्यम से स्त्री को बंधक बनाने में अपनी अहम् भूमिका निभायी है। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन लिखती हैं, "स्त्री अपने शरीर में बच्चेदानी धारण करती है, लेकिन बच्चेदानी की स्वतंत्रता धारण नहीं करती। बच्चेदानी में संतान धारण करने और न करने की स्वतंत्रता स्त्री को नहीं है। स्त्री के लिए कहा जाता है, "मातृत्व में स्त्री की सार्थकता है।" स्त्री भी यही मानती है। एक झूठ को स्त्री जिंदगी भर अपने अंदर पाल कर जीती है। बच्चेदानी स्त्री की है। इसीलिए स्त्री ही निर्णय लेगी कि उसमें वह कुछ धारण करेगी या नहीं करेगी। बच्चेदानी में बच्चा धारण करने की विभिन्न प्रकार की शर्तें पुरुषों ने लगा रखी हैं, जैसे – विवाह (पति से संगम के अलावा स्त्री माँ नहीं बन सकती), वंश (वंश रक्षा का काम कन्या से नहीं चलता, इसीलिए पुत्र की जरूरत पड़ती है), मातृत्व (चूँकि मातृत्व स्त्री जन्म की सार्थकता है, इसीलिए स्त्री जन्म को सार्थक करना होगा)। शर्तें रखने का अर्थ यह है कि कोख जिसकी है, उसका उस पर इच्छा–अनिच्छा जैसा कोई अधिकार नहीं होता।"[113] धर्म, शास्त्र, संस्कृति, परंपरा के अनुसार स्त्री का जन्म ही पुरुष के हित के लिए हुआ है। आज भी स्त्री एक मनुष्य के रूप में जन्म से मृत्यु तक जीने का अधिकार अर्जित नहीं कर पायी है। स्त्री के जन्म से न तो वंश की वृद्धि मानी जाती है और न ही वंश की रक्षा।

नियम, कानून, परंपरा, नैतिकता, मर्यादा, आदर्श सब पुरुषों द्वारा निर्मित है। पुरुष ही अपनी सुविधानुसार अपने लाभ के लिए समय–समय पर उन नियमों को परिवर्तित और परिभाषित करते रहते हैं। जो कुछ भी जायज वैध और कानूनी है, वह पुरुष का और सब नाजायज, अवैध और गैरकानूनी स्त्री का। परंपरा आज भी स्त्री को अपनी इच्छा से प्रजनन की इजाजत नहीं देती है। अविवाहित माँ आज भी

समाज के लिए कलंक है और नाजायज संतान अपने आप में चरित्रहीन। समाज स्त्री को उसकी अपनी कोख का भी अधिकार नहीं देता है।

सीमोन द बोउवार प्रारम्भिक काल में स्त्री की अधीनता के कारणों को खोजते हुए लिखती हैं, "औरत शक्ति–सम्पन्न होती हुई भी उर्वरा थी, उसमें प्रजनन की क्षमता थी। यह क्षमता पुरुष के पास नहीं थी। औरत की यही विशेषता उसकी दासता का मूल कारण भी बनी। मासिक धर्म, गर्भाधान एवं प्रसव, ये सारी जैविक घटनाएं उसकी काम करने की क्षमता का ह्रास करने वाली साबित हुईं। ऐसे समय में उसे पूरी तरह पुरुष पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वह असमर्थ थी खतरों का सामना करने में। उसे भोजन और सुरक्षा की जरूरत थी। चूंकि उन दिनों गर्भ–निरोध का कोई साधन नहीं था और न ही प्रकृति ने अन्य जीवों की भांति उसे समय–समय पर बन्ध्या या अप्रजननशील बनाया, अतः निरन्तर सन्तानोत्पत्ति से उसकी शक्ति का ह्रास जरूर हुआ होगा।"[114] प्रारम्भिक काल से आज तक स्त्री का मातृत्व उसकी दासता का एक मुख्य कारण रहा है। समाज द्वारा स्त्री का मातृत्व तभी सार्थक है जब वह किसी पुरुष की धर्मपत्नी हो। अविवाहित स्त्री यदि अपने गर्भ को प्रजनन का रूप देती है तो उसके मातृत्व पर चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दिया जाता है।

मातृत्व शब्द को इतना अधिक महिमामंडित किया गया है कि कई बार स्त्री न चाहते हुए भी माँ बनने की झूठी लालसा को ओढ़ लेती है। समाज द्वारा स्त्री पर मातृत्व को लादा गया है कि वह माँ बने जिससे पुरुष का वंश चले। मातृवंश क्यों नहीं चलता है? माँ बनना एक स्त्री के लिए इतना अनिवार्य बना दिया गया है कि अनेक बार स्त्री माँ बनने की स्वेच्छा में अपने अस्तित्व की सार्थकता ढूँढ़ने लगती है। स्त्री का जीवन अनेक शिंकजों में कैद है। समाज द्वारा पुरुष के लिए पिता बनने की कोई अनिवार्यता नहीं है लेकिन स्त्री के लिए माँ बनना एक अनिवार्य प्रश्न बना दिया गया है। समाज द्वारा स्त्री के मातृत्व को वैधता–अवैधता जैसे खांचों में विभाजित कर उसके अस्तित्व को ही वर्गों में बाँटने की कोशिश की गई है। अविवाहित स्त्री यदि माँ बनती है तो चरित्रहीन और कुलटा कही जाती है। विवाहित स्त्री यदि माँ नहीं बनती है तो उसे 'बांझ' करार दिया जाता है। विवाहित स्त्री यदि पुत्री की माँ बनती है तो घृणा की पात्र हो जाती है। पुत्र की माँ बनने पर ही स्त्री सम्मान पाती है। अनेक बार स्त्री स्वयं भी समाज द्वारा मातृत्व के लिए निर्धारित पैमानों पर खरा उतरने की कोशिश करने लगती है। समाज की मान्यताओं के सांचे में फिट बैठने के लिए स्त्री भी पुत्र की माँ होने में अपने मातृत्व की पूर्णता देखने लगती है। इस संदर्भ में सीमोन द बोउवार लिखती हैं, "मातृवृत्ति

नामक किसी भावना का अस्तित्व नहीं। मनुष्य जाति पर यह शब्द लागू नहीं होता। संतान के प्रति माँ का रूख अपनी पूर्ण स्थिति पर और दूसरों की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है।"[115]

वास्तविकता यह है स्त्री का सतीत्व, मातृत्व, चरित्र... सब कुछ पुरुष ने अपने स्वार्थ के लिए अपने अनुसार तय कर रखा है। हिन्दू धर्म के अनुसार स्त्री का प्रथम कर्तव्य है पुत्र–संतान को जन्म देना। धर्म कहता है, "निःसंतान पत्नी को शादी के दस वर्ष बाद त्याग किया जा सकता है, जो स्त्री कन्या–संतान को जन्म देती है, उसे बारह वर्ष बाद, जिस स्त्री के बच्चे जीवित नहीं रहते, उसे पंद्रह वर्ष बाद... 'शतपथ ब्राह्मण' में भी है कि जो अपुत्रा पत्नी है, वह परित्यक्ता है और पुत्र संतान के जन्म न होने पर पति फिर शादी करेगा (वाशिष्ठ धर्मसूत्र, 28/2–3)।"[116]

आज भी स्त्री का मातृत्व पुरुष का अधिकार क्षेत्र माना जाता है। बच्चे कब और कितने चाहिए, यह भी पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। मातृत्व स्त्री की सहज इच्छा का विषय है या समाज द्वारा स्त्री पर थोपी गई अनिवार्यता? इस उप–अध्याय में स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं को केन्द्र में रखकर मातृत्व के इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा की जाएगी।

पद्मा सचदेव का जीवन रोमांच ओर प्यार से भर जाता है जब वह माँ बनती है – "बच्चे को बड़ा होते देखने से बड़ा और कोई सुख नहीं है। कैसे एक गोलुमोलु मांस का फुलकता बच्चा बड़ा होता है, ये बहुत बड़ा सुख है। ... जब बच्चा पहली बार हाथ की मुट्ठियाँ खोलता है, पहली बार आंख खोलता है, पहली बार मुस्कुराता है, पहली बार गीला होने पर हाथ–पांव मारता है, पहली बार चारपाई से गिरकर रोता है, पहली बार माँ कहता है, पहली बार बैठता है, उठता है, चारपाई पकड़कर चलता है, वो सुख बयां नहीं हो सकता है। ये सुख अनंत हैं, अपार हैं।"[117] एक स्त्री के लिए माँ बनना अपने बचपन को दोबारा जीने जैसा ही है। बेटी की देखरेख और परवरिश के लिए पद्मा अपनी नौकरी तक छोड़ देती हैं। एक माँ अपनी संतान के लिए सर्वस्व त्याग करने का अदम्य साहस रखती है। पति द्वारा नौकरी छोड़ने की बात को पद्मा स्वीकार नहीं करती है, वहीं दूसरी ओर पद्मा बेटी के लिए नौकरी छोड़ने में आजादी का अनुभव करती हैं। "बाहर निकलकर लगा, मैं आजाद पंछी हूं। कहीं भी उड़ सकती हूं।... अब मेरे दिन और रात सब उसके थे।"[118]

कुसुम अंसल अपने अस्तित्व और मातृत्व की सार्थकता एक पुत्र की माँ होने में ढूँढती हैं। बेटी का जन्म उन्हें मातृत्व की अपूर्णता लगता है। "यहाँ भी मेरी

अव्यावहारिकता आड़े आई, लड़के के स्थान पर लड़की का जन्म मेरी समूची स्थिति को और भी कमजोर कर रहा था।"[119]

जहाँ एक ओर विवाहित स्त्री के लिए मातृत्व सुख और रोमांच से भरा होता है, वहीं दूसरी ओर अविवाहित स्त्री के लिए मातृत्व पीड़ा, भय, उपेक्षा, तिरस्कार और चरित्रहीनता का विषय बन जाता है। प्रभा खेतान अपने अनुभव के विषय में लिखती हैं, "गर्भपात, भ्रूणहत्या, प्रजनन का अधिकार स्त्री जीवन से सम्बन्धित न जाने कितने मुद्दों पर लिखती रही हूं, मगर उस दिन अविवाहित मातृत्व की कल्पना मात्र से मेरा सर्वांग सिहर उठा था। बस किसी तरह इससे मुक्ति मिले, नहीं तो घर वाले मुझे फाँसी के तख्ते पर लटका देंगे। भ्रूणहत्या एक पापकर्म है ऐसी कोई भावना नहीं थी मेरे मन में। मैं कुछ गलत कर रही हूँ ऐसा क्षण भर को मुझे नहीं लगा।... यदि किसी को मालूम पड़ जाए तो दुनिया की नजर में मेरी क्या इज्जत रहेगी, खुद अपनी ही नजर में मेरी कोई इज्जत नहीं बची।"[120] यदि प्रभा खेतान विवाहित होकर माँ बनती तब भी क्या वह अपने मातृत्व को इज्जत, मर्यादा... से जोड़कर देखतीं? नहीं, शायद तब उनके लिए मातृत्व सुख का कारण बनता। यह आश्चर्य का विषय भी है और जीवन का सच भी कि स्त्री की मानसिक बनावट में कहीं न कहीं पितृसत्ता छिपी होती है। सामाजिक भय, नैतिकता, मर्यादा के कारण एक स्त्री अपने ही गर्भ को अवैध ठहराने लगती है! क्या विवाह संस्था ही स्त्री के मातृत्व की निर्धारक है? प्रभा खेतान की अम्मा का यह कहना बिल्कुल सही है – "लाल घाघरे में सारे दाग छुपते हैं लेकिन सफेद आँचल में लगा जरा–सा छींटा सबको दिखलाई पड़ता है।"[121] विवाह संस्था के भीतर यदि एक स्त्री अपनी अनिच्छा के बावजूद गर्भवती होती है तो वह वैध है लेकिन अविवाहित या पति के न रहने पर प्रेम में गर्भवती होना अवैधता है?

मन्नू भंडारी अपने मातृत्व को जीवन का निर्णायक और सार्थक पहलू मानते हुए लिखती हैं, "मित्रों के साथ बैठकें, गोष्ठियाँ तो होती थीं शाम को पर दिन का समय गुजारती थी मैं अपनी बेटी टिंकू (रचना) के साथ। जब तक वह मेरे साथ रही तब तक वह मेरी सबसे बड़ी शक्ति थी। आज तो मैं कई बार यह भी सोचती हूँ कि यदि टिंकू न होती तो मेरी जिन्दगी की यह धारा निश्चित रूप से किसी और दिशा में मुड़ गई होती। चौथी–पाँचवी कक्षा तक मैं उसकी माँ बनकर रही – उसके बाद उसकी मित्र बनकर। स्कूल से आने के बाद उसे खिला–पिलामर हम दोनों पलंग पर गलबहियाँ डालकर लेट जाते...।"[122] मन्नू के जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर भी आते हैं जब कैरियर और लेखन कर्म में मातृत्व कभी–कभी बाधा बनकर सामने आता है। बेटी को संभालना पति के लिए आयागिरी करने जैसा था। इस

कारण बेटी को संभालने की जिम्मेदारी मन्नू के रचनाकर्म के लिए संकट का प्रश्न भी रही। मन्नू का मातृत्व कभी व्यक्तित्व से टकराता है तो कभी व्यक्तित्व, मातृत्व से। आत्मकथा में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "सबसे नाजुक रिश्ता होता है माँ और बच्चे का। यहाँ बच्चे की उपेक्षा करके या कहूँ कि अपने मातृत्व की उपेक्षा करके किसी भी माँ के लिए अपने व्यक्तित्व की बात सोचना... अपनी ही आशा–आकांक्षाओं की बात सोचना, असम्भव चाहे न हो पर कठिन तो बहुत है ही। ...जब उसका मातृत्व–पक्ष प्रबल होता है तो उसका अतृप्त–अपेक्षित व्यक्ति–पक्ष प्रश्नवाचक बनकर उसे मथने लगता है और जब उसका व्यक्ति–पक्ष प्रबल होता है तो उसका मातृत्व तिलमिलाने लगता है।"[123] व्यक्तित्व और मातृत्व का यही द्वंद्व मन्नू की रचना 'आपका बंटी' के पात्र शकुन में भी उभरकर सामने आता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा ने अपनी प्रसव–पीड़ा के अनुभव को व्यक्त करते हुए लिखा है – "महरी पीछे से कमर पकड़े थी, पर दर्द के मारे एक–एक पल पहाड़ सा लग रहा था और दर्द नीचे की तरफ के बजाए, कलेजे की तरफ ज्यादा था।"[124] तीसरी बार बेटी की माँ बनने पर चन्द्रकिरण के मन में दुख की लकीर खिंच जाती है। "आठ अगस्त को, मेरी तीसरी बेटी, कामना का जन्म हुआ। मेरा मन अवश्य थोड़ा उदास हुआ, क्योंकि बाबूजी घर पर थे और बार–बार पोते की बात करते थे।"[125] वहीं दूसरी ओर पुत्र के जन्म पर चन्द्रकिरण की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार थी – "28 जून, 1931 को कार्त्तिकेय, मेरा प्रथम पुत्र पैदा हुआ। मैंने चैन की सांस ली। उसके जन्म पर दावत दी गयी।"[126] पुत्र के लिए चन्द्रकिरण पाँच बार गर्भ धारण करती है। पहली तीन संतान बेटी होने के कारण वह चौथी बार गर्भधारण करती हैं एवं एक और पुत्र प्राप्ति के लिए पाँचवीं बार माँ बनती हैं। पुत्र को कुल का वंशज कहा जाता है। चन्द्रकिरण भी अपने मातृत्व की सार्थकता पुत्र की माँ होने में ढूंढती हैं।

कौसल्या बैसंत्री भी पांच बार गर्भधारण कर पांच संतानों को जन्म देती है। कौसल्या की बहन ग्यारह बच्चों को जन्म देती है। कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं, "उस समय खाना खाने, पानी पीने की तरह ही बच्चे होना भी सामान्य काम समझा जाता था।"[127] कौसल्या की मां ने भी ग्यारह संतानों को जन्म दिया था। बेटों की चाह पुत्र की मां बनने की लालसा में लगातार बच्चे पैदा करना अज्ञानता है या पितृसत्ता का पोषण? परंपरा ने स्त्री को इस कदर प्रभावित किया है कि आज भी स्त्री पुत्र की मां बनने की लालसा में प्रसव के समय होने वाली शारीरिक पीड़ा और कष्ट को पूरी तरह नजरअंदाज कर अपने व्यक्तित्व की सार्थकता तलाशने लगती है।

सुशीला टाकभौरे पहली बार मां बनने के अनुभव को व्यक्त करते हुए

लिखती हैं, "पहला बच्चा होने का अलग अनुभव था। बच्चे को छोड़कर स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था। तुरन्त घर लौटकर बच्चे को गोद में ले लेने का मन होता था।"[128] अपनी नौकरी और बच्चों को संभालने के द्वंद्व में सुशीला बेटी को अपनी मां के घर तो भेज देती है लेकिन उनका मन एक मां की पीड़ा से मुक्त नहीं हो पाता है। मातृत्व की इसी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "कभी लगता, मेरी बेटी कहीं रो तो नहीं रही है? बेटी भूखी तो नहीं है? यह सोचकर हृदय दुख से भर जाता था। तब लगता था – कैसे उड़कर क्षणभर में अपनी नन्हीं बेटी के पास चली जाऊँ? कैसे अपनी बच्ची को तुरन्त कलेजे से लगा लूँ?"[129]

घर को संभालने की पारिवारिक और आर्थिक जिम्मेदारी के बावजूद सुशीला पाँच बच्चों को जन्म देती हैं। जिस समाज में स्त्री को बच्चा पैदा करने की मशीन माना गया हो और स्वयं स्त्री भी उस धारणा पर खरी उतरे तो जाहिर है कि ऐसे में मातृत्व की सार्थकता अपने आप में पितृसत्ता का पोषण भर रह जाती है। यह भी समाज का सच है कि स्त्री भले ही गर्भ धारण करना न चाहे लेकिन पुत्र प्राप्ति की इच्छा के चलते उसे गर्भधारण करा दिया जाता है। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि अधिकांश लेखिकाएं पुत्र की मां बनने में अपने मातृत्व की सार्थकता तलाशती हैं। पद्मा सचदेव और मन्नू भंडारी के जीवन में मातृत्व उनके कैरियर, नौकरी में बेड़ी बनकर सामने आता है।

समाज के लिए मातृत्व स्त्री की स्वेच्छा से कहीं अधिक अनिवार्यता का माध्यम है। परंपरा इसे स्त्री की इच्छा–अनिच्छा से परे वैध–अवैध के खांचों में रखकर देखती है। "अब भी स्त्री अकेली एक व्यक्ति के रूप में पृथक् एक मनुष्य के रूप में जन्म से मृत्यु तक जीवनयापन करने का अधिकार अर्जित नहीं कर पाई है। उसके जन्म से किसी के 'वंश की रक्षा' नहीं होती। स्त्री–जन्म किसी उपार्जन का स्रोत नहीं। स्त्री सिर्फ पुरुष की लालसा का निवारण करेगी और उसे पुत्र–संतान का उपहार देगी। इन सारे बंधे संस्कारों को उखाड़कर स्त्री यदि अकेले मनुष्य के रूप में खड़ी नहीं होती तो संस्कारों का विस्तार ही होता रहेगा, विनाश नहीं।"[130]

(घ) पितृसत्ता के दंश

पितृसत्ता एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें स्त्री को हर प्रकार से पुरुष के अधीन रखा गया है। धर्म और नैतिकता के नाम पर उसके व्यक्तित्व को बंधक बनाया गया है। पितृसत्ता स्त्री को बचपन से ही पुरुष पर निर्भर होना सिखाती है। सीमाओं और वर्जनाओं के वातावरण में पली–बढ़ी स्त्री सभी आज भी पितृसत्ता की सबसे बड़ी संरक्षक मानी जाती है। स्त्री को जन्म से ही यह सिखाया जाता है कि उसका अपना कोई पृथक अस्तित्व नहीं है। हाइडी हार्टमान्न के अनुसार स्त्री की श्रमशक्ति पर पुरुष का नियंत्रण पितृसत्ता का आर्थिक आधार है। स्त्री को धार्मिक कर्मकांडों में स्वतंत्र भागीदारी से वंचित कर पितृसत्ता का धार्मिक आधार तैयार किया गया। गरदा लरनर के अनुसार पितृसत्ता के प्रमुख आधार हैं – स्त्री को शिक्षा से दूर रखना, उनको अपने इतिहास से वंचित रखना, स्त्री के यौन आचरण को सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदंड बनाकर उस पर नियंत्रण रखना, स्त्री को आर्थिक और राजनीतिक सत्ता से दूर रखना, स्त्री को पुरुष के माध्यम से सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना आदि।

पितृसत्ता प्रारंभिक काल से ही समाज, संस्कृति, धर्म, राजनीति आदि क्षेत्रों में स्त्री की अधीनता की पक्षधर रही है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में स्त्री को अनर्थ का मूल कहा गया। 'मैत्रेयी संहिता' में स्त्री की तुलना मदिरा, जुआ जैसी बुराईयों से की गई। 'तैत्तिरीय संहिता' और 'शतपथ ब्राह्मण' में भी स्त्री को शूद्र के समान कहा गया। समय के विकास के साथ–साथ स्त्री पर और अधिक नियंत्रण लगाए गए। पितृसत्ता ने स्त्री की योनि पर भी नियंत्रण कर चरित्र के आधार पर स्त्री को अनेक खांचों में विभाजित कर दिया। सभी धर्म स्त्री पर नैतिक मापदंडों के पालन का निर्देश देते हैं। पति, पुत्र पाने के लिए स्त्री को बचपन से ही व्रत, पूजापाठ की सीख दी जाती है। पितृसत्ता स्त्री को धर्मभीरू बनाती है। धर्म के नाम पर पितृसत्ता स्त्री को परतंत्रता, अंधविश्वास और नैतिक मापदंडों की बेडियों में भी बांधती है।

इस उपअध्याय में स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से पितृसत्ता के दंशों को उजागर किया जाएगा। लेखिकाओं के जीवन के माध्यम से नियमों और कानूनों में बंधी स्त्री का जीवन पीड़ा और दुख के कितने स्तरों को झेलता है, इसे भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

आदिम युग से लेकर आज तक स्त्री को पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति की भांति देखा गया है। आज भी पुरुष का परिचय उसके कर्म से और स्त्री का उसके शरीर से होता है। पुरुषों का सबल होना उनका गुण माना जाता है और स्त्री का कमजोर होना उनका स्वभाव। स्त्री की सबलता को समाज अवगुण की भांति

देखता है। "पवित्रता का गहरा अर्थ है कि स्त्री को कोई पुरुष स्पर्श न करे, विशेषकर गैर मर्द। फूल की उपमा कभी किसी पुरुष को नहीं दी जाती है, दी जाती है स्त्री को ही। फूल देखने में सुंदर होता है, सुगंध बिखेरता है। और स्त्री को भी विभिन्न रंगों का होना पड़ता है। गुलाब की पंखुड़ियों की तरह होंठ, भौंरे की तरह काली आँखें, गुलाबी गाल, घने काले रेशमी बाल, दूध और आलता मिश्रित या कच्ची हल्दी जैसी त्वचा...।"[131] आज तक पुरुष के शरीर को स्त्री–शरीर की भांति रंग, गंध की उपमाओं से जोड़कर नहीं देखा गया है।

भारतीय समाज में स्त्री का जीवन उस नैतिकता से बंधा है जिसकी डोर पिता, पति और पुत्र के हाथ में है। स्त्री के लिए स्वतंत्रता बाधक है। महान चिंतक नीत्शे भी कह गए कि स्त्री के पास जाते समय अपना कोड़ा साथ ले जाना मत भूलना। तुलसीदास ने भी कहा – 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' कबीरदास तो पहले ही कह गए – 'तिय सुंदरि ना सोहई सनकादिक के साथ। कबहुंक दाग लगावहिं कारी हांडी हाथ।' स्त्री को कभी घृणा के साथ देखा गया तो कभी भय के साथ।

तसलीमा नसरीन लिखती हैं, "पुरुषतान्त्रिक समाज में औरत महज 'सामग्री' है। मर्दों के भोग की सामग्री। अब यह बात कोई माने या न माने, यही सच है। ठीक जैसा रूप देखकर, पुरुषों में उत्तेजना जागती है, नारी नामक 'वस्तु' को वैसी ही बनना पड़ता है, जैसी दिखने से, पुरुष के तन–मन को चैन और आराम मिले। जन्म से लेकर मृत्यु तक औरत को जितना सजना–धजना पड़ता है, जो–जो काम करने पड़ते हैं, वह सब पुरुष और पुरुषतान्त्रिक समाज की स्वार्थ–रक्षा के लिए।"[132] पुरुष सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्त्री को सुरक्षा, संरक्षण प्रदान करता है। स्त्री पर अधिकार कर पुरुष प्रसन्नता और गर्व का अनुभव करता है। वह स्त्री को अपने अनुकूल और अनुसार ढालने का यत्न करने के साथ ही ढालता भी है। इस प्रक्रिया में स्त्री प्रतिरोध करने के बावजूद पुरुष के समक्ष समर्पण करती जाती है।

पितृसत्ता स्त्री के कौमार्य को नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठा में बांधकर स्त्री की योनि को भी नियमों में बांधती है। सीमोन द बोउवा पितृसत्ता की इसी मानसिकता का एक उदाहरण देते हुए लिखती हैं, "फ्रांस में कुछ स्थानों में आज भी शादी की रात वर के मित्र उसके कमरे के दरवाजे के पीछे खड़े रहते हैं। वे हंसते हैं, गाते हैं। इसी बीच खून के धब्बे लगी चादर लेकर पति बाहर आता है और अपनी विजय की सूचना देता है या माता–पिता भी दूसरे दिन पड़ोसियों को वह चादर दिखाते हैं।"[133] आदिकाल से आज तक संभोग को भी स्त्री के सेवा–रूप का माध्यम माना गया है। सेवा अर्थात् स्त्री द्वारा स्वयं को पुरुष के प्रति पूर्ण समर्पित

कर देना। पुरुष स्त्री के यौन संबंधों पर नियंत्रण के बदले उसे पैतृक सुरक्षा देता है। इस प्रकार स्त्री भी पुरुष की अधीनता को स्वीकार करने की आदी हो जाती है। लैंगिकता पर नियंत्रण स्त्री को अधीन बनाने का एक प्रमुख हथियार है। स्त्री को पति की इच्छानुसार यौन सेवाएं देने की बाध्यता है। पितृसत्ता स्त्री को पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ यौन संबंधों की इजाजत नहीं देती है। वहीं दूसरी ओर पुरुष पर इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। समाज, संस्कृति और धार्मिक मान्यताएं स्त्रियों के पहनावे, व्यवहार, आचरण आदि पर भी प्रतिबंध लगाती रही है। पितृसत्ता स्त्री के यौन व्यवहार को मर्यादा, इज्जत, शर्म से जोड़कर उस पर पूरी तरह आधिपत्य कर लेती है। पुरुषों की कामवासना, यौन व्यवहार को सामाजिक मान्यता मिली हुई है। वहीं दूसरी ओर पितृसत्ता स्त्री की कामवासना पर नियंत्रण को उसका गुण मानती है। यौन व्यवहार के आधार पर स्त्री को वर्गों में विभाजित भी किया गया।

"मिल की यह धारणा आज भी सर्वथा प्रासंगिक है कि सामाजिक परिवेश ऐसा नहीं है कि स्त्रियाँ पुरुष–अत्याचार के विरुद्ध मुखर हो सकें। साथ ही बचपन से ही समर्पण, निर्भरता, त्यागपूर्ण प्रेम और वफादारी के आदर्शों व नैतिक शिक्षाओं से उनकी सोच को अनुकूलित करके उन्हें दिमागी गुलाम बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। अन्य उत्पीड़ित समुदायों से उनकी स्थिति इस मायने में भी भिन्न है कि उनका 'मालिक' उनसे सिर्फ उनकी सेवाएँ और सम्पूर्ण आज्ञाकारिता ही नहीं बल्कि उनकी संवेदनाएं और भावनाएँ भी चाहता है, वह उनसे सिर्फ गुलाम होने की नहीं बल्कि एक प्रिय गुलाम होने की अपेक्षा रखता है। यह भी पुरुषों का स्वार्थ ही है कि उन्होंने स्त्रियों के सामने विनम्रता, पूर्ण समर्पण और व्यक्तिगत इच्छा के हनन को यौन–आकर्षण के अभिन्न अंग के रूप में रखा ताकि मनोवैज्ञानिक रूप से स्त्रियाँ इतनी समर्पित हो जाएं कि यौनिक स्वेच्छा और स्वतंत्रता के बारे में सोच भी न सकें और उन्हें अपनी पराधीनता में ही सुख अनुभव हो।"[134] पुरुष स्त्री के चरित्र और स्वभाव पर नियंत्रण कर उसकी योग्यता को नकारता है। परस्त्रीगमन पुरुष करता है लेकिन सजा स्त्री को दी जाती है। पुरुष स्त्री में एक साथ अनेक भूमिकाएं देखने का आकांक्षी रहता है। स्त्री मां भी रहे और भोग्या भी। घर के कामकाज में सक्रिय भी रहे और पुरुष की बाहों मे निष्क्रिय भी। स्त्री को पुरुष अपनी दासी मानता है चाहे वह प्रेमिका के रूप में हो या पत्नी के रूप में। पुरुष जैसा चाहता है, स्त्री स्वयं को वैसा ही गढ़ने लगती है। स्त्री यदि अपनी कामेच्छा जाहिर करती है तो भ्रष्ट, वेश्या कही जाती है। स्त्री के लिए इच्छा नहीं बल्कि दायित्त्वों के निर्वाह की बात की जाती है। घर संभालने से लेकर बच्चे पैदा करने का दायित्व।

"औरत का कोई देश नहीं होता। देश का अर्थ अगर सुरक्षा है, देश का अर्थ अगर आजादी है तो निश्चित रूप से औरत का कोई देश नहीं होता। धरती पर कहीं कोई औरत आजाद नहीं है, धरती पर कहीं कोई औरत सुरक्षित नहीं है।"[135] नैतिकता, मर्यादा को स्त्री के जीवन का मूल्य माना जाता है। स्त्री यदि इन मूल्यों को अस्वीकार करती है तो समाज की दोषी हो जाती है। मर्यादा अर्थात् व्यक्ति की संवेदना का आंतरिक पहलू। सवाल यह उठता है कि यह कौन सी मर्यादा है जो सीता को महज लक्ष्मण रेखा पार करने पर इतनी बड़ी सजा देती है? समाज द्वारा 'स्त्री–शिक्षा' को नहीं बल्कि 'स्त्री–कर्त्तव्य' को मूल्य बनाया गया है। पितृसत्ता ने स्त्री के लिए तीन पैमाने निर्धारित किए हैं – सेवा, श्रम और सेक्स। इन तीनों पैमानों पर खरा उतरना स्त्री के लिए आवश्यक माना जाता है। **Puriy** और **Virginity** में बंधा समाज स्त्री से उसकी पहचान भी छीन लेता है।

पितृसत्ता स्त्री को पराया धन मानती है। कुसुम अंसल अपनी इसी पीड़ा को उजागर करते हुए लिखती हैं, "तुम मात्र धरोहर थीं... अब अपने घर जा रही हो, बस अब वही है तुम्हारा घर...।"[136] पिता के घर को स्त्री का पराया घर और पति के घर को उसका अपना घर कहा जाता है। उच्च शिक्षा स्त्री के लिए आज भी एक चुनौती है। कुसुम के भाई को जहाँ लंदन पढ़ने के लिए भेजा जाता है, वहीं कुसुम को लड़की होने के कारण उच्च शिक्षा की छूट नहीं दी जाती है। कुसुम अंसल लिखती हैं, "उन दिनों मेरे दोनों बड़े भाई लंदन में इंजीनियरिंग पढ़ रहे थे। मेरा भी बहुत मन होता कि मैं भी वहाँ पढ़ूँ और मनोविज्ञान का कोर्स कर लूँ, पर पापा की दलील थी, लड़कियों को कौन विदेश भेजता है।"[137] यह पितृसत्ता की सोच का ही परिणाम है कि स्त्री की योग्यता को हमेशा से उपेक्षित किया जाता रहा है। कुसुम जब प्रथम श्रेणी में एम.ए. उत्तीर्ण करती हैं तो इसे भी विवाह में बाधा की तरह देखा जाता है। सामाजिक संरचना स्त्री को शिक्षा के बजाए घरेलू संस्कारों की सीख देती है। "मनोविज्ञान में मास्टर्स के रिजल्ट के दिन माथे पर हाथ मारकर उन्होंने कहा – "वैसे ही कोई लड़का नहीं मिलता, अब इसने एम.ए. पास कर लिया है, वह भी फर्स्ट डिवीजन में...।"[138]

स्त्री के लिए वैधव्य एक कठघरा है। आज भी समाज में विधवा को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। समाज ने विधवा स्त्री को इतने नियमों–कानूनों में बांधा है कि उसके लिए जीवन भी अभिशाप बन जाता है। वहीं दूसरी ओर विधुर पुरुष को किसी भी प्रकार के नियम–कानूनो से नहीं बांधा जाता है। अपनी बुआ के वैधव्य को दिखाते हुए कुसुम अंसल स्त्री के प्रति सामाजिक हिंसा के रूप को भी सामने रखती हैं। "बुआ का छोटी उम्र का वैधव्य, अकेले भाई के सिर पर पड़े

रहकर एकमात्र बेटे को पालना, मजबूरी, दुख, अकेलेपन की छटपटाहट जैसे मेरी संवेदना में जगह बनाने लगी। उनके चरित्र की ऊँचाई, एक तपस्या जैसा वह जीवन मुझे झकझोर जाता, मैं उनसे कभी लिपटती, कभी रोती और शायद इस बीच उन्हें प्यार भी करने लगी थी। यह भी समझने लगी थी कि बाहरी लोगों के व्यवहार में छिपा गहरा अहितकर अंधकार ही है जो अलग खड़ा होकर अट्टहास करता है। मैं काँप जाती, हिंसा के बड़े अद्‌भुत रूप हैं।"[139] समाज स्त्री को परंपराओं की दुहाई देकर उससे जीवन जीने का हक भी छीन लेता है।

समाज ने स्त्री के जीवन को नियमों – संस्कारों के नाम पर इतना बंधक बनाया है कि एक स्त्री की सहज अभिव्यक्ति, इच्छा भी मान–मर्यादा का प्रश्न हो जाती है। कुसुम एक नाटक में पात्र की भूमिका अदा करती हैं। अपने पात्र की सफल भूमिका और सराहना के बावजूद घर के लोगों द्वारा ही कुसुम को उपेक्षित किया जाता है। "मेरे किरदार को लेकर सबसे अधिक आलोचनाएं मेरे परिवार ने की – किसी ने सुशील से कहा, "तुम्हें क्या जरूरत थी बीवी से ड्रामे करवाने की, दो कौड़ी का कोई आदमी उसके कंधे पर हाथ रखकर इश्क फरमाता है तो तुम्हारा खून नहीं खौलता?" ... मेरे सास–ससुरजी ने कुछ दिन बात नहीं की जिस दिन विस्फोट हुआ मेरी सास अपनी पंजाबी में कहने लगीं, "इन्नी खलकत दे सामने तूँ पराया मरद दा हत्थ फड़िया, पिआर दीआँ गल्लाँ कीत्तिआँ ... तैन्नू शरम नहीं आई... मैं ताँ हैरान हाँ तेरे ते... इन्ना चुप्प ऐसे करके रहिंदी है?"[140] समाज जहाँ एक ओर पुरुष के चरित्र–व्यवहार आदि को किसी भी बंधन में नहीं बांधता वहीं दूसरी ओर स्त्री के हर व्यवहार को नैतिक–अनैतिक जैसे प्रश्नों से जोड़ देता है।

एक पुरुष के लिए स्त्री सर्वप्रथम एक औरत होती है जिसे वह स्पर्श कर महसूस कर सके। कुसुम के जीवन में ऐसा ही एक प्रसंग सामने आता है जब बम्बई में समुद्र के किनारे टहलते समय उनकी उम्र से कहीं अधिक छोटी उम्र का युवक कॉफी पीने के बहाने कुसुम के साथ अभद्रता करता है। "'चलिए–कॉफी तो पी लीजिए' उसने कहा और कुछ ऐसे हाथ रखकर कहने लगा – "मुझसे दोस्ती करेंगी आप... मैंने आपको जब देखा, तो अलग लगीं आप, आपका चलने का अंदाज... मेरा जी चाहा आपको छूकर देखूँ...।" उसका अक्खड़पन, स्थिति की यह कुरूपता अब तक मेरी समझ में आने लगी थी – पर मैं हँस रही थी – उम्र में बड़ी थी – उससे कुछ छोटे बेटे की माँ थी...इसी से डर नहीं रही थी – पर अचानक वह छोकरा उम्र नहीं, शरीर हो रहा था – एक पुरुष का शरीर – कॉलेजी उत्सुकता से भरा शरीर और उसके सामने मैं बस एक स्त्री थी, एक जिस्म भर जिसे वह छूकर महसूस कर सके और जिसे वह इस छोटे–से केबिन की घुटन भरी दीवारों के मध्य एक विजय में बदल सके।"[141]

कृष्णा अग्निहोत्री ने अपने जीवन में स्त्री होने की जिस पीड़ा को भोगा उसे आत्मकथा में बखूबी अभिव्यक्त किया है। अकेली स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "मैंने तो जिंदगी मे यह अहसास किया या कहें कि मुझे अहसास कराया गया कि अकेली रहनेवाली महिला पर प्रत्येक पुरुष अपना अधिकार जमाना चाहता है। किसी की दृष्टि उसके रुपए, जायदाद तो किसी की नजर उसके शरीर पर रहती है। प्रगति के नगाड़े बजाकर इक्कीसवीं सदी तक पहुंचनेवाला भारतीय पुरुष समाज अब भी बुद्धिजीवी, कलाकार, प्रतिभाशील महिला और साहित्यकार को वास्तविक सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता है। उसके लिए वह इस्तेमाल की वस्तु है। नाटक, प्रेम, बहकावा और जोर–जबरदस्ती से वह उसे अपने अधीन करना चाहता है।"[142] जिस समाज में संस्कृति मानवता के प्रतिकूल हो, वहां स्त्री के विकास और उन्नति की कल्पना कैसे की जा सकती है?

पुरुषतांत्रिक समाज में जहां एक ओर विवाहित स्त्री को पति की संपत्ति माना जाता है, वहीं दूसरी ओर अकेली स्त्री को अनेक पुरुषों की बपौती की तरह देखा जाता है। कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी मामी के माध्यम से विधवा स्त्री के प्रति पुरुषों की दृष्टि को उजागर करते हुए लिखा है, "विधवाओं की जवानी व रूप, जो शायद अभिशाप बन गया था, घर पर आने वाले जवान दामाद, बहनोई, अन्य पुरुष रिश्तेदार जो भी आते, उनके लिए वे खुली सड़क पर पड़ा रुचिकर पकवान थी।"[143] पुरुषों की कामुकता के कारण स्त्री का सौंदर्य और यौवन भी उनके लिए अभिशाप बन जाता है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को उसके शरीर के आधार पर तौला और मापा जाता है। जहाँ एक ओर समाज द्वारा निर्धारित नियम विधवा के जीवन को कठोर बना देते हैं, वहीं दूसरी ओर उसके शरीर पर टिकी अनेक पुरुषों की निगाहें उसे व्यक्ति से वस्तु में तब्दील कर देती हैं। स्त्री का जीवन समाज द्वारा निर्धारित और संचालित किया जाता है। स्वेच्छाचार और स्वाधीनता के जिस अर्थ को पुरुष अपने संदर्भ में प्रयोग करता है वही अर्थ स्त्री के संदर्भ में लागू क्यों नहीं हो पाता?

कृष्णा अग्निहोत्री ने अपने जीवन में अनेक बार हिंसा और यौन उत्पीड़न को झेला। बचपन में अपने ही रिश्ते में चाचा लगने वाले पुरुष का कृष्णा के प्रति व्यवहार स्त्री के प्रति समाज की यौन मानसिकता के कई स्तरों को खोलता है। "मैंने घबराकर उनकी ओर ताका तो म. ने आव देखा न ताव मुझे कसकर पकड़ लिया और मेरे नाजुक अनछुए कुंवारे होठों व गालों को पागल से चूमने लगे। कमसिन–दुबली–पतली मैं छटपटाती रही, जलते अंगारों की सी वह जलन थी। रिश्ते में चाचा और इतना बड़ा कर्म, इतना घिनौना?"[144] यदि स्त्री अपने ही घर में अपनों द्वारा ही सुरक्षित नहीं तो दुनिया के किस कोने को स्त्री के लिए सुरक्षित

कहा जाएगा। रिश्ते में चाचा लगने वाले इस पुरुष की अभद्रता एक दिन की घटना न होकर कृष्णा के हर दिन की विवशता थी। "सीढ़ियों से उतरते समय वे बहुधा मेरे फड़फड़ाते जिस्म को दो क्षण को भी दबोच लेते।"[145] जीवन के हर मोड़ पर कृष्णा अनेक बार शारीरिक और मानसिक रुप से उत्पीड़ित होती हैं। समाज से सवाल करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "क्या लड़की पैदा होते ही प्रत्येक उम्र व स्थिति में पुरुष के खसोटने की ही वस्तु होती है?"[146]

पितृसत्ता पति को यह अधिकार देती है कि वह अपनी ही पत्नी को कठघरे में खड़ा कर उसके चरित्र का निर्धारण करे। स्त्री का कौमार्य पुरुष के लिए हमेशा से अधिकार और विजय का प्रश्न रहा है। कृष्णा के पति का व्यवहार व्यवस्था के इसी सच को सामने लाता है। "तो ईश्वर की कसम खाकर बताओ कि शादी से पूर्व तुम्हारा किसी पुरुष से कोई संबंध था?... मेरे पति ने लौटकर मुझे मेरी सास के सामने धकेल कर कहा, "तुम सबने मेरे गले कुलटा बाँध दी, ये किसी और से प्रेम करती है।"[147] कृष्णा अपने पति द्वारा अनेक बार चरित्रहीन, बदचलन करार दी जाती है। विवाह संस्था पति को पत्नी के शारीरिक, मानसिक और यौन उत्पीड़न की कितनी स्वच्छंदता देती है, इसे कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में बखूबी देखा जा सकता है। पति–पत्नी के संबंधों के नाम पर पत्नी को अनेक दायित्वों से बांधकर उसकी हरेक इच्छा को गुलाम बना दिया जाता है। कृष्णा के जीवन के कुछ प्रसंग जो व्यवस्था की इसी बनावट को उघाड़ते हैं –

"अग्निहोत्रीजी ने दरवाजा बंद किया और जूते सहित एक जोर की लात मेरे पेट में मारी और बाथरूम में घसीटते हुए ले गए। शुरू हो गई शरीर की धुनाई 'ये ले... ये ले... ।"[148]

"जिस दिन अज्ञानवश लोहे का चिमटा हाथ में ले मैं हीटर पर पापड़ सेंकने लगी तो जोर का करंट लगा... पापड़ गिर पड़ा और मैं छोटे बच्चों सी रो पड़ी। मैंने इन्हें ठहाका लगा हंसते पाया मेरी असहायता पर ठहाका।... बोले मैट्रिक फेल, रही न मूर्ख।'

"तुम दुष्ट हो' मैंने गुर्राकर कहा। और हो गई रुई सी धुनाई। इसके बाद बलात्कार की पुनरावृत्ति।"[149]

"उनके आते ही मुझे एक सिपाही या अर्दली–सा मुस्तैद व चौकन्ना हो जाना पड़ता। मैं ज्यादा सोती तक नहीं थी। मैं खाली तो नहीं थी? रसोईघर में मैंने कुछ बनाया या नहीं बनाया, इस सबको लेकर पति अधिक चिंतित रहते और भूल ढूंढकर खूब लच्छेदार भाषा से प्रताड़ित कर देते।

'यहां लाट साहबजी दिन भर आराम करती हो और मुझे हड्डियाँ तोड़ काम पर जाना पड़ता है।' जिस दिन एएसपी साहब को सुबह 5 बजे उठकर अर्दलीरूम के लिए पुलिस लाइन जाना पड़ता, उस दिन मुझे भी पाँच बजे उठकर उनकी खिदमत में हाथ बांधे एक ओर खड़े रहना पड़ता। मैं सो नहीं सकती थी। पति जल्दी उठे व पत्नी सोती रहे।"[150]

उपरोक्त सभी प्रसंग पुरुषवादी मानसिकता में पले–बढ़े व्यक्ति की मानसिक बनावट के अनेक स्तरों को खोलते हैं। पत्नी पर हर प्रकार का अंकुश लगाने वाला पति विवाहित होने के बावजूद अन्य स्त्रियों से भी सम्बन्ध बनाता है। पत्नी होने की इसी पीड़ा को व्यक्त करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "सबसे अधिक घबराहट, पीड़ा व दुख मुझे उस समय हुआ, जब यह पता लगा कि अग्निहोत्री जी का शारीरिक संबंध किसी कुलदीप नामक सुंदर स्त्री से था और वे इसलिए सहारनपुर रहना चाहते थे।"[151]

पति की प्रताड़ना को सहती एक स्त्री के लिए पति का घर छोड़ना क्या अपराध है? कृष्णा रोज–रोज की मारपीट से तंग आकर जब पति से अलग हो जाती हैं तो न केवल समाज बल्कि कृष्णा के प्रति उनके माता–पिता का व्यवहार भी बदल जाता है। पितृसत्ता स्त्री को यह सीख देती है कि वह विवाह के बाद अर्थी रूप में ही पति के घर से बाहर निकले। पति का घर छोड़ने से एक बेटी भी बेटी नहीं रहती? "मैं कभी–कभी अपनी सब्जी–रोटी लेकर नीचे माँ के रसोईघर में चली जाती ताकि माँ के साथ खाना खा सकूँ। कैसी बीतती थी एक बेटी पर, जब मैं रूखी–सूखी रोटी खाती थी और सामने बैठी माँ–भाभी दही, दो–दो सब्जी खाती थीं। पता नहीं क्यों माँ भी एक–दो दिन बाद मुझे नीचे आते देख खुश नहीं होती थी।"[152] घर और बाहर दोनों ही ओर से कृष्णा के ऊपर यह दबाव बनाया जाता है कि "यदि मैं अच्छी औरत हूँ तो मुझे कानपुर में ही बर्तन मांजकर तिरस्कृत होकर मरना चाहिए।"[153] यहाँ तक कि कृष्णा के भाई उसे घर से निकालने का यत्न भी करते हैं और निकाल भी देते हैं। कृष्णा के भाई यह कहने में भी नहीं किचकिचाते "इनको साथ ले जाने में लज्जा आती है। लोग क्या सोचेंगे। इनके यहाँ रहने से मेरी पत्नी पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है।"[154] लज्जा, मर्यादा आड़े तब क्यों नहीं आती जब कृष्णा शारीरिक और मानसिक रूप से पति का अत्याचार सहने के लिए विवश थीं? एक भाई के लिए बहिन के प्रति आदर, सम्मान तभी तक है जब तक वह पति के साथ है? पति के जुल्म को सहने के बावजूद पति के साथ रहना नैतिकता है? यदि अपने ही भाई से संवेदना के बजाए नैतिकता की सीख मिलने लगे तो समाज में स्त्री की स्थिति के बारे में सहज अनुमान लगाया जा सकता है। भाई की अमानवीयता उस समय पूरी तरह उजागर हो जाती है जब वह अपनी ही

बहिन को घर से बेघर कर देता है। "हरी दौड़ता सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुंचा और मेरी (टीन की) पेटी व बिस्तर नीचे बरांडे में भरे पानी में फेंककर कहा, "निकल जा कमीनी, कुत्ती, हरामजादी! तेरी जैसी औरत हमारे घर में नहीं रहनी चाहिए, जो अपने ससुराल को छोड़ आई है।"[155] कृष्णा का अपराध क्या है कि उसने पति से पिटना नहीं चाहा? पति के अत्याचार को न सहकर अपने स्वत्व को ढूँढ़ना क्या अपराध है? कृष्णा के ससुराल वालों के साथ ही मायकेवाले तक भी यह कह देते हैं – "हमें तुम्हारे जीने या मरने में कोई रुचि नहीं।"[156]

पिता जिस बेटी को बचपन में हाथ पकड़कर चलना सिखाता है, विवाह के बाद वही बेटी उसके लिए परायी हो जाती है। अपनी बेटी के दुख, पीड़ा, अपमान और उपेक्षा को समझने के बजाए कृष्णा के पिता स्वयं भी बेटी के प्रति समाज के उपेक्षित दृष्टिकोण का हिस्सा बन जाते हैं। "जिस बेटी को देखते ही उनका चेहरा मुस्कराहट से भर जाता था, उसके सामने पड़ते ही कड़वाहट से वे मुड़ जाते।... अभी एक माह बीता था कि जब मैं चन्दो के पास जब मैं बैठी कुछ पढ़ रही थी तो पिता आए और बौखला कर बोल पड़े, 'सोचा था कि तुम दोनों का ब्याह हो गया है, चलो कुछ तो मुक्ति मिली, परंतु तुम दोनों तो फिर से छाती पर मूँग दलने वापस आ गईं। उनका नश्तर जैसा वाक्य हम दोनों बहनों को खूनमखून कर गया। हम दंग, अपमानित सहमी–सी एक–दूसरे को ताक नहीं पा रही थीं।"[157] पितृसत्ता ने स्त्री के लिए ऐसा जाल बनाया है जिसमें सभी पुरुष मिलकर उसे गुलामी की सीख देते हैं फिर चाहे वह पति हो, पिता हो, भाई हो या पुत्र। कृष्णा के पिता के लिए पति की प्रताड़ना को सहती बेटी का दुख उतना महत्वपूर्ण नहीं लगा जितना कि मान–मर्यादा की प्रतिष्ठा । सामाजिक व्यवस्था स्त्री को हर रिश्ते में पुरुष का दास बनाती है। कहने को तो स्त्री के दो घर होते हैं। वास्तविकता यह है कि इन दोनों घरों में से उसका अपना एक भी घर नहीं होता है। ससुराल से प्रताड़ित होकर जब वह मायके जाती है तो मायकेवालों के लिए प्रतिष्ठा सर्वोपरि होती है, बेटी की संवेदना नहीं।

पितृसत्ता पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियों को भी इतना निर्मम और कठोर बना देती है कि स्त्री ही स्त्री की पीड़ा नहीं समझ पाती। कृष्णा की सास और माँ दोनों ही पितृसत्ता का एक प्रकार से समर्थन ही करती हैं। कृष्णा की सास बेटे के हर अत्याचार को वैध ठहराती हैं। "वे बेटे के प्रत्येक ऐब की समर्थक थीं मुझे अब विश्वास हो रहा था कि मेरी सास मेरे पति की प्रत्येक बुराई को अच्छा सिद्ध कर मुझे पीड़ित देखना चाहती है।"[158] यहाँ तक कि कृष्णा की सास बेटे को बहू से तलाक लेने की सीख भी दे देती हैं। "भैया तुम्हारा पत्र पढ़ा, तुम ठीक कहते हो

कि बहू तुम्हारे लायक नहीं। वैसे भी तीन वर्ष हो रहे हैं उसे बच्चा नहीं हुआ। न हो तो मामा भी तुम्हारे कह रहे हैं कि तुम तिवारीजी को लिखकर बहू को वहीं छोड़ दो। धीरे से तलाक लेकर तुम्हारी मन–पसंद की बहू ले आएंगे।"[159] एक सास के रूप में स्त्री अपने बेटे की हर गलती को सही ठहराने लगती है। कृष्णा की सास अपने बेटे के विवाहेतर सम्बन्धों को भी वैध ठहराती हैं। क्या एक माँ अपने और अपने परिवार की आर्थिक संभावनाओं की पूर्ति के लिए इतनी स्वार्थी हो जाती है कि वह बहू को प्रताड़ित देखने में अपनी आर्थिक सुरक्षा तलाशने लगती है? यह पितृसत्ता का ही कमाल है जिसने स्त्री को आर्थिक सुरक्षा के नाम पर कभी पुरुष का गुलाम बनाया है तो कभी स्त्री को अपनी संरचना में शामिल कर पुरुष का सहयोगी बनाया है। कृष्णा की सास के मन का भय इसी संरचना को उभारता है। कृष्णा की सास इस बात से भयभीत रहती हैं कि उनका अपना बेटा बहू के प्रति इतना आसक्त न हो जाए कि अपनी माँ की जिम्मेदारी को बोझ समझे इसलिए बेटे की हरेक गलती को वह सही ठहराने लगती हैं। कृष्णा की माँ भी अपने भविष्य की सुरक्षा बेटे के आश्रय में देखती हैं इसलिए वह अपमानित बेटी का साथ न देकर अपने पुत्र का ही साथ देती हैं। सम्पत्ति के मामले में भी माँ बेटी को पराया धन ही मानती है। कृष्णा द्वारा एक सिनेमा घर अपने नाम करने की बात पर पिता के साथ माँ भी पैतृक संपत्ति पर केवल और केवल पुत्र के अधिकार का समर्थन करती हैं। "'ऐसा संभव नहीं?' पिता बोले। 'क्यों नहीं? आपने वीणा भाभी के नाम भी तो सिनेमा कर दिया है।' 'वह तो इनकम टैक्स बचाने की तरकीब है।' 'पर मेरी सुरक्षा हो जाएगी।' वे निर्णय लेते इसके पहले ही मेरी माँ ने स्पष्ट कह दिया, 'मैं नहीं चाहती कि मेरे बेटे के हिस्से में कोई भी बाहर के व्यक्ति भागीदार हों, बेटी भी नहीं।'"[160]

कितना कठिन है एक स्त्री का जीवन? स्वयं को आधुनिक कहने वाले पुरुष यदि स्त्री की सहायता करते भी हैं तो वहाँ भी उनकी दृष्टि स्त्री–देह पर टिकी होती है। व्यवस्था के तमाम प्रपंचों के दंशों को पूरे जीवन भर झेलने वाली कृष्णा अपनी पीड़ा को उजागर करते हुए लिखती हैं, "जीवन का कटु सत्य यह भी है कि जीवन सुविधाजनक करोड़पतियों का या ऊँचे पदाधिकारियों का ही होता है। आम स्त्री को तो विभिन्न बाधा और रुकावटों से जूझना ही पड़ता है। रेत से 70 साल फिसल गए। और मेरी भीतरी औरत गरम रेत पर प्यासी घूमती प्यार की बूँद–बूँद को तरसती इधर–उधर ताकती रही कि कोई तो इस चुल्लू में थोड़ा–सा पानी डालेगा जो इस प्यास में अमृत सिद्ध होगा। जीवन के चक्रव्यूह में न चाहकर जब मैं फंसी तो अपनी शक्तिहीनता पर खेद हुआ और अब पलंग की पाटी पर आंसू

गिराए बिना एक दिन भी जब नहीं बीतता तो मैं प्रातः सोचती हूँ कि आज भी सुबह होगी, शाम होगी और जिंदगी तमाम हो जाएगी, क्या इसी का नाम जीना है?"[161]

अकेले रहना या अपने स्वत्व के लिए लड़ना क्या स्त्री के लिए अपराध है? स्त्री यदि किसी पुरुष से सहायता लेती है तो उसे मात्र यौन तुष्टि का माध्यम क्यों मान लिया जाता है? क्या किसी स्त्री को मित्र रूप में सहयोग नहीं दिया जा सकता है? कृष्णा जीवन भर प्यार पाने की ख्वाहिश से जूझती रहीं। वह शाम जो किसी आत्मीय के साथ बीते। प्यार पाने की इसी आकांक्षा को व्यक्त करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "मैं देवी नहीं मानव हूँ। आज भी प्यार पाने की ख्वाहिश है। पर वह प्यार न तो किसी का दोहन करना चाहता है न किसी को पीड़ित।... मैं सदा से प्यार पाने को तरसती रही, बशर्ते वह प्यार तो हो, जिसे हम प्यार रूप से परिभाषित करते हैं। पर कहाँ है वह? क्या उसका कोई अस्तित्व है? या वह केवल कवि व साहित्यकार की कल्पना है मैंने तो अभी तक उसका वजूद महसूस नहीं किया।"[162] स्त्री यदि अधिक उम्र में प्यार करती है तो उसे अपराध या अश्लीलता से क्यों जोड़ दिया जाता है?

पितृसत्ता स्त्री को अनेक बेड़ियों में बांधती है। कृष्णा अग्निहोत्री का पूरा जीवन समाज की मान्यताओं के द्वंद्व और टकराहट में बीतता है। स्त्री यदि समाज की परंपराओं को नहीं स्वीकारती है तो उसका जीवन अनेक यातनाओं से होकर गुजरता है। व्यवस्था की बंदिशें स्त्री से उसके जीने का हक भी छीन लेती हैं। अपने जीवन में झेले गए दंशों को उजागर करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "मैं क्यों नहीं अपनी स्वेच्छा से स्वयं कमाकर भी अपनी जिंदगी नहीं जी सकी? क्यों मरजी से न रो पाई, न हंसी, न चीखी? बचपन से बुढ़ापे तक अमावस्या ही छाई रही। इस जीवित भ्रूण की हत्या में क्या रिश्तेदार, पड़ोसी एवं समाज शामिल नहीं? जो बोल्डनेस की बात करते हैं, वही औरत का छोटा–सा सच सह नहीं पाते। मैंने तो कभी अकेलापन आमंत्रित नहीं किया। मिली भी तो मुझे यह चौतरफा लड़ाई जिसे सौगात की तरह आंचल में समेटे जी रही हूँ।[163]

पद्मा सचदेव अपनी बीमारी के कारण लंबे समय तक अस्पताल में रहीं। पति और ससुरालवालों में से कोई भी अस्पताल में उनकी देखभाल के लिए न तो ठहरता है और न ही कोई उनसे मिलने आता है। अस्पताल में रहने के दौरान अन्य स्त्रियों से बातचीत के क्रम में वह स्त्री–जीवन के अनेक पक्षों से अवगत होती हैं। आत्मकथा में ऐसा ही एक प्रसंग सामने आता है जब फातिमा नाम की स्त्री अपने शोषण के बारे में पद्मा को बताती है, "पुलिस मेरे भाई को पता नहीं क्यों पकड़कर ले गई।... हम सब पुलिस स्टेशन गए। वहां शहर से हाकिम आया था। उसने कहा,

"मैं शाम को आपके घर खाना खाऊंगा। लड़के को कल सुबह छोड़ देंगे। वो मुझे घूरकर देख रहा था। खाना खाकर वो वहीं सोया और मुझे उसके कमरे में जबरदस्ती भेज दिया गया... और मैं अपने ही घर में लुट गई। दोनों भाइयों की नौकरियां लग गईं और वहीं एक सिपाही से मेरा निकाह भी हो गया।"[164] एक स्त्री को वस्तु की भांति ही देखा जाता है चाहे वह घर के भीतर हो या घर के बाहर। अपने स्वार्थ के लिए पुरुष स्त्री को इस्तेमाल की चीज बना देता है। घर के लोगों द्वारा ही फातिमा को सिपाही के पास भेजना उसे व्यक्ति से परे शरीर मानने की मानसिकता को सामने लाता है।

पद्मा के प्रति पहले पति का व्यवहार क्रूरता के अनेक पक्षों को सामने लाता है। पद्मा अपने पति को इतना प्यार देना चाहती हैं कि वह अपनी बुरी आदतों शराब पीने आदि को छोड़कर अच्छा जीवन बिताए। लेकिन जल्द ही पद्मा को वास्तविकता का अहसास होता है। पद्मा सचदेव लिखती हैं, "मर्द का इश्क औरत के लिए दुनिया का सबसे खूबसूरत करिश्मा है। सबसे सुंदर वस्तु है, दाय है। पर मर्द के अहंकार को कोई स्त्री नहीं तोड़ सकी। अगर उसका अहंकार टूट भी जाता है तो भी वो इसे कभी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके पुरखों ने मर्द को ये शिक्षा दी है कि स्त्री पांव की जूती होती है, छोटी–बड़ी हो जाए तो उसे उतार फेंक। नई खरीद लो। गंठवा लो।"[165]

यदि एक पुरुष स्त्री से अलग होता है या तलाक लेता है तो यह उसके अभिमान और अधिकार का प्रश्न होता है। वहीं दूसरी ओर यदि एक स्त्री पति से तलाक लेती है तो यह पुरुष के अहम् को ठेस पहुँचाता है। इसी अहम् के कारण पद्मा के पहले पति पद्मा को धमकी भी देते हैं। "असल में ये काम अगर दीपजी ने खुद किया होता, तो शायद उन्हें बुरा न लगता पर एक औरत, नाचीज औरत, अगर आदमी के अहंकार का फन पांव तले यूँ मसलकर चली जाए तो वो बहुत आहत होता है।"[166] इसी अहम् और कुंठा के कारण पद्मा के पहले पति पद्मा के बारे में लोगों से झूठी और बेबुनियाद बातें भी करते हैं।

भारतीय समाज और व्यवस्था में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर माना जाता है। एक स्त्री को फौजी के रूप में देखकर गाँव वालों की प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए पद्मा सचदेव ने लिखा है, "एक बार गाँव की देविका से जब एक ट्रक गुजरा तो उसमें एक औरत भी थी। उसने फौजियों जैसे कपड़े पहन रखे थे उसके बड़े चर्चे थे। पर मैंने उसे पहली बार ही देखा था। वो हमारे गाँव के आसपास की थी। वे ट्रक की लोहे की छड़ पकड़े–पकड़े हंसते–हंसते दोहरी हो रही थी, जैसे वो भी ट्रक के साथ ही चल रही हों वो कभी–कभी जीप में भी आती थी। मर्दाना

लिवास में जनाना को देखने के लिए कई लोग इकट्ठे रहते थे। ये वो जानती थी... उसके देविका के ऊपर से गुजर जाने के बाद फिर गाँव में उसके सिवाय कोई चर्चा न होती थी। बड़ी–बूढ़ियाँ उसका नाम लेकर एक लुटिया–भर देविका का जल शरीर पर उंड़ेल लेती – मरे मुई, हे देविका माई रक्षा करो।... जैसे ये सिपाही औरत उनका धर्म भ्रष्ट कर देगी।"[167] पितृसत्ता स्त्री को घर की चारदीवारी के भीतर रहना सिखाती है। यदि स्त्री इस सीमा को तोड़ती है तो अनेक बार उपेक्षित और अपमानित भी की जाती है। आज के समय में महत्त्वपूर्ण बदलाव यह आया है कि स्त्रियाँ उन पदों पर भी आसीन हैं जो पहले केवल और केवल पुरुष के अधिकार क्षेत्र माने जाते थे। आज स्त्रियाँ घर की जिम्मेदारी को संभालने के साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में अपनी सफल भूमिका का निर्वहन भी कर रही हैं।

समाज में पुत्र का जन्म जहाँ एक ओर हर्ष का कारण होता है, वहीं दूसरी ओर पुत्री के जन्म को दुख और अवसाद का कारण माना जाता है। पड़ोस में एक पुत्री के जन्म के समय घर और परिवार की प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए पद्मा सचदेव लिखती हैं, "शायद हम दूसरी या तीसरी मंजिल पर रहते थे। वहाँ मेरी एक बहन तोषी भी थीं पता नहीं कब पैदा हुई, पर वो थी। उसका नाम संतोष था। संतोष नाम इसलिए भी रखते थे कि लड़कियों से संतोष हो गया, अब और नहीं चाहिए।"[168] आज भी समाज में पुत्री के जन्म को उपेक्षा से देखा जाता है।

प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा में पितृसत्ता के अनेक खांचों, नियमों को उजागर किया है। एक स्त्री यदि जीवनभर अविवाहित रहने का निर्णय करती है तो समाज कभी उसे रखैल तो कभी वेश्या जैसे सांचों में फिट कर देता है। अपने जीवन के पच्चीस साल डॉ. सर्राफ के साथ गुजारने के बावजूद समाज उनके इस रिश्ते को कोई वैध मान्यता नहीं देता है। विवाह संस्था के भीतर सब जायज है। पति–पत्नी में प्रेम न भी हो तब भी विवाह संस्था घिसटती चलती रहती है। समाज प्रेम को मान्यता तभी देता है जब स्त्री, पुरुष की अधीनता स्वीकार कर विवाह के बंधन में बंधती है। पितृसत्ता स्त्री को अपनी इच्छानुसार जीवन जीने की मान्यता नहीं देती है। अपनी स्थिति पर विचार करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं, "मैं प्रभा खेतान... मैं कौन हूँ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी रंडी भी नहीं... क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलम्बी हूँ, अपना भरण–पोषण खुद करती हूँ। स्वेच्छा से एक जीवन का वरण किया है। तब मैं क्या हूँ? मैं अबोध हूँ... अबोध माने मूर्ख। दीन–दुनिया से बेखबर, समाज की सच्चाईयों से दूर। मैं विवाहित होकर किसी से अफेयर चलाए रखती, कुछ दिनों तक... तब भी ठीक था लोग

स्वीकार लेते, आवारगी को समाज स्वीकार लेता है। मगर अविवाहित रहकर एक विवाहित पुरुष, पाँच बच्चों के पिता के साथ टँगे रहना, भला यह भी कोई बात हुई?"[169] सामाजिक व्यवस्था स्त्री–पुरुष की आपसी सहमति के बजाए पितृसत्ता के नियमों द्वारा ही संचालित होती है। स्त्री के लिए यह बेहद आवश्यक होता है कि वह पितृसत्ता द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढ़ाले। प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ से प्रेम करती हैं जो कि विवाहित और कई बच्चों के पिता भी हैं। प्रभा डॉ. सर्राफ के प्रति एकनिष्ठ थीं लेकिन क्या डॉ. सर्राफ भी प्रभा के प्रति अपनी एकनिष्ठता निभा पाते हैं? इसके उत्तर में आता है, नहीं। डॉ. सर्राफ प्रभा को एक पति की भांति ही अनेक बार कठघरे में खड़ा करते हैं। स्वयं विवाहित और अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्ध होने के बावजूद वह प्रभा पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं। पुरुष हमेशा से स्त्री पर अपना एकाधिकार और आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, फिर चाहे वह पति हो या प्रेमी। पुरुष के लिए स्त्री का सतीत्व, कौमार्य हमेशा से आकर्षण का केंद्र रहा है। डॉ. सर्राफ भी प्रभा से जानना चाहते हैं – ""हमारी उम्र में अठारह साल का अंतर है, मैं एक खेला–खाया पुरुष हूँ जबकि तुम्हारा यह पहला अनुभव होगा।"

"नहीं, आप पहले पुरुष नहीं हैं मेरे जीवन में...।"

"तो मुझसे पहले कौन था...?" वे तड़प उठे थे, कोमल आवाज सख्त हो उठी।"[170]

कहने को तो प्रेम बंधनों, नियमों, कानूनों से परे आत्मा से आत्मा का मिलन होता है लेकिन भारतीय व्यवस्था की संरचना ही कुछ ऐसी है जो प्रेम को भी पितृसत्तात्मक मूल्यों से बांध देती है। डॉ. सर्राफ का प्रभा के प्रति प्रेम भावना से अधिक देह पर केन्द्रित है। डॉ. सर्राफ का प्रभा के प्रति व्यवहार और सोच व्यवस्था के नियमों द्वारा ही निर्देशित और संचालित है। स्त्री के लिए तीन बातें मुकर्रर की गई हैं – सेवा, श्रम और सेक्स। डॉ. सर्राफ प्रभा से सेवा लेने के साथ ही प्रभा के आर्थिक उपार्जन, कमाई पर भी पूरा नियंत्रण रखते हैं। व्यवस्था द्वारा निर्देशित इन तीनों नियमों के अनुसार ही वह प्रभा का जीवन संचालित कर अपना पूरा वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। डॉ. सर्राफ की पितृसत्तात्मक मानसिकता के कुछ उदाहरण –

"आज भी वही पूछताछ... कौन था यह मर्द?"

"आप उसे जानते हैं।"

"कलकत्ता से वह क्यों फोन कर रहा था?"

"उसे दवा मँगवानी थी।"

"दवा तो एक बहाना है। उसे तुम्हारी आवाज जो सुननी थी।"

"क्यों बेकार की बात करते हैं? स्त्री–पुरुष अच्छे दोस्त नहीं हो सकते?"

"अरे छोड़ो ये जुमले! तुम इस हद तक गिरी हुई हो मैं सोच भी नहीं सकता था। कहो और कितने यार हैं तुम्हारे? और कितने चक्कर चलाओगी तुम?"[171]

"प्रमाण दो कि तुम सती, साध्वी हो, कि बासु नाम के इस पुरुष से तुम्हारा रिश्ता पाक–साफ है। डॉक्टर साहब कभी छुपकर मेरी और मिस्टर बासु की बात सुनने की कोशिश करते, कभी मुझसे जवाब–तलब किया जाता।"[172]

"अचानक उन्होंने पलटकर मेरी आँखों में झाँकते हुए पूछा – "तुम सिर्फ मेरी हो ना, मेरी चीज?" मैं एकदम चुप थी।

"तुमने जवाब नहीं दिया?"

"मैं सिर्फ आपकी हूँ, लेकिन आप केवल मेरे नहीं।" डॉक्टर साहब मौन हो गए।

"अब आप खामोश क्यों हैं? आपने जवाब नहीं दिया?"

पर वे चुप थे।"[173]

उपरोक्त सभी उदाहरण डॉ. सर्राफ के पुरुषवादी संस्कारों को सामने लाते हैं।

चुनाव, निर्णय की स्वतन्त्रता जैसे शब्दों को अपने जीवन का आदर्श मानने वाली प्रभा सामंतवादी संस्कारों में जीने वाले डॉ. सर्राफ के प्रति आजीवन समर्पित क्यों रहीं? यहाँ तक कि डॉ. सर्राफ के परिवार को भी प्रभा अपना लेने का खूब प्रयास करती हैं। स्त्री, पुरुष की अहम् सन्तुष्टि के लिए स्वयं का समर्पण क्यों करती है? पढ़ी–लिखी और आत्मनिर्भर होने के बावजूद प्रभा डॉ. सर्राफ की कुंठा को क्यों झेलती रहीं? डॉ. सर्राफ हर बार एक नया जाल तैयार करते रहे और प्रभा उसमें फंसती चली गईं। "देखो मेरी और तुम्हारी जीत अलग–अलग नहीं। इसे तुम अपनी लड़ाई समझो। तुम्हारे बिना कुछ भी करना मेरे लिए संभव नहीं, तुम्हारे सहारे के बिना मैं क्या मेरा यह परिवार भी नहीं चल सकता, बस एक इस मौके पर साथ दे दो, फिर मैं सब कुछ छोड़ दूंगा, प्रैक्टिस–व्रैक्टिस सब कुछ। तुम भली–भाँति जानती हो श्रीमतीजी को मेरी सफलता से कोई मतलब नहीं। श्रीमतीजी रहेंगी अपने बच्चों के पास। हम–तुम कहीं और चले जाएँगे।"[174]

"मैं भी क्या करूँ? मैं तुम्हें अपना नाम तो नहीं दे सकता, लेकिन यह बच्चा हमारे प्यार...।"[175]

उपरोक्त उदाहरण डॉ. सर्राफ के झूठे प्रेम प्रलोभन को दर्शाते हैं। डॉ. सर्राफ

को जब और जैसे प्रभा की आवश्यकता हुई, उन्होंने उसे इस्तेमाल किया। प्रभा की कमाई पर आधिपत्य से लेकर अपने बीबी–बच्चों तक की सेवा में डॉ. सर्राफ ने प्रभा को जीवनभर उलझाए रखा। प्रभा जीवनभर पितृसत्ता के दंशों को झेलती रहीं। अपनी पीड़ा के विषय में वह लिखती हैं, "मुझे डॉक्टर साहब के आचरण से दुख हुआ, पीड़ा मिली, मैं उस स्थिति से मुक्ति चाह रही थी – कोई भी मनुष्य पीड़ा के साथ जीवित नहीं रहना चाहेगा मगर जल्द ही समझ गई कि दर्द से मुक्ति का यह रास्ता ज्यादा दूर तक मेरा साथ नहीं दे पाएगा। देह की उपयोगिता है मगर देह और इसकी कामना ही तो सब कुछ नहीं मनुष्य के जीवन में।"[176]

भारतीय समाज में 'परिवार' पितृसत्ता का सबसे बड़ा संरक्षक है। परिवार के भीतर मौजूद विवाह संस्था पुरुष को स्वतंत्रता और निर्णय के सभी अधिकार देती है और स्त्री को पुरुष का गुलाम बनाती है। "डॉक्टर साहब के अनुसार मालिक एक होता है, और वह पुरुष ही होता है।

"क्यों? स्त्री क्यों नहीं?"

"वह अपनी गृहस्थी की मालकिन होती है।"

गृहस्थी की मालकिन शब्द से मुझे हँसी आ जाती। मिसेज सर्राफ तो डॉक्टर साहब की गृहस्थी चला रही हैं लेकिन यह किसकी गृहस्थी है? डॉक्टर साहब की। किसके बच्चे हैं? डॉक्टर साहब के नाम पर चलता हुआ वंश है। बैंक की पासबुक डॉक्टर साहब के पास रहती है। परिवार के सदस्यों पर डॉक्टर साहब नैतिक निर्णय देते हैं। तब मिसेज सर्राफ क्या करती हैं? वह घर के चकले–बेलन को अपनी ढ़ाल–तलवार बनाती हैं। मालकिन शब्द में छुपे हुए विरोधाभास को कम–से–कम मैं समझने लगी थी। सम्भव है विवाहित जीवन के ये छोटे–छोटे रीति–रिवाज कभी मुझे बड़े आकर्षक लगे हों पर अब इनके प्रति मेरे मन में कोई भ्रम नहीं बचा।"[177] मालकिन का आश्वासन पितृसत्तात्मक मिथक है। घर के सारे निर्णयों पर पति का अधिकार और मालकिन के नाम पर स्त्री को घरेलू कार्यों की जिम्मेदारी का झुनझुना थमाना पितृसत्ता की ही एक साजिश है।

स्त्री को असुरक्षा का भाव इतना भयभीत कर देता है कि वह विवाह संस्था में अपनी सुरक्षा ढूंढने लगती है। भारतीय समाज की संरचना कुछ इस प्रकार की है कि स्त्री न चाहने के बावजूद व्यवस्था का शिकार बनती जाती है। स्त्री के भीतर भय, सुरक्षा और संरक्षण का भाव छिपा होता है इसलिए वह संरक्षण के नाम पर पति के अत्याचारों को सहती जाती है। भारतीय समाज में आज भी अकेली स्त्री को चरित्रहीन की संज्ञा दी जाती है। आत्मकथा के प्रारंभ में हम देखते हैं कि प्रभा

खेतान विवाह को 'ओबररेटेड संस्था' मानती हैं। आत्मकथा के अंत तक आते–आते प्रभा खेतान विवाह संस्था में सुरक्षा तलाशने लगती हैं। यह सच है कि अकेली स्त्री को कभी चरित्र तो कभी स्वच्छन्दता के नाम पर समाज द्वारा अपमानित और उपेक्षित किया जाता है। प्रभा खेतान ने अपने जीवन में रखैल, वेश्या, दूसरी औरत... कहे जाने के दर्द को झेला था, इसीलिए वह पुरुष के संरक्षण में अपनी सुरक्षा तलाशने लगती हैं। "अधिकतर औरतों को विशेषकर अकेली स्त्री को आर्थिक असुरक्षा का भय सबसे अधिक सताता है, विवाहित स्त्री सुरक्षित होती है, पति और बच्चों पर निर्भर करने की उसे आदत है, खर्च के लिए वह पैसे माँग लेती है पर अकेली स्त्री इस मुद्दे पर बेहद संवेदनशील होती है। कम–से–कम मैं तो हमेशा रही हूँ। मेरे पास सब कुछ था, अच्छी–खासी रकम मैंने जोड़ ली थी मगर फिर भी इस मुद्दे पर मैं स्वयं को असुरक्षित पा रही थी। इस भय का सम्बन्ध औरतपने के साथ जुड़ा हुआ था।... लेकिन असुरक्षा का बोध तो आज भी मेरे भीतर है... क्या करूँ इसका? कैसे मुक्ति पाऊँ?"[178]

स्त्री आत्मनिर्भर होने के बावजूद संस्कृति और परंपरा से मुक्त नहीं हो पायी है। सामाजिक पंगुता के विरुद्ध विद्रोह करने के बावजूद प्रभा खेतान पितृसत्तात्मक संस्कारों से मुक्त हो पायीं? आर्थिक आत्मनिर्भरता भी प्रभा खेतान को निर्णय की स्वतंत्रता नहीं दे पायी। सम्बन्ध स्त्री–पुरुष दोनों का होता है। दोनों ही इसके लिए समान रूप से उत्तरदायी होते हैं लेकिन सारे लांछन स्त्री को ही सहने पड़ते हैं। "इसी बीच कलकत्ता चेम्बर ऑफ कॉमर्स का चुनाव हुआ। मैं खजांची के पद पर थी और इसी साल मुझे सचिव होना था। मेरे मामाजी शुभकरण राजगड़िया अध्यक्ष हुए मगर मुझे सेक्रेटरी का पद नहीं दिया गया। मुझसे कई सदस्यों ने कहा कि, आपको अपने मामाजी से बात करनी चाहिए, एक बार उनके घर हो आइए।... मुझे लगा सेक्रेटरी पद के लिए मुझे उनकी खुशामद की क्या जरूरत है? मैं एक निर्यातक हूँ। करोड़ों का निर्यात करती हूँ और चेम्बर के बहुतेरे सदस्यों की तुलना में मेरा व्यावसायिक अनुभव ज्यादा है। अतः यह पद मुझे मिलना चाहिए। बाद में पता चला कि मामाजी को मेरे चरित्र से शिकायत थी। उनके अनुसार मैंने अपने खेतान वंश का नाम डुबोया है। वे मंच पर मेरे साथ बैठना नहीं चाहते थे।"[179] समाज स्त्री को ही दोषी मानता है, पुरुष को नहीं।

पितृसत्ता स्त्री को बचपन से ही अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर मौन रहना सिखाती है। मन्नू भंडारी आत्मकथा में एक ऐसे ही प्रसंग का जिक्र करती हैं जब कॉलेज में पढ़ाई के दौरान वह हड़ताल आदि में भाग लेती हैं। यदि एक पिता अपनी बेटी को आजादी देता भी है तो समाज उसे आजादी देने नहीं देता। "अरे

उस मन्नू की तो मत मारी गई है भंडारी जी, पर आपको क्या हुआ? ठीक है, आपने लड़कियों को आजादी दी, पर देखते आप, जाने कैसे–कैसे उल्टे–सीधे लड़कों के साथ हड़तालें करवाती, हुड़दंग मचाती फिर रही है वह। हमारे–आपके घरों की लड़कियों को शोभा देता है यह सब? कोई मान–मर्यादा, इज्जत–आबरू का खयाल भी रह गया है आपको या नहीं।"[180] पहले जहाँ मन्नू के पिता बेटी पर गर्व का अनुभव कर रहे थे, अब वही, "बस, अब यही रह गया है कि लोग घर आकर थू–थू करके चले जाएँ। बन्द करो अब इस मन्नू का घर से बाहर निकलना।"[181] स्त्री यदि समाज द्वारा निर्धारित खांचे से बाहर निकलने का प्रयास करती है तो समाज उसे उस घेरे से बाहर आने नहीं देता है।

मन्नू जीवन भर पति के सामंती संस्कारों की प्रताड़ना को झेलती हैं। आधुनिकता और आजादी के नाम पर राजेन्द्र यादव पत्नी के प्रति निभाए जाने वाले सारे दायित्वों से छूट ले लेते हैं। मन्नू घर को संभालने की आर्थिक से लेकर पारिवारिक सभी भूमिकाओं का निर्वहन करती हैं लेकिन राजेन्द्र यादव का व्यवहार पत्नी के प्रति सामंती संस्कारों से ओतप्रोत ही रहता है। "पर सबसे बड़ा संकट था राजेन्द्र के व्यक्तित्व में अपने अहं की अतिरिक्त चेतना के कारण उभर आई उन गाँठों का, जिसने जीवन की सहज गति को छेंककर रख दिया था।... सामन्ती संस्कारों से ओत–प्रोत इस पौरुषीय अहं की कचोट मैं समझती नहीं होऊँ, यह बात नहीं थी, पर उसका निराकरण मेरे पास नहीं, राजेन्द्र के अपने पास था।"[182]

राजेन्द्र यादव को बच्चे की उपस्थिति स्वतन्त्रता में बाधक लगती है। मन्नू की जिम्मेदारी में सहयोग करने के बजाए राजेन्द्र यादव का अहम् हमेशा उन पर हावी रहा। "उसे अकेले खेलते रहने की आदत भी थी और वह खेलती भी रहती थी। फिर भी राजेन्द्र को लगता था कि उसकी उपस्थिति मात्र से उनके काम में व्यवधान पड़ता है। सच पूछा जाए तो व्यवधान तो किसी तरह का नहीं पड़ता था और अब तो वह बड़ी भी हो गई थी, उसका कोई काम भी नहीं होता था, जो राजेन्द्र को करना पड़ता... पर इनकी तो वही कुंठा! मैं नौकरी करने जाऊँगी और वे बच्ची को लेकर घर में रहेंगे तो उनके लेखक–मित्र यही तो समझेंगे कि ये तो बच्ची की आयागिरी कर रहे हैं, जो इन्हें किसी भी... किसी भी सूरत में बर्दाश्त नहीं था। कई बार मन होता कि पूछूँ कि माँ अगर बच्चे को रखे तो माँ और अगर बाप बच्चे को रखे तो वह बाप न होकर आया कैसे हो गया?"[183] यह राजेन्द्र यादव की कुंठा ही है जिसके चलते उन्हें अपने बच्चे की जिम्मेदारी तक आयागिरी लगने लगती है। बेटी की बीमारी के समय भी राजेन्द्र यादव की बेपरवाही मन्नू को हमेशा चिंतित करती रही। "मैं बुरी तरह भन्ना गई... बच्ची की ऐसी हालत देखकर भी इन्हें

न कोई परेशानी हो रही है, न चिन्ता... इन्हें साहित्य अकादमी की मीटिंग ज्यादा जरूरी लग रही है।"[184] पत्नी की भयंकर बीमारी के समय भी राजेन्द्र यादव को पत्नी की देखभाल के बजाए गोष्ठी में जाना ज्यादा उचित लगता है। "लेकिन राजेन्द्र के लिए गोष्ठी ज्यादा जरूरी थी, वहीं गए... इतना ही नहीं, फोन पर ये मीरा भाभी को (गिरिराज की पत्नी) आग्रह कर करके कह रहे थे कि "अरे मन्नू नहीं जा रही है तो क्या हुआ (उस गोष्ठी में मैं भी आमंत्रित थी और यह जानकर ही मीरा भाभी ने भी गिरिराजजी के साथ चलने का कार्यक्रम बना लिया था) मैं तो हूँ – देखिए तो क्या मौज करवाता हूँ – अरे खूब मस्ती मारेंगे... आप अपना कार्यक्रम बिलकुल कैंसिल नहीं करेंगी..." जोर–जोर से बोले जा रहे ये शब्द मैं सुन रही थी बल्कि मेरे छटपटाते मन पर मौज करेंगे, मस्ती मारेंगे जैसे शब्द खुदते चले जा रहे थे और उससे उपजी तकलीफ आँसुओं में बहती चली जा रही थी।"[185]

पति का सहयोग, प्यार और लगाव पत्नी को ऊर्जा प्रदान करता है। मन्नू को राजेन्द्र यादव से न तो सहयोग मिलता है और न ही प्यार। मन्नू की बीमारी और मानसिक पीड़ा के लिए राजेन्द्र यादव पूरी तरह दोषी ठहरते हैं। विवाह संस्था सामंतवादी संस्कारों के चलते स्त्री को कभी शारीरिक तो कभी मानसिक तौर पर प्रताड़ित करती है। मन्नू को विवाह के माध्यम से पितृसत्ता के इतने अधिक दंश झेलने पड़ते हैं कि वह न्यूरोलजिया की बीमारी से ग्रस्त हो जाती हैं। "मेरे साथ क्या हुआ कि मैं। सिर्फ खर्च ही करती रही और एक स्थिति ऐसी आई कि मैं बिलकुल खाली–खोखली हो गई... रोगग्रस्त शरीर... निष्क्रिय–जीवन और खंडित आत्मविश्वास की किरचों में लिपटा व्यक्तित्व।"[186]

पुरुष हमेशा से स्त्री पर प्रभुत्व और वर्चस्व स्थापित करता रहा है। मन्नू की आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता के चलते राजेन्द्र यादव स्वयं एक प्रकार से मन्नू पर ही निर्भर रहे। लेकिन उनकी यह निर्भरता एक हीनताग्रंथि का रूप ले लेती है। राजेन्द्र यादव जीवनभर एक प्रकार से मानसिक अपंगता के शिकार रहे। पत्नी की आत्मनिर्भरता उन्हें कभी रास नहीं आयी। एक स्त्री पुरुष की अधीनता और वर्चस्व में अपना पूरा जीवन यापन कर देती है लेकिन पुरुष स्त्री के वर्चस्व को अपने अपमान और तिरस्कार की तरह देखता है। मन्नू राजेन्द्र यादव को उनके लेखन और स्वतंत्रता की पूरी छूट देती हैं। मन्नू राजेन्द्र यादव को सभी आर्थिक जिम्मेदारियों से मुक्त भी करती हैं। घर के प्रति सभी प्रकार के दायित्वों से मुक्त होने के बावजूद राजेन्द्र यादव जीवनभर सामंती संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाते हैं। "मुझे इनके नौकरी न करने से न कोई शिकायत थी... न तकलीफ। तकलीफ थी तो केवल इस बात से कि जब आप नौकरी कर ही नहीं सकते... करना ही नहीं

चाहते तो कम–से–कम फिर मेरे नौकरी करने और घर चलाने पर इतनी–इतनी कुंठाएँ पालकर मेरा और अपना जीवन तो इतना असहज और तकलीफदेह मत बनाइए। पर अपने अहं और सामन्ती संस्कारों से लाचार राजेन्द्र करें भी तो क्या करें?"[187] इन्हीं सामंती संस्कारों के चलते राजेन्द्र यादव विवाह के बाद मीता से और अधिक जुड़ते चले गए। मीता पर पूर्ण अधिकार की भावना राजेन्द्र यादव को पूर्ण पुरुष होने का गर्व देती रही। एक पुरुष की हीनताग्रंथि तभी गर्व में बदलती है जब वह स्त्री को पूरी तरह से संरक्षण की भूमिका में देखता है। पुरुष स्वयं को स्त्री का संरक्षक मानकर एक शासक की भूमिका निभाने का प्रयास करता है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न होने के बावजूद राजेन्द्र यादव मीता को पहाड़ पर ले जाते समय ठहरने–खाने का पूरा खर्च स्वयं उठाते है। राजेन्द्र यादव पैसों का प्रबन्ध कभी मन्नू द्वारा घर–खर्च के लिए दिए पैसों से तो कभी प्रकाशकों से अग्रिम लेकर करते हैं। "मीता को पहाड़ पर ले जाते तो ठहरने की व्यवस्था ये खुद करते... सारा खर्च ये खुद उठाते और तब सारी हीनता–ग्रन्थियों से मुक्त होकर अपने को आत्म–विश्वास और अधिकार से भरा एक पूर्ण पुरुष महसूस करते। एक ओर इनका तृप्त अहं... कुंठाओं से मुक्त व्यक्तित्व और दूसरी ओर मीता के प्रति अगाध प्रेम (?)।"[188] जहाँ एक ओर मन्नू पर निर्भरता राजेन्द्र यादव के लिए अपने पुरुष होने का अपमान जैसा था, वहीं दूसरी ओर मीता पर अधिकार और स्वयं पर मीता की निर्भरता राजेन्द्र यादव के अहम् को संतुष्ट करने का काम करती है। एक स्त्री की सबलता और सक्षमता पुरुष को कभी रास नहीं आती है। मन्नू का आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता राजेन्द्र यादव को हमेशा कुंठित करता रहा।

स्त्री के अधिकारों के विषय में सजग लेखन के बावजूद राजेन्द्र यादव जीवन भर पितृसत्ता की गिरफ्त में ही रहे। पितृसत्ता और सामंती संस्कारों के विरोध में लिखना और अपने जीवन में उसे लागू करना दो भिन्न बातें हैं। "हमेशा लीक छोड़कर चलने की गुहार लगानेवाले, सामन्ती संस्कारों की धज्जियाँ बिखेरनेवाले राजेन्द्र का पूरा व्यक्तित्व इन्हीं संस्कारों में इस कदर लिपटा पड़ा है, जिसने इन्हें इस परम्परागत धारणा से कभी मुक्त ही नहीं होने दिया कि परिवार में वर्चस्व और प्रभुत्व केवल उसी का हो सकता है जो परिवार का भरण–पोषण करे... उसकी जिम्मेदारियाँ निभाएं (आज भी शायद ही कोई पुरुष इस धारणा से मुक्त होगा)।"[189]

पुरुष स्त्री से हर प्रकार के समर्पण की मांग करता है। प्रेम के माध्यम से पुरुष स्त्री पर अपना एकाधिकार स्थापित भी करता है। राजेन्द्र जीवनभर जहाँ एक ओर मन्नू के पूर्ण समर्पण के आकांक्षी रहे वहीं दूसरी ओर मीता पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने की कामना से भी ग्रस्त रहे। लेकिन सबकुछ लेने की

इच्छा रखने वाले राजेन्द्र यादव वही समर्पण, वही प्यार मन्नू और मीता को दे पाए? दोनों ही जगह वह संस्कारों के द्वंद्व में उलझते रहे। "वास्तव में राजेन्द्र के प्यार और अन्तरंगता की सीमा में कोई हो भी नहीं सकता, सिवाय खुद राजेन्द्र के, क्योंकि किसी को भी प्यार की सीमा में लेते ही अधिकार की बात आ जाती है, जो राजेन्द्र किसी को दे नहीं सकते... समर्पण की बात आ जाती है, जो राजेन्द्र कर नहीं सकते। हकीकत तो यह है कि आत्म–केन्द्रित और आत्म–तोष के खोजी राजेन्द्र ने जिन्दगी में न अपने सिवाय किसी को प्यार किया, न कर सकते हैं वरना राजेन्द्र जैसा विवेकवान और संवेदनशील (?) व्यक्ति क्या इस बात को भी जानेगा कि प्यार का विस्तार ही तो अधिकार है... प्यार की परिपूर्णता ही तो है समर्पण! इनसे परहेज करके क्या प्यार किया जा सकता है?"[190]

राजेन्द्र यादव अपनी अपंगता और वर्चस्व स्थापित करने की प्रवृत्ति के कारण जिस हीनता ग्रंथि के शिकार रहे, वह उनके कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व का ही परिणाम था। अपनी पत्नी मन्नू को भी वह इस ग्रंथि का शिकार बनाते हैं। साथ ही लेखन के माध्यम से अन्य लड़कियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर वह अपने भीतर विजय का दर्प भी जगाते हैं। स्वयं राजेन्द्र यादव ने भी अपनी इस वृत्ति को स्वीकारा है, "यह अधूरे होने की हीनता–ग्रन्थि से उत्पन्न दमित सैक्स की विकृत अभिव्यक्ति है जो बार–बार दूसरे से अपनी पूर्णता का आश्वासन चाहती है? या यह मेरी निजी कुंठा है या प्राक्ऐतिहासिक आदिम पुरुष वृत्ति, जहां वह अपने कक्षों में शत्रुओं और शिकारों के सिर सजाकर विजय के गर्व को बार–बार जीवित रखता है या वह सामन्त जिसे अपने हरम में अनगिनत भोग सामग्री चाहिए या... ।"[191] पुरुष के भीतर पुरुष होने के संस्कार इतने गहरे स्तर तक जुड़े रहते हैं कि तमाम आधुनिकता के बावजूद वह इनसे उबर नहीं पाता है। मन्नू अपने जीवन में न केवल पति के इन संस्कारों को झेलती हैं बल्कि पति के विवाहेतर सम्बन्धों की पीड़ा के दंश को भी भोगती हैं।

पितृसत्ता स्त्री को बचपन से ही संस्कारों की गुलामी की सीख देती है। इन संस्कारों के कारण स्त्री की अपनी आजादी भी उससे पूरी तरह छिन जाती है। बड़ी होती बेटी को पितृसत्ता किस तरह अपनी गिरफ्त में लेती है, इसे चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की आत्मकथा के एक प्रसंग से समझा जा सकता है। "साइकिल पर!" बड़े भाई ने विरोधी, ऊँचे स्वर में कहा, "तो अब इतनी सयानी लड़की बाजार में साइकिल के पीछे बैठ कर आया–जाया करेगी। लोग क्या कहेंगे?... "सयानी लड़की साथ ले जाती हो, पर उसे संभालना नहीं आता। वह चाहे स्टेज पर खड़े होकर कविता सुनाए... और बाद में सारा शहर उसकी चर्चा करे। यही नेकनामी एक दिन

बदनामी में बदल जाएगी। आगे से मुझे ऐसी बात कभी सुनायी नहीं देनी चाहिए। ध्यान रखो!"[192] भारतीय समाज में स्त्री को हर कदम पर अपनी इच्छा को मारने का अभ्यास कराया जाता है वहीं दूसरी ओर पुरुष को कुछ भी करने या कहने की खुली छूट होती है।

भारतीय समाज में स्त्री के सौन्दर्य को एक प्रतिमान की तरह देखा गया है। पितृसत्ता का यह कमाल ही है कि स्वयं स्त्री भी उन प्रतिमानों पर खरी उतरने का प्रयास करने लगती है। "कांतिजी के आए दिन के प्रेम–प्रसंगों के कारण, मैं सोचने लगी थी कि मेरे व्यक्तित्व में, गोरे रंग और प्रभावशाली हाव–भाव की कमी है, जो 'ये' सुंदर स्त्री की ओर आकर्षित हो जाते हैं।"[193] पितृसत्ता स्त्री को पुरुष का गुलाम तो बनाती ही है, साथ ही स्त्री भी स्वयं को गुलाम बनाने में अपना सहयोग देने लगती है। स्त्री अपने सौन्दर्य को पुरुष के आकर्षण के पैमाने पर देखती है। सौन्दर्य और गौरवर्ण की कमी के कारण चन्द्रकिरण पति द्वारा जिस हीनता ग्रंथि का शिकार बनती हैं, उस हीनता ग्रंथि से वह एक पुरुष के आकर्षण के द्वारा ही उबरती हैं। चन्द्रकिरण का आत्मविश्वास उन्हें इस ग्रंथि से नहीं उबार पाता है। यह सामंती संस्कारों की ही देन है कि स्त्री अपने जीवन को पुरुष के निर्धारित पैमानों से जोड़कर देखने लगती है। "शैदा के प्रेमनिवेदन ने मुझे, मेरी इस हीन ग्रंथि से मुक्त होने में मदद की – मैं असुंदर नहीं हूँ, पैंतीस वर्ष की आयु में – शैदा सदृश्य आकर्षक व्यक्ति को, अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति है।"[194]

स्त्री के लिए गौरवर्ण सुन्दरता का प्रमुख प्रतिमान रहा है। चन्द्रकिरण की नानी काले रंग की होने के कारण पति की उपेक्षा का शिकार रहीं। ""किरन! तुम विश्वास नहीं कर सकतीं, पर सच यह है कि तेरे नानाजी ने अपनी पहली दुलहिन का मुँह तीन बरस नहीं देखा था...।" "गजब।" मैं चौंकी, और पूछा, "नानी? भला यह सजा उन्होंने बड़ी नानी को क्यों दी?" "अरे! कछु नाय दुलहिन – "वह हँसती रहती और बोलती जाती, "फेरन पे जब हथलेवा के टेम दुलहिन का हाथ देखो तो वो बड़ो कारो हतो।" (अर्थात् हाथ का रंग बहुत काला था)... बस फिर उन्होंने सुहागरात को भी दुलहिन का घूँघट हटाए के नूँ नाय देखो!""[195] स्त्री का शरीर, रूप, रंग... सामंती संस्कारों से इस कदर संचालित और परिचालित है कि स्त्री जीवनभर उपेक्षा का शिकार बनी रहती है। जन्म के साथ ही स्त्री जीवनभर स्त्री होने की पीड़ा को झेलती और भोगती है।

भारतीय समाज और संरचना में यह माना जाता है कि पत्नी को पति से कम पढ़ा–लिखा होना चाहिए। इसके पीछे भी पुरुष के वर्चस्व की भावना निहित होती है। चन्द्रकिरण का अधिक पढ़ा–लिखा होना विवाह के लिए एक अवगुण की भांति

देखा जाता है। "उनका कहना था, "आपकी लड़की बहुत पढ़ी–लिखी है, सारे गुण हैं, बहुत नाम पा लिया है। पर बहू हमारे लड़के के सिर पर पाँव रखकर आवे – यह हमें मंजूर नहीं।" यानी पत्नी को हर हाल में, पति से कम पढ़ा–लिखा और हर तरह से झुका होना चाहिए – सो मेरे सब गुण ब्याह के बाजार में अवगुण सिद्ध हुए।"[196]

भारतीय समाज में आज भी बेटी के जन्म को बोझ की तरह माना जाता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्शा को जब दूसरी बेटी हुई तो घर के सदस्यों की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार थी – "प्रकाश ने सुना रात लड़की हुई है, तो भाई से बोला, "फिर एक लड़की हो गयी!" और टिफिन लेकर दफ्तर चला गया। स्वराज्य कमरे में आया, बच्ची देखकर बोला, "भाभी! एकदम गोरी है।" वह भी दफ्तर चला गया।"[197] जहाँ एक देवर को बेटी होने की चिंता है। वहीं दूसरे देवर को बेटी के गोरे होने की खुशी है। यह है भारतीय समाज की विडंबना जहाँ जन्म से ही बेटी बने–बनाए प्रतिमानों पर कसी जाने लगती है।

एक पुरुष अपनी लापरवाही और गैर–जिम्मेदारी की सजा भी पत्नी को ही देता है। चन्द्रकिरण के पति के जीवन में यदि कुछ बुरा या अनुचित घटता है तो वह इसका जिम्मेदार पत्नी को ही मानते हैं। "तुम्हें मैंने मद्रास में दस रुपए नहीं दिए, तो तुम जरूर रास्ते भर मुझे कोसती गयी होगी। तुम्हारा कोसना सफल हुआ। बम्बई स्टेशन पर, मेरा बक्सा तोला गया और मुझे पंद्रह रुपए जुर्माना देना पड़ा। पर कोसना तुम्हें ही नहीं आता, मुझे भी आता है। मैं अभिशाप देता हूँ कि तुम जीवन भर भीख माँगोगी, तुम्हारे लड़के बेयरे बन कर, होटलों की जूठन खायेंगे और तुम्हारी लड़कियाँ कोठों पर बैठेंगी। मैं अब लखनऊ आऊँगा तो कहीं और ठहरूँगा। तुम्हारे हाथ का खाना तो दूर, कभी पानी भी नहीं पियूँगा।"[198] कोई पिता अपने बच्चों के लिए ऐसी कामना कर सकता है, अकल्पनीय लगता है? ऐसा एक बार नहीं होता कि चन्द्रकिरण के पति ने अपनी पत्नी को दोषी ठहराया हो। यदि बेटी कॉलेज से घर देर में पहुँचती है तब भी दोष पत्नी पर ही आता है। "बनाओ कम्मो को गायिका! लड़की को कोई उठा ले गया होगा। तुम्हारी अक्ल पर तो पत्थर पड़ गए हैं। लड़कियों को हर हुनर में पारंगत करना है।"[199] भारतीय समाज में स्त्री का कार्यक्षेत्र घर की जिम्मेदारी को संभालना है। चन्द्रकिरण के पति की सामंतवादी मानसिकता ही सामने आती है जब वह अपनी बेटी की प्रतिभा को प्रोत्साहन के बजाए हिदायतें देने का काम करते हैं। भारतीय समाज की वास्तविकता है कि पुरुष हर अच्छे के लिए स्वयं के संघर्ष को प्रमाणित करने में लगा रहता है और हरेक बुरे के लिए पत्नी को दोषी ठहराता है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था और संरचना स्त्री को अनेक बंधनों में बांधती है। बेटी यदि घर के बाहर जाती है तो उसे तमाम हिदायतें दी जाती हैं जबकि बेटों के लिए आजादी, स्वच्छन्दता की पूरी छूट होती है। चन्द्रकिरण की बेटियों को भी लड़कों से दूर रहने के निर्देश दिए जाते हैं। "जब लड़कियां यूनिवर्सिटी गयी थीं, तब उनको सख्त हिदायत थी कि वे किसी के साथ कैंटीन में चाय–कॉफी पीने नहीं जायेंगी।"[200]

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा अपने जीवन में पितृसत्ता के इतने अधिक दंशों को झेलती हैं कि कभी–कभी सामंतवादी संस्कारों के अधीन जीने को वह अपना जीवन मान बैठती हैं। अपने लेखन को प्रकाशक तक भेजने का अधिकार और निर्णय वह पति को दे देती हैं क्योंकि पत्नी का संपादक या प्रकाशक से पत्र–व्यवहार पति को पवित्रता की सीमाएं लांघने जैसा लगता है। इस कारण चन्द्रकिरण आदर्शवादी पत्नी होने में अपनी सार्थकता ढूँढ़ने लगती हैं। पति के अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्धों को वह पतिव्रता स्त्री की भांति सहती भी हैं। "वास्तविकता यह थी कि मैं बच्चों सहित थियेटर में रहती थी, कांतिजी कमलेश से, जिसकी कोठी, उस हाल के पास थी, मिलने जाते थे। एक बार तो, फिल्म खत्म हो गयी, मैं चपरासी के साथ बच्चों को लिए, खाली हॉल में बैठी रही। निष्फल क्रोध और अपमान से पीड़ित, चाहकर भी, मैं कुछ नहीं कर पा रही थी। चपरासी बुलाकर लाता, तब हम कार में बैठकर घर आते।"[201]

भारतीय समाज में न केवल पुरुष बल्कि स्त्री भी पितृसत्तात्मक संस्कारों की संरक्षक होती है। हिन्दू धर्म और संस्कृति में पुत्र को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है। चन्द्रकिरण सौनरेक्शा पुत्र के महत्त्व के समर्थन में अपने पति को दूसरा विवाह करने तक की अनुमति दे देती हैं। यह समाज की विडंबना है या स्त्री की विडंबना जहाँ वह अपनी अधीनता की जमीन स्वयं तैयार करने लगती है? "सब कुछ सोचकर उसी दिन मैंने 'इनसे' खुलकर बात की – "क्या आप जीत से शादी करना चाहते हैं?" इनका उत्तर था – "चाहूँ भी तो कैसे कर सकता हूँ – सरकारी नौकर हूँ।" मजबूरी है। "क्यों? मैं तीखी पड़ी, "हिंदू–समाज में पुरुष दस बीस जितने चाहे विवाह कर सकता है। कह देना मुझे लड़का चाहिए था, और मेरी बीबी के लड़कियाँ ही होती हैं, मैं लड़के के लिए शादी कर रहा हूँ।""[202] भारतीय समाज में मातृत्व को सार्थकता तभी प्रदान की गयी है जब स्त्री पुत्र की मां हो। पुरुष स्त्री को हमेशा से अपने निर्देशों के अनुसार ढ़ालने की कोशिश करता रहा है। आश्चर्य तब होता है जब स्त्री भी उन निर्देशों पर चलने को अपना जीवन मान बैठे। बलवंत कौर इस संदर्भ में लिखती हैं, "चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की आत्मकथा मध्यवर्गीय साधारण स्त्री

की कथा है। यह एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है जिसके लिए परिवार की मर्यादा, पारिवारिक ढांचे की सुरक्षा सर्वोपरि है। जो अपने पति की सब गलतियों को सिर्फ इसलिए माफ करती चलती है क्योंकि घर, परिवार को त्यागकर अकेली जीने वाली स्त्री को समाज में सम्मान की निगाह से नहीं देखा जाता। "अपनी बेटी और अपना पालन करने की सामर्थ्य मुझमें है – यह शादी के बाद ही मुझे खुद के बारे में अच्छी तरह मालूम हो गया था। पर हां, यह जरूर सुनना पड़ेगा – किरण के पति ने उसे छोड़ दिया। यह अलग बात है जिस पति या परिवार के नाम पर वह सब कुछ सहती है, आदर्श पत्नी की तरह पति के प्रेम–प्रसंगों को छिपाने से लेकर एक्सीडेंट तक का केस ले देकर दफा–दफा करवाती है। उसी पति द्वारा ही उसके चरित्र को लांछित भी किया जाता है। इसलिए यह आत्मकथा मात्र चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की नहीं, बल्कि आम मध्यवर्गीय स्त्री की कथा भी है जो कभी आर्थिक आधार न होने और कभी आर्थिक आधार होने के बाद भी सामाजिक–पारिवारिक मर्यादाओं के नाम पर सब कुछ सहजता से स्वीकारती रहती है क्योंकि अभी 'ललकारने' या 'हक मांगने' की भाषा उसने अर्जित नहीं की है। यह जानते हुए भी कि दीवारों के पार एक आकाश हो सकता है। वह 'बिगड़ैल औरत या 'छोड़ी हुई औरत' के तमगे से अपने को बचाने के लिए अतिरिक्त रूप से सावधान रहती है। इस रूप में यह आत्मकथा परंपरागत समाज में स्त्री की हैसियत को एक भुक्तभोगी की निगाह से दर्ज करती है।"[203]

'पिंजरे की मैना' मध्यवर्गीय पुरुष की मानसिकता के साथ मध्यवर्गीय स्त्री के संस्कारों को भी सामने रखती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्शा के पति सामंतवादी मानसिकता के साथ ही जीवनभर दुर्भावनाओं से भी ग्रस्त रहते हैं। पत्नी की योग्यता के कारण चन्द्रकिरण के पति का कुंठित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक जीवन की वास्तविकता है।

दलित स्त्री अपने जीवन में पितृसत्ता के दोहरे दंश को झेलती है। इस संदर्भ में गोपा जोशी लिखती हैं, "दलित स्त्रियों की स्थिति अगड़ी जाति की स्त्रियों से भिन्न होती है। अपने परिवार की पितृसत्ता के दबाव के साथ–साथ वे ऊंची जाति के पुरुषों के दबाव में भी रहती हैं। दलित जाति की वर्जनाओं के साथ–साथ वे स्त्री होने के नाते यौन शोषण का भी शिकार होती हैं। आर्थिक क्षेत्र में दलित जाति के लोग कमजोर ही होते हैं। अपनी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक कमजोरी के कारण ये स्त्रियां तिहरे–चौहरे दमन–शोषण का शिकार होती हैं।"[204] कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' लेखिका के तिहरे शोषण को सामने रखती है। कौसल्या का जीवन पितृसत्ता के अनेक दंशों को उभारता है। कौसल्या न केवल

जातिगत भेदभाव को झेलती है बल्कि पति द्वारा उत्पीड़ित और अपमानित भी होती हैं।

पितृसत्ता भारतीय समाज और संरचना का बेहद क्रूर और अमानवीय पक्ष है। सवर्ण द्वारा जातिगत भेदभाव के कारण दलित और सवर्ण विपरीत ध्रुव पर स्थित हैं किन्तु स्त्री के मामले में दोनों एक बिन्दु पर आकर खड़े हो जाते हैं। स्त्री के प्रति दलित समाज की वही मानसिकता है जो सवर्ण की है। पुत्र जन्म को दलितों में भी वंशवृद्धि का कारक माना जाता है। बेटियाँ दलितों में भी पराया धन हो जाती हैं। पुत्री होने की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं, "हमें माँ–बाबा प्यार जरूर करते थे, हमें पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी फिर भी लड़के का महत्त्व उनके लिए ज्यादा था। हमें वे पराया धन समझते थे।"[205] दलित समाज में भी मातृत्व की सार्थकता तभी है जब स्त्री पुत्र की माँ हो। "छः बहनों के बाद भाई पैदा होने पर माँ–बाबा खुशी से फूले नहीं समा रहे थे।"[206] दलित स्त्री को जीवनभर सवर्णों के अपमान का दंश झेलना पड़ता है। सवर्णों की मानसिकता है कि दलित स्त्री का कार्य सवर्णों की सेवा और श्रम तक सीमित रहे। यदि दलित स्त्री शिक्षा ग्रहण करती है तो सवर्णों द्वारा उपहास का पात्र बना दी जाती है मानो शिक्षा पर केवल और केवल पुरुषों का अधिकार हो। एक दलित स्त्री को शिक्षा अर्जित करने में किन–किन कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है, इसे कौसल्या के जीवन के माध्यम से देखा जा सकता है। "बस्ती के बाहर उच्चवर्गीय लोगों के लड़के भी हम पर बहुत जलते थे, "ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो, इसका बाप तो भिखमंगा है, साइकिल पर जाती है।""[207] यदि दलित स्त्री अपने भविष्य निर्माण के लिए परंपरा से हटकर अपने जीवन को आधार देती है तो पग–पग पर अपमानित की जाती है।

भारतीय समाज जिन सामाजिक मूल्यों की बात करता है वे सभी मूल्य पुरुष के अधिकारों की बात करते हैं। समाज द्वारा स्त्री पर अनेक मूल्यों को जबरन लादा गया है। नैतिकता, मर्यादा, पवित्रता के साथ ही सौन्दर्य को भी स्त्री का प्रमुख गुण बताया गया है। सौन्दर्य में भी गौर वर्ण स्त्री के लिए प्रतिमान के तौर पर निर्धारित किया गया है। सवर्णों के साथ ही दलितों में स्त्री का सौन्दर्य उनके व्यक्तित्व का प्रमुख प्रतिमान है। स्त्री का शिक्षित होना दलित समाज के लिए भी महत्त्वहीन है बशर्ते स्त्री सुन्दर हो। "एक सनक और होती थी कि लड़की ज्यादा नहीं पढ़ी है तो चलेगा, लेकिन खूब गोरी–सुंदर होनी चाहिए, जैसे गोरी चमड़ी ही सुंदरता की कसौटी हो।"[208] विवाह के लिए दलितों में भी स्त्री के निर्धारित पैमाने बनाए गये हैं। "कुसुम का रंग बहुत गोरा था, आँखें भूरी थीं, किंतु वह कद में ठिगनी थी। विवाह

के लिए उसके माता–पिता ने उसे कई लड़कों को दिखाया, परंतु छोटे कद की वजह से उसे पसंद नहीं किया जाता था।"[209]

पितृसत्तात्मक संस्कार पुरुष को स्त्री की गुलामी का अधिकार देते हैं। कौसल्या के पति की मानसिक संरचना पूरी तरह पितृसत्तात्मक नियमों द्वारा संचालित है। एक दलित पुरुष सवर्णों द्वारा निर्धारित जातिगत भेदभाव को झेलता है लेकिन वह अपने प्रति सवर्णों की क्रूरता को भूलकर स्वयं भी पत्नी के प्रति अमानवीय व्यवहार करने लगता है। "देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने ही घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने मुँह से कहता है कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात–बात पर गाली, वह भी गंदी–गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से।"[210]

सुशीला टाकभौरे का जीवन ऐसे शिकंजे में जकड़ा रहा जो मनुवादी, वर्णवादी और जातिवादी व्यवस्था द्वारा संचालित है। स्त्री किसी भी जाति, धर्म की हो, उसका जीवन पीड़ा और यातना से घिरा होता है। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे स्त्री होने की पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखती हैं, "समाज की यह मान्यता रही है – 'स्त्री देवी है या कुलच्छनी।' उसे जीवित इन्सान कभी माना ही नहीं गया। जैसे वह हाड़, मांस की मानव नहीं, आदर्शों की पुतली है जो आदर्शों के लिए जीती है और आदर्शों के लिए मर जाती है।"[211] दलित स्त्री अपने जीवन में जातिभेद, वर्णभेद के साथ पितृसत्ता के अन्याय, शोषण और हिंसा की पीड़ा को भी झेलती है। पितृसत्ता पुरुष को सबल और स्त्री को कमजोर बनाती है। स्त्रियों को हमेशा से पुरुष के संरक्षण में रहने के निर्देश दिए जाते हैं। सुशीला टाकभौरे के पति सुशीला को शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित करने के साथ ही पत्नी के आर्थिक उपार्जन पर भी अपना एकाधिपत्य रखते हैं। यह मनुवादी मानसिकता है जो सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार को रोकती है।

"समाज में स्त्रियों के प्रति यह मानसिकता सहज रूप में व्याप्त है, पितृसत्ता प्रधान भारतीय समाज में स्त्रियों को बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता। उनकी प्रताड़ना और शोषण को पारिवारिक और व्यक्तिगत माना गया है। स्त्रियां अपने शोषण उत्पीड़न की बातें बताएं इसे भी समाज में पुरुषों ने अच्छा नहीं माना। पुरुष चाहे जिस हाल में रहें, अपनी पत्नी के सामने स्वयं को शक्ति और अधिकार संपन्न सर्वेसर्वा मानते हैं। इस एकाधिकार के तहत ही वे पत्नी पर जुल्म करते हैं।"[212] सुशीला का पूरा जीवन इसी प्रताड़ना से ग्रस्त रहा। वह घरेलू हिंसा के साथ ही आर्थिक शोषण के दंश को जीवनभर झेलती रहीं। सुशीला के पति पत्नी को प्रताड़ित करने के साथ ही भयभीत कर कमजोर भी बनाते हैं। सुशीला के पति

पत्नी को लात–घूसों, बेतों... से इतना मारते हैं कि मारपीट के निशान भी उनके शरीर पर रहते हैं। पति की प्रताड़ना के कुछ उदाहरण –

"उन्होंने कई बार कहा था – "तू नहीं जानती, तू कितनी बदसूरत है। वो तो मैं हूँ जो तुझे निभा रहा हूँ।"[213]

"तेरा मुँह गन्दगी की गटर है। जब भी मुँह खोलती है, गटर की गन्दगी उगलती है।"[214]

उपरोक्त उदाहरण सुशीला के पति की अमानवीयता को सामने लाते हैं। निर्णय लेने का अधिकार पुरुष का माना जाता है। सुशीला के संस्कारों पर पितृसत्ता इतनी हावी है कि वह अपना हरेक काम पति से पूछकर करने लगती है। ""बचपन से ऐसे वातावरण में पली बढ़ी थी कि अपना निर्णय खुद लेने की क्षमता नहीं आ सकी थी। मेरी इस स्थिति से मुझे नुकसान भी बहुत हुआ और अपमान, उत्पीड़न भी सहना पड़ा। किसी को पत्र लिखना हो, तो जैसे पहले पति से अनुमति लेती थी कि इन्हें पत्र लिखना है, लिखूं या नहीं लिखूं।"[215] यह विडंबना ही है कि स्त्री कभी परंपरागत संस्कारों से उबरने का प्रयास करती है तो कभी उन्हीं संस्कारों में खुद को बांधती भी है। पुरुष स्त्री से उसकी सहजता तक छीन लेता है।

दलित स्त्री सदियों से पीड़ा, वेदना को झेलती आयी है। सामाजिक व्यवस्था उसे वंचित और उत्पीड़ित स्थिति से उबरने ही नहीं देती। जीवन में झेले गए दंशों की पीड़ा को व्यक्त करते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "कैसे भूल पाऊँगी वे दिन! पीड़ाओं में रोया मन, अनबूझा–सा यौवन, सपनों का रूठा वह सावन, जो फिर कभी लौटा ही नहीं। चूर–चूर भावों के कण, बिखरे रेगिस्तान से... न कोई सलिला बही, न मनमौजों की मौज लिए आई कोई बहार ही... कैसे भूलूँ मैं...।"[216]

सभी लेखिकाएं अपने जीवन में पितृसत्ता के अनेक दंशों को झेलती है। जिस समाज में धर्म, संस्कृति, परंपरा, संस्कार का इतना वर्चस्व हो तो वहां स्त्री की वास्तविक स्थिति का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है। पितृसत्ता स्त्री को यह समझाने में काफी हद तक सफल रही है कि परिवार के बिना उसके अस्तित्व का कोई महत्त्व नहीं। स्त्री यह मानने लगती है कि अपने अस्तित्व की सार्थकता के लिए उसे पितृसत्ता का वाहक बनना होगा। पितृसत्ता का वाहक अर्थात् शिक्षा, संपत्ति, पुरुष के समान धार्मिक कार्यों के अधिकार से वंचित होना।

स्त्री के संदर्भ में भारतीय समाज और संरचना के विषय में प्रभा खेतान लिखती हैं, "हम भारतीय कई तहों में जीते हैं। यदि हम मन की सलवटों को समझते हैं, तो यह जरूर स्वीकारेंगे कि औरत का मानवीय रूप सहोदरा कही जाने

के बावजूद स्वीकृत नहीं है। हमारे देश में औरत यदि पढ़ी–लिखी है और काम करती है तो उससे समाज और परिवार की उम्मीदें अधिक होती हैं। लोग चाहते हैं कि वह सारी भूमिकाओ को बिना किसी शिकायत के निभाए। वह कमा कर भी लाए और घर में अकेले खाना भी बनाए, बूढ़े सास–ससुर की सेवा भी करे और अपने बच्चों का भरण–पोषण भी।"[217] भारतीय संस्कृति में स्त्री को या तो देवी माना गया है या गुलाम की स्थिति में रखा गया है। समस्या तब आती है जब स्त्री भी अपनी स्थितियों को सहर्ष स्वीकार कर लेती है। इससे उसकी अधीनस्थता और अधिक बढ़ जाती है। पुरुष ने स्त्री को यदि छूट दी भी है तो अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर। सीमोन द बोउवा लिखती हैं, "औरत आत्म नहीं होती, क्योंकि उसके पास साधन नहीं है... बहुधा तो औरतें खुद ही अपनी इस नगण्यता में संतुष्ट रहती हैं।"[218] जब तक समाज में पुरुष का अधिनायकवादी वर्चस्व और उत्तराधिकार के लिए पुत्रों की अनिवार्यता बनी रहेगी तब तक स्त्री की अस्मत, अस्मिता, अस्तित्व, व्यक्तित्व, अधिकार, अभिव्यक्ति, समानता और सम्मान पितृसत्ता के दंशों से पीड़ित होता रहेगा। स्त्री के लिए आवश्यक है कि समय के साथ वह अपने वजूद को भी पहचाने। स्त्री के स्वत्व के संदर्भ में 'पिंक' मूवी में अमिताभ बच्चन द्वारा बोली गई ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं –

'तू खुद की खोज में निकल, तू किसलिए हताश है,
तू चल, तेरे वजूद की समय को भी तलाश है।
जो तुझ से लिपटी बेडियां, समझ न इनको वस्त्र तू,
ये बेड़ियां पिघाल के, बना ले इनको शस्त्र तू।
तू खुद की खोज में निकल, तू किसलिए हताश है,
तू चल, तेरे वजूद की समय को भी तलाश है।
चरित्र जब पवित्र है, तो क्यों है ये दशा तेरी,
ये पापियों को हक नहीं कि लें परीक्षा तेरी।
तू खुद की खोज में निकल, तू किसलिए हताश है
तू चल, तेरे वजूद की समय को भी तलाश है।'

(च) आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न

सदियों से स्त्री की पराधीनता का मुख्य कारण रहा है आर्थिक रूप से उसका पुरुष पर निर्भर होना। पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्त्री को घरेलू कामों के लिए तैयार किया जाता है। तमाम सामाजिक–सांस्कारिक वर्जनाएं आरोपित कर स्त्री की चेतना को पुरुषों के अनुकूलित कर दिया जाता है। पुरुष स्त्री के चरित्र और स्वभाव को जानने के लिए तो उत्सुक रहता है लेकिन उसकी योग्यता को नहीं। स्त्री को अपनी वास्तविक स्थिति जानने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उन सीमाओं को तोड़े जो उसे आर्थिक रूप से पुरुष का गुलाम बनाती हैं। स्त्री के अस्तित्व और स्वत्व के लिए आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता बेहद आवश्यक है। आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्री के व्यक्तित्व संवर्द्धन के साथ ही उसे निर्णय लेने की स्वतन्त्रता भी देती है। स्त्री अपने अस्तित्व की भांति एक और अस्तित्व को भी धारण करने की क्षमता रखती है। उसकी इस क्षमता को स्वीकारने के बजाए पुरुषतान्त्रिक समाज के लिए स्त्री का अस्तित्व ही एक प्रश्नचिह्न है। आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न स्त्री के लिए तभी महत्त्वपूर्ण है जब वह स्वयं को दीन–हीन स्थिति से मुक्त कर अपने आत्म को स्थापित करे।

जहाँ एक ओर आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न स्त्री के स्वत्व और अस्तित्व से जुड़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर यह पुरुष की सुविधा से भी जुड़ा है। स्त्रियाँ आज आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तो हुई हैं लेकिन अपनी कमाई का कितना हिस्सा वे अपने पर खर्च कर पाती हैं? कई मामलों में यह सामने आया है कि स्त्रियों की आर्थिक आत्मनिर्भरता से पुरुषों को और अधिक सहूलियत हुई है। घर के काम–काज के साथ ही रोजगार सम्बन्धी कार्य स्त्री को एक ओर आजादी का अनुभव कराते हैं, वहीं दूसरी ओर दोगुने बोझ में दबाते भी हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्रियों को घर–परिवार के दायित्वों से मुक्त कर पायी है? स्त्रियों द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं में आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न लेखिकाओं के व्यक्तित्व, स्वत्व का संवर्द्धक बनकर सामने आया है या दोहरी जिम्मेदारी का प्रश्न बनकर। इस उपअध्याय में स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्री–आत्मनिर्भरता के इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा की जाएगी।

कुसुम अंसल को पति की सम्पन्नता के कारण आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं लगा जितनी कि रचनात्मकता। घर की व्यस्तता और जिम्मेदारियों में खपते जीवन में लेखन के माध्यम से वह अपने अस्तित्व की तलाश करती हैं। लेखन भी उनके लिए चुनौती बनकर सामने आता है। "घर के कोने मुझे अवकाश का कोई पल नहीं देते थे। उस लिप्तता के मध्य मेरे लिए कुछ

भी लिखना एक चैलेंज या चुनौती बन जाता था। ... अपने साधना संसार में जब मैं गले तक डूबी होती तो कोई नौकर आ खड़ा होता... नीचे मामीजी या और अतिथि आ गए हैं या कि मेरी सास की तबियत इतनी खराब हो जाती कि बिस्तर–बोरिया उठाए मुझे नीचे उनके कमरे में ही शिफ्ट होना पड़ता था। कभी शाम के खाने–पीने, रसोइये की छुट्टियां, बीमारी आदि व्यवधान हफ्तों महीनों मुझे कागज–कलम से दूर रखते। उनके स्थान पर रसोई की छुरी, झाड़न, मैदा, बेसन हाथों में आ जाता। मैं कर्त्तव्य से कभी भी भागी नहीं थी, उसमें मुझे आनन्द भी आता था पर कभी–कभी बेमौके की यह व्यस्तता मेरे लेखन की प्रक्रिया को बेदर्दी से कुचल जाती।"[219] कुसुम अपने जीवन में यह जान चुकी थीं कि अस्तित्व–निर्माण में भूमिकाओं का अत्याधिक महत्त्व है। इसलिए वह पत्नी, बहू, मां... आदि भूमिकाओं को बड़ी संजीदगी से निभाती हैं। पति और बच्चों की व्यस्तता के कारण कुसुम साहित्य में अपने अस्तित्व की तलाश करती हैं, लेकिन घर की जिम्मेदारी उनकी इस तलाश में बाधा बनकर ही सामने आती है। घर की तमाम व्यस्तता उन्हें इतना बांधे रहती है कि लेखन के लिए समय निकालना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है।

आर्थिक आत्मनिर्भरता कृष्णा अग्निहोत्री को कुछ हद तक पति के शोषण से मुक्ति देती है। पति से अलग होने के बाद वह अपनी बेटी की पूरी जिम्मेदारी भी स्वयं उठाती हैं। समाज की प्रताड़ना, नौकरी के दांव–पेंच कृष्णा के जीवन को और अधिक कठिन बनाते हैं। "आज भी स्वतंत्र अकेले जीने वाली नारी की अस्मिता की प्रशंसा करना अतिशयोक्ति ही है। पहले तो यहां की संस्थाएं ऐसी नहीं, जो अकेली रहनेवाली स्त्री के दैनंदिन कार्यों में सहयोग करें। उसे कानूनी एवं सामाजिक परेशानियों से बचाएं। नारी अस्तित्व वर्तमान में भी उलझा है एवं शोषण का शिकार ही है। रिश्ते बनाने में यदि सौदा एवं गणित रहेगा तो नारी अस्मिता बचाना कभी सुखदायक न होगा।"[220]

आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रभा खेतान को मानसिक तनाव से बहुत हद तक मुक्त करती है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण ही वह समाज की उपेक्षाओं को झेलने का सामर्थ्य रख पाती हैं। "कुंठाओं से निकलने का मुझे एक ही रास्ता नजर आया कि मैं अपना व्यापार खड़ा कर लूँ और भी निर्यात का, कम–से–कम देश–विदेश घूम तो सकूँगी, लोगों की नजर में इज्जत मिलेगी वह अलग। स्वाभाविक था कि निर्यातक बनने की अपना स्वतन्त्र व्यापार करने की मेरी इच्छा दिन–पर–दिन बलवती होती।"[221] प्रभा चमड़े के व्यापार में सफलता भी हासिल करती हैं और एक सफल उद्योगपति भी साबित होती है। वैश्विक दुनिया में भी प्रभा खेतान सफलता हासिल करती है।

प्रभा खेतान चूंकि जीवन भर अविवाहित रहीं इसलिए अपने व्यापार के लिए पति की वर्जनाओं को उन्हें सहन नहीं करना पड़ा। हां, अपने प्रेमी डॉक्टर सर्राफ के नियन्त्रण को वह जीवन भर झेलती हैं। "व्यापार मैं कर रही थी मगर पैसे का कंट्रोल डॉक्टर साहब कर रहे थे। कहाँ कितना पैसा लगाना है, किसके पास कितना रुपया जाना है इसका निर्णय वही लेते थे। मेरी भी उनके प्रति शिकायत बढ़ रही थी। इतनी मेहनत करती हूँ, इनके परिवार को इससे फायदा होता है, इनका छोटा बेटा इस काम में लगा है, उसका एक सुन्दर भविष्य बन रहा है... क्या इस उपलब्धि की कोई कीमत नहीं? मेरी उपलब्धियों को आखिर किसलिए हल्का किया जाता है।"[222] आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रभा खेतान को एक ओर व्यक्तित्व की पहचान देती है लेकिन दूसरी ओर डॉक्टर सर्राफ की सुविधाओं, उनके परिवार की जिम्मेदारी का माध्यम और साधन भी बनती है। प्रभा खेतान की आय का एक बड़ा हिस्सा डॉक्टर सर्राफ की बीमारी और उनके बच्चों की देखभाल में खर्च होता है। पुरुष अपने आर्थिक उपार्जन में स्त्री को हिस्सेदार नहीं बनाता। पुरुष स्त्री के संरक्षण भर के लिए स्त्री पर खर्च करता है। लेकिन स्त्री की सम्पत्ति, आर्थिक उपार्जन को पुरुष अपना अधिकार मान बैठता है।

मन्नू भंडारी के ऊपर परिवार चलाने की एकतरफा जिम्मेदारी उन्हें और अधिक दायित्वों, कर्त्तव्यों में बांधने का काम करती है। "राजेन्द्र अक्षर से निकालकर घर–खर्च के लिए मुझे थोड़ा–बहुत देते तो थे पर दिल्ली में पाँच प्राणियों के परिवार को चलाने की सारी जिम्मेदारी तो मेरे ऊपर ही थी। मैं भी करती तो आखिर क्या करती... अन्ततः मुझे छुट्टियों में क्लास पढ़ाने का काम लेना पड़ा।"[223]

मन्नू आर्थिक और पारिवारिक जिम्मेदारी के चलते दोहरी भूमिका का निर्वाह करती हैं। इस कारण अनेक बार वह मानसिक प्रताड़ता भी झेलती हैं। लेकिन पति से अलग होने में मन्नू की आर्थिक आत्मनिर्भरता एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी निर्भरता के चलते समाज में वह अपने अलग व्यक्तित्व का निर्माण भी करती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा ट्यूशन और लेखन के जरिए अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता तलाशती हैं। चन्द्रकिरण के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता उनकी स्वयं की इच्छा से कहीं अधिक घर की आर्थिक जिम्मेदारी की अनिवार्यता का माध्यम थी। चन्द्रकिरण की आर्थिक आत्मनिर्भरता के चलते चन्द्रकिरण के पति दायित्वों से जितना मुक्त होते हैं, चन्द्रकिरण दायित्वों से उतना ही घिरती जाती हैं। "अब मेरी दिनचर्या थी – अँधेरे पाँच बजे उठकर, दो अँगीठियाँ जलाना, सभी के लिए 'बेड टी' देना। फिर भोजन बनाने में जुट जाती। बीच–बीच में कुंतल को दूध पिला आती। उसके

टट्टी–पेशाब के लँगोट बदल आती।... आधे घंटे में तैयार होकर स्कूल पहुँचना होता था।... ढाई बजे खाना खाने के बाद, घर की सफाई में जुटती। ... चार बजे तक मैं संध्या की सब्जियाँ काट–छील कर, दाल बीन कर, आटा गूँथ कर रखती, क्योंकि ट्यूशन से लौटते समय साढ़े पाँच से ऊपर हो जाता था। ... खाना बनाते, बीच–बीच में उन लोगों की साहित्यिक चर्चा में भी हिस्सा लेती। दुबारा चाय मांगते, तो फिर केतली भर दे आती। रात को नौ बजे तक खाना–पीना निबटता, तो मैं उल्टा–सीधा चौका सँभालकर, बच्ची को साथ लेकर सो जाती।... दिन समाप्त।"[224]

यह है मध्यवर्गीय स्त्री का सच जो पति और बच्चों के लिए अपना पूरा जीवन होम कर देती है। चन्द्रकिरण का आर्थिक उपार्जन उनके गृहस्थ जीवन की नाव को सहारा देता है। घर की आर्थिक जरूरत के चलते वह महिला व बाल–विभाग में स्क्रिप्ट–राइटर के पद पर भी नियुक्त होती हैं। अपनी रचनात्मकता और लेखन के लिए भी वह जीवनभर जूझती हैं। घर–परिवार की जिम्मेदारियों से जूझते जीवन में लेखन के लिए उन्हें कम ही समय मिल पाता। लेखन हो जाने पर उसे प्रकाशक के पास भेजने में पति की स्वीकृति की अनिवार्यता के चलते चन्द्रकिरण जीवनभर व्यस्तता भरे जीवन में खटती रही।

सुशीला टाकभौरे को घर की आर्थिक जिम्मेदारी में पति का हाथ बँटाने के लिए नौकरी करनी पड़ी। "टाकभौरे जी चाहते थे, मैं कोई नौकरी करने लगूँ, ताकि घर खर्च में मदद मिले।"[225] पति को सुशीला की नौकरी से मिले पैसों भर से मतलब था। पति की इच्छा के चलते सुशीला इतनी शिक्षित होने के बावजूद 'मातृसेवा संघ' के अस्पताल में लीनन कीपर की नौकरी करती हैं। "उनके लिए बहन के परिवार का दुगना खर्च उठाना जरूरी था, इसलिए 150/– रु. प्रति माह की यह नौकरी मुझसे करवाना जरूरी लग रहा था।"[226]

आर्थिक आत्मनिर्भरता एक प्रकार से सुशीला के स्वत्व पर भी सवाल खड़ा करती है। "क्या मुझे नौकरी की इतनी जरूरत थी कि मैं पढ़ाई, अपने व्यक्तित्व, अपने मानव सम्मान को ताक पर रखकर गन्दे कपड़े उठाने की नौकरी करती रहूँ? उस समय घर में मेरा जो हाल था, वह मैं किसे बताती?"[227]

लेखिकाओं के जीवन के माध्यम से हम पाते हैं कि उनके जीवन में आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न एक चुनौती बनकर सामने आता है। एक ओर घर–परिवार की जिम्मेदारी और दूसरी ओर घर चलाने की आर्थिक जिम्मेदारी के कारण अधिकांश लेखिकाओं का जीवन एक मशीन की भांति हो जाता है। अधिकांश लेखिकाओं के जीवन में आर्थिक आत्मनिर्भरता एक विवशता का प्रश्न बनकर सामने आती है। पति की घर की जिम्मेदारियों के प्रति बेपरवाही और दायित्वों से मुक्ति,

लेखिकाओं को नौकरी आदि करने के लिए बाध्य करती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्शा, सुशीला टाकभौरे के जीवन में आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न पति की सहूलियत और सुविधा का माध्यम बनकर सामने आता है। मन्नू भंडारी और कृष्णा अग्निहोत्री के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता पति से अलग होने में महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाती है। आर्थिक आत्मनिर्भरता उनके स्वत्व और व्यक्तित्व को एक पहचान भी देती है। आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न प्रभा खेतान को जहाँ एक ओर व्यक्तित्व की ऊँचाईयाँ देता है, वहीं दूसरी ओर उनके प्रेमी डॉ. सर्राफ को सुविधा और सहूलियत भी देता है।

.....

संन्दर्भ सूची

1. कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 26–27
2. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 111–112
3. प्रगति सक्सेना (अनु.) – स्त्रियों की पराधीनता, पृ. 46–47
4. हंस, अगस्त, 2010, पृ. 78
5. अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल, रचनावली, पृ. 2
6. वही, पृ. 6
7. वही, पृ. 7
8. वही, पृ. 1–2
9. कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0 30
10. वही, पृ. 30
11. वही, पृ. 31
12. वही, पृ. 32
13. वही, पृ. 21
14. वही, पृ. 43
15. गोपा जोशी – भारत में स्त्री असमानता, पृ. 25
16. वही, पृ. 286
17. प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 18
18. वही, पृ. 26
19. वही, पृ. 31
20. वही, पृ. 38
21. वही, पृ. 40–41
22. वही, पृ. 73
23. मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 18
24. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 72
25. वही, पृ. 95
26. कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 41
27. वही, पृ. 32–33
28. सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, पृ. 17
29. वही, पृ. 18
30. वही, पृ. 32
31. वही, पृ. 55
32. वही, पृ. 74
33. वही, पृ. 78

34. मैत्रेयी पुष्पा – वह सफर था कि मुकाम था, पृ. 77
35. वही, पृ. 59
36. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 298
37. वही, पृ. 181
38. वही, पृ. 178
39. कल्याण पत्रिका, नारी अंक, पृ. 90
40. उमा चक्रवर्ती – जाति समाज में पितृसत्ता, पृ. 37
41. मैत्रेयी पुष्पा – सुनो मालिक सुनो, भूमिका
42. वही, पृ. 227
43. तसलीमा नसरीन – औरत के हक में, पृ. 47
44. आलेख संवाद, मई 2008, पृ. 13
45. अनिल कुमार (सं.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 13
46. वही, पृ. 21
47. वही, पृ. 33–34
48. वही, पृ. 34
49. वही, पृ. 42
50. वही, पृ. 29
51. कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 21
52. कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 94
53. वही, पृ. 95
54. वही, पृ. 100
55. वही, पृ. 100
56. वही, पृ. 104
57. वही, पृ. 105
58. वही, पृ. 112
59. वही, पृ. 139
60. वही, पृ. 201
61. वही, पृ. 253–254
62. वही, पृ. 253, 261
63. वही, पृ. 281
64. वही, पृ. 263
65. वही, पृ. 289
66. वही, पृ. 126
67. वही, पृ. 153
68. वही, पृ. 266

69. कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 47
70. वही, पृ. 93
71. वही, पृ. 140
72. पद्मा सचदेव – बूँद–बावड़ी, पृ. 123
73. वही, पृ. 148
74. वही, पृ. 223
75. वही, पृ. 231
76. प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 66
77. वही, पृ. 85
78. वही, पृ. 86
79. वही, पृ. 164
80. वही, पृ. 175
81. वही, पृ. 76
82. वही, पृ. 79
83. वही, पृ. 86
84. वही, पृ. 242
85. वही, पृ. 264
86. वही, पृ. 175–176
87. मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 53
88. वही, पृ. 56
89. वही, पृ. 60
90. वही, पृ. 96
91. वही, पृ. 196
92. वही, पृ. 196–197
93. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 99
94. वही, पृ. 140
95. वही, पृ. 99
96. वही, पृ. 141
97. वही, पृ. 220
98. वही, पृ. 100
99. वही, पृ. 302–303
100. वही, पृ. 317
101. समकालीन भारतीय साहित्य, नव–दिस. 1999, पृ. 74
102. कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 106
103. वही, पृ. 105

104. सुशीला टाकभौरे – शिकंजें का दर्द, पृ. 127
105. वही, पृ. 144
106. वही, पृ. 196
107. वही, पृ. 149
108. वही, पृ. 200
109. वही, पृ. 198
110. वही, पृ. 215
111. अरविन्द जैन – औरत होने की सजा, पृ. 85
112. हंस, दिसम्बर, 1996, पृ. 79
113. तसलीमा नसरीन – औरत के हक में, पृ. 191
114. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 49
115. वही, पृ. 246
116. तसलीमा नसरीन – औरत के हक में, पृ. 25
117. पद्मा सचदेव – बूँद बावड़ी, पृ. 335
118. वही, पृ. 359
119. अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 33
120. प्रभा खेतान (अनु.) – अन्या से अनन्या, पृ. 49
121. वही, पृ. 147
122. मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 106
123. वही, पृ. 119
124. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 207
125. वही, पृ. 250
126. वही, पृ. 279
127. कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 51
128. सुशीला टाकभौरे – शिंकजें का दर्द, पृ. 163
129. वही, पृ. 181
130. तसलीमा नसरीन – औरत के हक में, पृ. 192
131. वही, पृ. 177
132. तसलीमा नसरीन – औरत का कोई देश नहीं, पृ. 27
133. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 188
134. प्रगति सक्सेना (अनु.) – स्त्रियों की पराधीनता, पृ. 27–28
135. तसलीमा नसरीन – औरत का कोई देश नहीं, भूमिका
136. अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 28
137. वही, पृ. 23–24
138. वही, पृ. 24

139. वही, पृ. 24
140. वही, पृ. 50
141. वही, पृ. 84
142. कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 8
143. वही, पृ. 16
144. वही, पृ. 52
145. वही, पृ. 53
146. वही, पृ. 61
147. वही, पृ. 101
148. वही, पृ. 158
149. वही, पृ. 104
150. वही, पृ. 109
151. वही, पृ. 130
152. वही, पृ. 181
153. वही, पृ. 193
154. वही, पृ. 192
155. वही, पृ. 224
157. वही, पृ. 226
157. वही, पृ. 178–179
158. वही, पृ. 106
159. वही, पृ. 112
160. वही, पृ. 179–180
161. कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 27–200
162. वही, पृ. 72–73
163. वही, पृ. 21
164. पद्मा सचदेव – बूँद बावड़ी, पृ. 208
165. वही, पृ. 132
166. वही, पृ. 231
167. वही, पृ. 146
168. वही, पृ. 40
169. प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 12
170. वही, पृ. 72–73
171. वही, पृ. 164
172. वही, पृ. 206
173. वही, पृ. 164

174. वही, पृ. 242
175. वही, पृ. 95
176. वही, पृ. 255
177. वही, पृ. 214–215
178. वही, पृ. 224
179. वही, पृ. 244–295
180. मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 24
181. वही, पृ. 24
182. वही, पृ. 65–66
183. वही, पृ. 74
184. वही, पृ. 97
185. वही, पृ. 176
186. वही, पृ. 177
187. वही, पृ. 67
188. वही, पृ. 217
189. वही, पृ. 216
190. वही, पृ. 214–215
191. वही, पृ. 215
192. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 100, पृ. 133
193. वही, पृ. 316
194. वही, पृ. 316
195. वही, पृ. 230
196. वही, पृ. 117
197. वही, पृ. 236
198. वही, पृ. 339
199. वही, पृ. 366
200. वही, पृ. 375
201. वही, पृ. 241
202. वही, पृ. 273–274
203. देवेन्द्र चौबे, दीपक कुमार (संपा.) – हाशिए का वृत्तांत, पृ. 175
204. गोपा जोशी – भारत में स्त्री असमानता, पृ. 244
205. कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 51
206. वही, पृ. 57
207. वही, पृ. 60–61
208. वही, पृ. 76

209. वही, पृ. 87
210. वही, पृ. 104
211. सुशीला टाकभौरे – शिंकजे का दर्द, भूमिका
212. वही, पृ. 196
213. वही, पृ. 204
214. वही, पृ. 201
215. वही, पृ. 205
216. वही, पृ. 216
217. प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता, भूमिका
218. वही, पृ. 27
219. अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 106
220. कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 104
221. प्रभा खेतान (अनु.) – अन्या से अनन्या, पृ. 199
222. वही, पृ. 212–212
223. मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 84
224. चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 212–213
225. सुशीला टाकभौरे – शिंकजे का दर्द, पृ. 151
226. वही, पृ. 152
227. वही, पृ. 157

अध्याय चार
हिंदी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन

(क) दलित स्त्री : शोषण के रूप
(ख) वर्णव्यवस्था बनाम पितृसत्ता
(ग) विवाह और तलाक का प्रश्न
(घ) शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता
(च) दलित लेखकों की स्त्री दृष्टि

हिंदी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन

दलित आत्मकथाएं दलित जीवन के संघर्ष की सार्थकता को रेखांकित करती हैं। किसी भी दलित लेखक द्वारा लिखी गई आत्मकथा उसके जीवन के अनुभव से उत्पन्न चिंतन है। यह लेखक की जीवन गाथा का चिंतन होने के साथ–साथ समाज की गाथा भी होती है। दलित आत्मकथाओं ने दलित समाज में सामाजिक चेतना और अस्मिताबोध जगाने का काम किया है। दलित साहित्यकारों की रचनाओं ने और विशेषकर आत्मकथाओं ने भारतीय साहित्य और समाज को एक नई दिशा दी है। दलित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में समाज के उस वर्ग की दुख, तकलीफों, हंसी, खुशी तथा जीवन के तमाम ऐसे पहलुओं को अभिव्यक्त किया है जिन्हें साहित्य की दुनिया से सैकड़ों–हजारों वर्षों से समाज के बुनियादी सरोकारों से बहिष्कृत रखा गया। ब्राह्मणवाद ने इस निम्न कहे जाने वाले वर्ग की भूमिका 'सेवक–दास' तक ही सीमित रखी और जीवन–विकास के तमाम रास्ते व अवसर दलित के लिए बंद कर दिए। दलित वर्ग के श्रम का शोषण करने के लिए तथा इसके द्वारा सृजित चीजों को भोगने के लिए 'जूठन' खिलाकर इनके अस्तित्व को तो जिंदा रखा गया लेकिन साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र से बहिष्कृत करके इनकी आकांक्षाओं–अपेक्षाओं को मृत कर दिया गया। इस वर्ग को 'पाप की संतान' कहकर लांछित किया गया और इनको दया के लायक भी नहीं समझा गया। इनके लिए साहित्य के इतिहास में केवल अभिशाप ही दर्ज है। साहित्य के विद्वान साहित्य के बारे में सिद्धांत गढ़ते रहे कि वह 'समाज का आईना' होता है, समाज की दुख–पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करता है लेकिन समाज की लगभग आधी आबादी को इस लायक ही नहीं समझा कि उसकी वास्तविकता को साहित्य में स्थान दिया जाए।

सार्त्र के शब्दों में कहें तो "लेखन केवल लिखना ही नहीं, एक कार्यवाही है और बुराई के खिलाफ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन को सायास एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए।"[1] दलित आत्मकथा लेखन संघर्ष से उपजा ऐसा लेखन है जिसका मूल उद्देश्य वर्णव्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध कर स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की स्थापना करना है। वर्चस्व के विरुद्ध विरोध और नकार की प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हुए यह लेखन शोषित, पीड़ित और प्रताड़ित होने के अनेक संदर्भों को हमारे सामने रखता है। दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाएं समाज को आईना दिखाती हैं कि जिस समाज में हम रहते हैं वह समाज कितनी क्रूरता से भरा है। समाज के अमानुषिक व्यवहार को दर्ज करती ये आत्मकथाएं आजादी के साथ–साथ समता और बंधुत्व की भी माँग करती हैं। अपनी अस्मिता की खोज

करती ये आत्मकथाएं मानवीय सरोकारों की पड़ताल करते हुए जीवन मूल्यों की खोज भी करती हैं।

"प्रेमचंद अपनी एक टिप्पणी में कहते हैं "संस्कृति अमीरों का, पेट भरों का, बेफिक्रों का व्यसन है, दरिद्रों के लिए प्राणरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस संस्कृति में था क्या जिसकी वह रक्षा करें। जब जनता मूर्छित थी तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था, ज्यों–ज्यों उसकी चेतना जाग्रत होती जाती है, वह देखने लगती है कि यह संस्कृति लुटेरों की संस्कृति थी, जो राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगतसेठ बनकर जनता को लूटती है। ऐसी सांस्कृतिक विरासत का विरोध करना दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है।"[2] दमन के खिलाफ विद्रोह और प्रतिरोध दर्ज कर दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं भारतीय संस्कृति की मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद पैदा करने वाली मानसिकता को भी हमारे सामने रखती हैं। दलितों द्वारा आत्मकथा लेखन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिंबित करने के साथ ही उस जीवन को पहचानने का एक साधन भी है।

आत्मकथा भोगे हुए जीवन के अनुभवों का दस्तावेजीकरण है। आत्मकथा में जीवन के वास्तविक अनुभव को दर्ज किया जाता है। संघर्ष करते हुए जीवन को बयां करती दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं इच्छाओं की नहीं बल्कि अनुभवों के साक्षात्कार की कथाएं हैं। कदम–कदम पर अपमान, भेदभाव, तिरस्कार और उपेक्षा के भाव को उजागर करती ये आत्मकथाएं पीड़ा और दंश के इतिहास को भी हमारे सामने खड़ा करती हैं। दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं यातनाओं की अनुगूंज भर नहीं हैं। दलितों द्वारा आत्मकथा लेखन का उद्देश्य अन्याय, अत्याचार, शोषण और दमन के विरुद्ध एक बेहतर समाज का निर्माण करना है। भोगे हुए यथार्थ को दर्ज कर ये आत्मकथाएं जिजीविषा और जीवंतता की कथाएं बनकर हमारे सामने आती हैं।

आत्मकथा लेखन के लिए दलितों को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है "दलित आत्मकथा लिखने के संकट दोहरे हैं। दलित कथाकार को पहले स्वयं अपने समाज/जाति/परिवार और रिश्तेदारों से भी जूझना पड़ता है। बाद में सवर्ण जाति के समीक्षकों/टीकाकारों से भी उलझना जरूरी हो जाता है जो शालीनता तथा अश्लीलता को विपरीत शब्दावलियों के बहाने ऐसे कथाकारों को कोसना कतई नहीं भूलते...।"[3] दलितों के साथ सवर्णों का जो व्यवहार रहा है उसका चित्रण सवर्णों को कठघरे में खड़ा कर उन्हें दोषी सिद्ध करता है। भूख, गरीबी और छुआछूत में डूबी जिंदगी समाज की वास्तविकता को हमारे सामने रखती है। दलितों के प्रति समाज की क्रूर अमानवीयता

को अश्लीलता कहना एक प्रकार से सच पर पर्दा डालने जैसा है। दलितों ने अपनी आत्मकथा में अपने भोगे हुए जीवन का वर्णन किया है। यदि वह जीवन किसी को नग्नता का चित्रण लगता है तो इसमें दोष उस दलित आत्मकथाकार का नहीं बल्कि समाज की उस व्यवस्था का है जिसने उसके जीवनगत अधिकार छीनकर पीड़ा और दंश के दर्द को झेलने के लिए उसे मजबूर किया। भूख मिटाने के लिए जमीन पर गिरे हुए गोश्त को फिर से धुलकर खाना या सवर्णों द्वारा छोड़े गए भोजन से अपनी भूख मिटाने जैसे प्रसंग यदि समाज को नग्नता के चित्र लगते हैं तो सबसे पहले उस चित्रण के पीछे छिपी नग्न सच्चाई को जानने की कोशिश की जानी चाहिए। यदि व्यवस्था द्वारा प्यास से पीड़ित दलित बच्चे को प्यास बुझाने के लिए गंदा पानी पीने के लिए विवश नहीं किया गया होता तो वह क्यों उस घटना का जिक्र करता? ऐसे अनेक प्रसंग है जहाँ दलित को अपने जीवन में अनेक बार अपमानित होना पड़ता है। अपनी ही माँ को सवर्ण पुरुष द्वारा वासना का शिकार बनाने के प्रसंग समाज द्वारा शालीन कहे जाने वाले वर्ग की विकृत मानसिकता को पूरी तरह से उघाड़कर सामने रख देते हैं।

जहाँ एक ओर दलित पुरुष आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में जातिगत भेदभाव, छुआछूत, शोषण आदि को प्रमुख समस्याओं के रूप में दर्ज किया है वहीं दूसरी ओर दलित स्त्री आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में जातिगत भेदभाव, छुआछूत, शोषण आदि समस्याओं के साथ पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्रीं के साथ होने वाले अन्याय और अत्याचार को प्रमुख रूप में दर्ज किया है। दलित स्त्री आत्मकथाकारों के माध्यम से हम यह जान पाते हैं कि यहाँ स्त्री का जीवन अनेक शिकंजों में कैद है। यहाँ दलित स्त्री का पति उसके साथ दलित की भांति नहीं बल्कि एक सवर्ण पुरुष की तरह व्यवहार करता है। स्त्री के मामले में दलित और सवर्ण का भेद मिट जाता है। यहाँ दलित और सवर्ण पुरुष दोनों ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था के शासक के रूप में सामने आते हैं। "दलित स्त्री को स्त्री होने का, दलित होने का और गरीब होने का तिहरा संताप एक साथ झेलना पड़ता है। गैर दलित पुरुषों के लिए वह उपभोग सामग्री है तो गैर दलित स्त्रियों के लिए तिरस्कार योग्य समुदाय। स्वयं दलित पुरुषों की निगाह उसे गैर बराबर मानती है।"[4] दलित स्त्री को सबसे पहला विरोध अपने ही समुदाय के पुरुषों का सहना पड़ता है। दलित महिलाएं एक ओर ब्राह्मणवाद तो दूसरी ओर पितृसत्ता द्वारा शोषित और उत्पीड़ित रहती हैं। दलित स्त्रियों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं स्त्री द्वारा अपनी अस्मिता के लिए किए गए संघर्षों के इतिहास के रुप में हमारे सामने आती हैं।

इस अध्याय में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, कौसल्या बैसंत्री, सूरजपाल चौहान, तुलसीराम, सुशीला टाकभौरे आदि दलित पुरुष और दलित स्त्री आत्मकथाकारों को शामिल किया गया है। क्या दलित पुरुष आत्मकथाकार स्त्री को उसी नजरिए से देखते हैं जिसमें उसे भोग्या और अबला माना जाता है? एक सवर्ण पुरुष और दलित पुरुष की सोच किन बिंदुओं पर आकर मिलती है और किन बिन्दुओं पर टकराती है? एक दलित स्त्री का जीवन गैर–दलित स्त्री के जीवन के समान है अथवा दोहरे शिकंजे में जकड़ा हुआ? समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रति दलित पुरुष आत्मकथाकारों का क्या दृष्टिकोण है? शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता के मामले में दलित स्त्री कितनी स्वतंत्र है या कितनी परतंत्र? इन सभी प्रश्नों के साथ इस अध्याय में, दलितों ने अस्मिता की लड़ाई में स्त्रियों को कितना शामिल किया है? इस पर भी विचार किया जाएगा।

(क) दलित स्त्री : शोषण के रूप

भारतीय समाज अपने परंपरागत स्वरुप में अपने भीतर अनेक अंतर्विरोधों को साथ लेकर विकसित हुआ है। विभिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं में दुनिया भर के सुधारवादी एवं प्रगतिशील आंदोलनों से प्रभावित होने के बावजूद पितृसत्तात्मक व्यवस्था एवं वर्णव्यवस्था ने भारत के सामाजिक ताने–बाने पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी है। स्त्री या पुरुष होना एक संयोग मात्र है ठीक वैसे ही जैसे किसी ब्राह्मण या दलित परिवार में जन्म लेना। ऐसे समाज में स्त्री के रूप में एक दलित परिवार में पैदा होना बहुत बड़ा अभिशाप बन जाता है। एंगेल्स ने जब स्त्री को दुनिया की पहली सर्वहारा बतलाया था तो आशय स्त्री शोषण का आदिम इतिहास उद्घाटित करना ही था। भारतीय संदर्भ में दलित होना शोषण का अलिखित भागीदार होने जैसा है। समझा जा सकता है कि दलित स्त्री का जीवन स्त्री एवं दलित होने के कारण लैंगिक व जातीय दोनों ही विडंबनाओं से जुड़ जाता है।

"प्रेमचंद ने कहा था, "हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता की मीनार से उतरकर उस बच्चों वाली काली रूपवती का चित्र खींचना होगा जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है।"[5] दलित आत्मकथाओं ने जहाँ एक ओर श्रम करती स्त्री का चित्र दिखाया है वहीं दूसरी ओर शोषण के विभिन्न स्तरों पर दबी हुई स्त्री के घुटन भरे जीवन को भी सामने रखा है। दलित स्त्री को अपने जीवन में अपमान और शोषण के अनेक दंशों को झेलना पड़ता है। दलित आत्मकथाएं अतीत की स्मृतियां भर नहीं हैं बल्कि समाज की अमानवीयता को समझने का स्रोत भी हैं।

समाज द्वारा दलित महिलाओं को जिस उपेक्षा व अपमान के साथ देखा जाता है। वह सभ्यता के नाम पर कलंक है। आज भी समाज के समृद्ध तबके द्वारा दलित महिलाओं को श्रम देने के बदले उनके शारीरिक शोषण का सिलसिला थमा नहीं है बल्कि अनवरत जारी है। आर्थिक रुप से पुरुष के समान धन अर्जित करने के बावजूद दलित स्त्री शोषण की शिकार है। वास्तविकता यह है कि दलित स्त्रियों का अपने श्रम के बदले आजीविका के साथ–साथ अपने जिस्म पर भी कोई अधिकार नहीं है। "सामंतवादी व्यवस्था में भूमिहीन मजदूर के रूप में जमींदार आज भी दलित महिलाओं से सस्ता श्रम खरीदते हैं और जब जी चाहे उनका भोग कर लेते हैं। यहाँ तक कि दलित पुरुषों की आवाज को दबाने के लिए वे उनकी महिलाओं पर अत्याचार भी करते हैं।"[6] दलित स्त्रियों के साथ बलात्कार जैसी घटनाएं उनके अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा कर देती हैं। कभी सवर्णों द्वारा बलात्कार तो कभी अपने ही दलित समुदाय द्वारा छेड़खानी या बलात्कार जैसी

घटनाएं दलित स्त्री के जीवन को और अधिक त्रासदीपूर्ण बना देती हैं। अनेक बार दलित स्त्री का उत्पीड़न उसके अपने ही पति द्वारा किया जाता है। कुछ मामलों में यह पति ही अपनी पत्नी को पैसों के लालच में प्रभुत्वशाली वर्ग को सौंप देता है। स्त्री के शारीरिक शोषण या स्त्री के बलात्कार जैसे मामलों में सवर्णों के लिए जाति का प्रश्न गौण हो जाता है। अपने पास से गुजरने वाली दलित स्त्री द्वारा मात्र शरीर का स्पर्श होने पर गंगा जल छिड़कने वाले सवर्ण पुरुष की नैतिकता तब आड़े क्यों नहीं आती जब वह दलित स्त्री को अपनी वासना का माध्यम बनाता है? अनेक बार दलित स्त्री को अपने बच्चों के पालन–पोषण के लिए शारीरिक शोषण का शिकार होना पड़ता है। शराबी पति द्वारा काम न करने पर घर चलाने की जिम्मेदारी के चलते दलित स्त्री को व्यवस्था के सामने घुटने टेक देने पड़ते हैं।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर का मानना था कि किसी समाज की प्रगति का मापदंड उस समाज की महिलाओं की प्रगति पर निर्भर करता है। समाज में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री पुरुष की सहयोगी के रुप में सामने आए। स्त्री की स्थिति में सुधार के बिना राष्ट्र का विकास असंभव है। दलित आत्मकथाओं को इस संदर्भ में देखना कि वह आत्मकथा स्त्री पर थोपी गई सामाजिक जड़ता को तोड़ते हुए स्त्री के शोषण के चक्रों को कितना उभारती है। आज के समय में दलित स्त्री की वास्तविक स्थिति जानने के लिए आत्मकथाओं का इस रूप में चित्रण बेहद आवश्यक है। दलित आत्मकथाएं दलित स्त्री के यातनामय जीवन को सामने रखते हुए संघर्ष के इतिहास को हमारे सामने खड़ा करती हैं। दलित आत्मकथाकारों ने आत्म की अवधारणा द्वारा शोषण का ऐसा विलक्षण चित्र प्रस्तुत किया है जो समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति पर सोचने के लिए विवश कर देता है।

दलित समाज में भी स्त्री पर अत्याचार, उसका शोषण और मारपीट पुरुषवर्ग का अधिकार माना जाता है। समाज द्वारा जाति के नाम पर शोषित होने वाला दलित पुरुष भी अपनी ही पत्नी को मारने में भी नहीं हिचकता। पति द्वारा शोषित स्त्री के प्रसंग को उठाते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में लिखते हैं "आंगन में एक डंडा पड़ा हुआ था, उसे उठाते हुए उन्होंने चाची की पीठ पर जड़ दिया। इस अचानक प्रहार से चाची दोहरी हो गई थी। उसके मुंह से भयानक चीख निकली थी।"[7] यह दलित समाज में स्त्री के जीवन का सच है कि उसका शोषण हर जगह किया जाता है, वह चाहे घर की चारदीवारी के अंदर हो या घर के बाहर। चाची का चिल्लाना कि 'मुझे बचा लो' न केवल एक स्त्री की असहाय अवस्था का बोध कराता है बल्कि पूरी व्यवस्था में पुरुषों द्वारा सदियों से की जा रही घरेलू हिंसा का एक उदाहरण बनकर सामने आता है।

पुरुष द्वारा स्त्रियों को प्रताड़ित करने के मामले में सवर्ण पुरुष व दलित पुरुष में कोई भेद नहीं है। दया पवार ने 'अछूत' में पति द्वारा स्त्री की प्रताड़ना के प्रसंग का जिक्र करते हुए लिखा है, "वेणु की शादी गाँव में खूब धूम धड़ाके से हुई थी। वेणु बहुत सुंदर थी। नक्षत्रों–सी। माँ–बाप से उजली थी। उसे जो घर मिला, वह धनवान। लड़के के पिताजी बम्बई में किसी कम्पनी में फोरमैन थे। लड़का देखने में बहुत ऊंचा–पूरा। घर में खेती–बाड़ी देखता। वेणु को पति द्वारा बहुत तकलीफ दिया जाना शुरू होता है। पति रात–रात उसे सोने न देता। उस पर संदेह भी करता। बाहर खेतों में जाता तो चाबी–ताले में बंद कर देता।"[8] दलित पुरुष यह भूल जाता है कि जिस तरह वह समाज में सवर्णों द्वारा किए गए अत्याचार को अपना शोषण मानता है उसी प्रकार स्त्री पर किए गए अपने अन्याय को वह शोषण के किस दायरे में रखेगा? दलित पुरुष यह समझने की कोशिश नहीं करता है कि जाति के नाम पर और स्त्री होने के नाते शोषित दलित स्त्री को भी समानता चाहिए। डॉ. अंबेडकर का कहना था कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा दूसरों से अपने प्रति चाहते हो। डॉ. अंबेडकर को अपना आदर्श मानने वाले दलित पुरुष स्त्री के मामले में सारे सिद्धांतों को भूल जाते हैं। वे स्त्री को अपने बराबर न मानकर अपने से हीन मानते हैं।

समाज द्वारा दलित को नाम से नहीं, जाति से जाना जाता है। बात–बात पर माँ–बहिन की गालियां उसके जीवन अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं। 'जूठन' में ऐसा ही एक प्रसंग है जब स्कूल के हेडमास्टर द्वारा ओमप्रकाश वाल्मीकि को कुछ इस प्रकार संबोधित किया जाता है, "अबे ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया... अपनी माँ...।"[9] गालियों के माध्यम से स्त्री के अस्तित्व पर प्रहार परंपरा का एक हिस्सा रहा है और आज भी है। स्त्रियों को अपमानित करने की परंपरा सदियों पुरानी है, कभी प्रत्यक्ष रुप में तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में। आपसी रंजिशों और आक्रोश के चलते स्त्री की देह हमेशा से पुरुष के निशाने पर रही है। माँ–बहन, बेटी की देह से जुड़ी अश्लील और गंदी गालियां देकर एक पुरुष दूसरे से बदला लेता है। गलती पुरुष करता है और अपमानित स्त्रियों को किया जाता है। दलित होने के नाते उपेक्षित ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपमानित करने के लिए मास्टर द्वारा ओमप्रकाश वाल्मीकि की माँ को अश्लील भाषा से संबोधित करना समाज की क्रूरता नहीं तो और क्या है? केवल दलितों में ही नहीं बल्कि सवर्णों में भी स्त्री को गालियों से अपमानित किया जाता रहा है। "अब यह सोचने का समय तो आ ही गया है कि गालियों की भाषा स्त्री की देह से क्यों जोड़ी गई? इसलिए ही न कि मर्द की निगाह में हर समय औरत की देह रहती है। देह में भी योनि ही उसके निशाने पर है। गालियों में वे एक दूसरे की माँ–बहन को ही अपने संभोग का विषय

बनाते रहते हैं और इस पर औरत लज्जित होती रहती है। यह मनुष्य धर्म का कौन सा पहलू है। क्या यह यौन हिंसा का क्रूर उदाहरण नहीं?"[10]

सवर्णों द्वारा जाति के नाम पर दलित स्त्री को अपमानित करने के प्रसंग को उठाते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा में एक ऐसी ही घटना का ब्यौरा दिया है जहाँ उनकी माँ को पीड़ा और शोषण का दंश झेलना पड़ता है, "सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरी टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, "टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है... ऊप्पर से जाकतों के लिए खाना माँग री है? अपनी औकात में रह चूहड़ी! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।"[11] स्त्री को नैतिकता और मर्यादा का पाठ पढ़ाने वाले सवर्ण पुरुष स्त्री को अपमानित करने में फख्र महसूस करते हैं। स्त्री के मामले में अमीर–गरीब का भेद मिट जाता है। यहाँ तक कि दलित भी मौका मिलने पर अपने पुरुष होने को परिभाषित कर देता है। आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा दलित के विषय में कही गई ये बातें स्त्री पर बिल्कुल सटीक बैठती हैं, "वक्त बदला है। लेकिन कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता है। कई विद्वानों से जानना चाहा कि सवर्णों के मन में दलितों, शूद्रों के लिए इतनी घृणा क्यों है? पेड़ पौधों, पशु–पक्षियों को पूजने वाला हिंदू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है। आज 'जाति' एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, 'जाति' मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। फुसफुसाहटें, दलित होने की पीड़ा चाकू की तरह नस–नस में उतर जाती है। गरीबी, अशिक्षा, छिन्न–भिन्न दारुण जिंदगी, दरवाजे के बाहर खड़े रहने की पीड़ा भला अभिजात्य गुणों से संपन्न सवर्ण हिंदू कैसे जान पाएंगे?"[12] सवाल उठता है कि अपने प्रति सहिष्णुता की माँग करने वाला दलित पुरुष स्त्री के प्रति सहिष्णु क्यों नहीं हो पाता?

पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री का अनेक स्तर पर शोषण होता है। गरीब–दलित और स्त्री के रूप में तिहरे शोषण को झेलने के लिए दलित स्त्रियां अभिशप्त हैं। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–1 एवं भाग–2 में दलित जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने के साथ ही स्त्री–जीवन के यथार्थ को भी प्रस्तुत किया है। मेरठ के कसाई समुदाय की स्त्रियों के शोषण को चित्रित करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं, "मेरठ के कसाईयों के बारे में यह मशहूर था कि जिस तरह से वे जानवरों को नंगा कर काटते–पीटते थे वैसे ही अपनी घरवालियों को भी नंगा कर मारते–पीटते थे। छुरे–चाकू से भले ही उनकी खाल न काट–पीट डालें, पर तेल लगी लाठियों से उनके नंगे बदन पर वार जरूर करते थे। जानवर और औरतों में इनके लिए कोई फर्क नहीं था। एक को काटते थे दूसरे

को पीटते थे।"[13] स्त्रियों का ऐसा वर्ग जहाँ उसके साथ पशु से भी बदतर व्यवहार किया जाता है। पुरुष के प्रति समर्पण की शर्त पर स्त्री को पत्नी के रुप में वैधता प्राप्त होती है। बदले में पुरुष को उस 'पत्नी' नामक स्त्री के मनचाहे प्रयोग का अधिकार दिया जाता है। सवाल यह उठता है कि यह कौन सी वैधता है जो स्त्रियों को जानवरों की तरह पीटने का प्रमाणपत्र देती है? कसाई समुदाय स्वयं में एक अल्पसंख्यक समुदाय है। समाज द्वारा उपेक्षित होने के दर्द को महसूस करने के बावजूद कसाई समुदाय के पुरुषों द्वारा अपनी पत्नियों को इस तरह पीटना मानवीयता की सारी हदें पार कर देता है।

'अपने–अपने पिंजरे', भाग–1 में मोहनदास नैमिशराय ने श्रम के बदले दलित स्त्रियों के शोषण को उजागर करते हुए लिखा है, "बस्ती से कुछ औरतें जंगल जाती थीं। वे वहाँ मेहनत–मजदूरी करती थीं। उनमें कुछ घास लातीं तो कुछ जलावन की सूखी लकड़ी। कुछ मक्का के खेत से भुट्टे, ककड़ी तोड़ने का काम करतीं और कुछ कोल्ड स्टोरेज में आलू, प्याज आदि की छंटाई करती थीं। वह नफरी कहलाई जाती थीं। पर उन्हें नफरी कोई न कहता था। वे जवान हो या बूढ़ी। उन सभी को चमारी कहकर ही संबोधन किया जाता था। ... उनमें से अधिकांश के साथ शोषण द्वारा जिस्म की भूख भी मिटने की अक्सर घटनाएं रहती थीं।"[14] बच्चों के पालन–पोषण के लिए जंगल जाने की मजबूरी के कारण दलित स्त्रियों का यौन शोषण सवर्णों की पुरुषवादी मानसिकता को सामने लाता है। सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों को काम के बदले उनके शारीरिक शोषण और हिंसा की घटनाएं अक्सर ही समाज में होती आयी हैं। हिंसा, उत्पीड़न, बलात्कार जैसी घटनाएं स्त्री के शोषण के साथ ही पुरुष वर्ग के क्रूर व्यवहार को भी सामने लाती हैं। वास्तविकता यह है कि आज भी हमारी आधी दुनिया अत्याचार और शारीरिक शोषण आदि से पीड़ित है। स्त्री के दैहिक शोषण को देखते हुए साहिर लुधियानवी की ये पंक्तियां समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति को काफी हद तक उजागर कर देती हैं –

> औरत ने जनम दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाजार दिया,
> जब भी चाहा मसला–कुचला जब भी चाहा दुत्कार दिया।'

'अपने–अपने पिंजरे', भाग–2 में स्त्रियों के शोषण और विडंबनापूर्ण स्थिति का चित्रण करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है, "शहर की अन्य दलित बस्तियों की तरह हमारी बस्ती से भी ढ़ेर सारी औरतें जंगल जाती थीं। उन्हें अकेला पा उनके शरीर को नोचने के लिए गिद्ध तैयार बैठे रहते थे उनमें से कुछ बच जाती थी तथा कुछ अपनी इज्जत गँवाए बिना भाग जाती थीं। मजबूरीवश या कैसे भी

जिसने एक बार अपना शरीर उन गिद्धों को दे दिया फिर लंबे समय तक उन्हीं महिलाओं को अपना शरीर नुचवाना, खिंचवाना पढ़ता था। बस्ती में ऐसी महिलाओं की खूब चर्चा होती थी। कभी–कभी पंचायतें भी बैठ जाती थीं। अकेली महिला को ही नहीं उसके घरवालों पर भी थू–थू होती थी। उनके मुंह में गू दिया जाता था। अस्मत लुटाई हुई महिला की ताक– झांक बस्ती के मर्द भी करते थे। स्साली बाहर वालों से तो नुचवा आई और अपनों से ... उसके दर्द को टटोलने का कोई प्रयास नहीं करता था। हाँ उसके अंगो की गोलाई और मोटाई गहराई सभी नापते थे। यही कारण था कि हमारी बस्ती में अपने–अपने फलान उठाए तथाकथित नवाब/जमींदार/काश्तकार ऐसी औरतों के घर आ धमकते और सरेआम अपना रुआब गाँठते। उनके संबोधन भी बड़े अजीबोगरीब होते। अरी ओ चमारी...।"[15] कहना न होगा कि मोहनदास नैमिशराय का लेखन दलित समाज में स्त्री–जीवन के तमाम संघर्षों का चिट्ठा खोलता है।

कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित जीवन का बेबाक चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में दलित स्त्री को दोहरा शोषण और अन्याय सहना पड़ता है। एक ओर स्त्री होने का संताप और दूसरी ओर दलित होने की पीड़ा। दलित स्त्री के रूप में जातिभेद, छुआछूत के साथ ही यौन शोषण की यंत्रणा को भी उसे सहना पड़ता है। दलित स्त्री को एक ओर सवर्णों के द्वारा और दूसरी ओर अपने ही समाज के दलित पुरुषों द्वारा शोषित किया जाता है। हिंसा, अपमान, अन्याय और अत्याचार उसके जीवन के अभिन्न अंग हो जाते हैं। आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "मैं लेखिका नहीं हूं, न साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएं सहन करनी पड़ीं इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं।"[16] आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री ने दलित जीवन के साथ ही सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों पर किए जाने वाले अपमान और जातिगत भेदभाव को भी सामने रखा है। आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "अस्पृश्यता का पालन बहुत कट्टरता से होता था इसलिए सवर्णों के घरों में इनको काम नहीं मिलता था। सिर्फ लकड़ियां काटना या कुछ भारी समान ढोने का काम ही इन्हें मिलता। अक्सर बड़े कष्ट के काम ही इनके हिस्से में आते थे।"[17]

दलित होने के कारण कौसल्या बैसंत्री ने अपने जीवन में जिस अपमान को झेला, उसे आत्मकथा में बखूबी दिखाया है। ऐसा ही एक प्रसंग सामने आया है जब कौसल्या बैसंत्री को स्कूल में छुआछूत का सामना करना पड़ता है। बालउम्र में दलित होने की हीनताग्रंथि को उद्घाटित करते हुए कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है,

"मैंने स्कूल के किसी कार्यक्रम जैसे खेलकूद, नाटक वगैरह में कभी भाग नहीं लिया। मुझमें हीनता की भावना भरी थी। मैं खो–खो, कबड्डी वगैर अच्छा खेल सकती थी। परंतु मैं आगे बढ़ने से ही डरती थी। मैं अस्पृश्य हूं, यह भावना मेरे मन से जाती ही नहीं थी। मुझे स्कूल में रखे पानी के घड़े से पानी निकालकर पीने में भी डर लगता था।"[18] स्कूल को शिक्षा का ऐसा संस्थान माना जाता है जहाँ बच्चों के मानसिक विकास के साथ ही उनके बेहतर भविष्य का आधार खड़ा किया जाता है। शिक्षा के संस्थानों में छुआछूत जैसी घटनाएं बच्चे के मानसिक विकास के बजाए असमानता के स्तरों को और अधिक बढ़ावा देती हैं। जिस समाज में भेदभाव के इतने नियम–कानून हों वहाँ एक बेहतर भविष्य के साथ बेहतर राष्ट्र की परिकल्पना कैसे की जा सकती है?

प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा दलित स्त्रियों के यौन शोषण की घटनाएं अक्सर ही समाज में होती आई हैं। कौसल्या बैसंत्री ने गरीब और दलित स्त्री के शोषण के प्रसंग को उजागर करते हुए लिखा है, "उनके घर में धीवर जाति की लड़की काम करती थी बर्तन माँजने, झाड़ू लगाने का। उसी को उसने अपनी बीवी बनाकर रखा था। वह अमीर था। कई मकान और होटल भी थे। इससे उसे काफी पैसा आता था। इस धीवर महिला को हर साल बच्चा होता था। उसे दस बच्चे हो गए थे।"[19] यह मेयर शादीशुदा होने के बावजूद इस धीवर जाति की लड़की के साथ अनेकों बार शारीरिक संबंध तो स्थापित करता है लेकिन अपने साथ बाहर ले जाने से परहेज करता है। वह उसे संरक्षण तो देता है लेकिन प्रतिष्ठा नहीं। पुरुषों द्वारा स्त्री को 'रखैल' के रूप में रखने की परंपरा पहले भी थी और आज भी है। आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "दूसरी औरत को वह पूरा खर्चा देता था। परंतु वह न कभी उसके साथ बैठता–उठता था, न बातें करता और न उसे किसी कार्यक्रम में बाहर ले जाता था। मतलब उसे कोई प्रतिष्ठा नहीं देता था। हाँ, खर्चा अच्छा देता था। वह औरत खिड़की में खड़ी रास्ते की रौनक को ही देख पाती थी। सोने के पिंजरे में बंद मैना की तरह जिसे खाने–पीने को खूब मिलता है किंतु मुक्त वातावरण नहीं।"[20] सवाल यह उठता है कि स्त्री के साथ संसर्ग करने में जाति आड़े नहीं आती? वास्तविकता यह है कि सवर्णों ने अपनी सुविधानुसार जातिगत भेदभाव को तय किया है। अपनी जरूरत के हिसाब से सवर्ण पुरुष तय करता है कि किन मामलों में वह छुआछूत बरते और किनमें नहीं। स्त्री के साथ शारीरिक संबंधों के मामले में वह छुआछूत को नहीं मानता क्योंकि वहाँ स्त्री की देह उसके निशाने पर होती है। यह दलित स्त्री का तिहरा उत्पीड़न है जहाँ उसे शारीरिक, मानसिक और जातिगत रूप से सवर्णों के अत्याचार को सहना पड़ता है।

कौसल्या बैसंत्री ने जातिगत भेदभाव को अपने जीवन के हर मोड़ पर झेला है। अध्यापक, जिन्हें बच्चों के भविष्य निर्माण का जिम्मा सौंपा जाता है, यदि वह उन बच्चों के प्रति छुआछूत को तवज्जो दें तो समाज के अन्य वर्ग से जातिगत भेदभाव न करने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? स्कूल के सहपाठी ही नहीं बल्कि शिक्षक भी दलित बच्चों से भेदभाव बरतते हैं। आत्मकथा में ऐसा ही एक प्रसंग आया है जब स्कूल की शिक्षिका कौसल्या से दलित होने के नाते वे सब काम करवाती हैं जो एक छात्रा के दायरे से परे कौसल्या को दास बनाने की प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हैं। आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "जब मैं प्राइमरी में चौथी कक्षा में थी, तब शिक्षिका मुझसे बहुत काम करवाती थीं। कभी होटल से चाय मँगवाने भेजतीं, कभी कुछ सामान लाने भेजतीं। दूसरी लड़कियों को नहीं भेजती थीं। जाँचने की कॉपियों का बड़ा बंडल मेरे हाथ में पकड़ा कर अपने घर पहुँचाने को कहतीं। मेरा अपना बस्ता और जांचने की कॉपियों का बंडल लेकर आने से मेरे हाथ दुखने लगते थे।"[21] शिक्षा और बेहतर समझ विकसित करने के लिए स्थापित संस्थान ही यदि समानता को नजरअंदाज कर भेदभाव की लकीरें खींचने लगें तो यह अपने आप में बेहद शर्मनाक है। पिकनिक के समय कौसल्या द्वारा लाए गए जवस (तीसी) के तेल को शिक्षिका अलग कर देती हैं। शिक्षिका द्वारा किया गया जातिगत भेदभाव कौसल्या के अंदर हीनता ग्रंथि पैदा करता है जिसके कारण वह कई बार असहज और अपमानित महसूस करती हैं।

दलित आत्मकथाओं में जब भी स्त्री के शोषण की बात आती है तो वहाँ किसी सवर्ण द्वारा दलित स्त्री के शारीरिक शोषण का प्रसंग अवश्य होता है। सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा 'संतप्त' में ऐसे ही एक प्रकरण में अपनी माँ के शारीरिक शोषण का उल्लेख किया है, "ठाकुर जय सिंह अपने दोनों हाथों से माँ को दबोचे हुए था। माँ भेड़िए के पंजों में फँसी हाथ–पांव पटक रही थी। माँ की हालत देखकर मैं दहल गया था। माँ का आँचल ठाकुर ने खींचकर दूर फेंक दिया था। वह अपनी पकड़ और मजबूत करते हुए माँ के मुंह से अपना मुँह अड़ाने की कोशिश कर रहा था।"[22] इतना ही नहीं कई बार यह शोषण बाकायदा संगठित रूप में भी होता था जिसमें सवर्णों की ठाकुर जाति की भूमिका अग्रणी रहती। अक्सर इन अवसरों पर सवर्ण स्त्रियां भी दलित स्त्रियों पर ही लांछन लगातीं और पूरा दोष उन्हीं के माथे मढ़ दिया जाता। अपनी माँ के प्रसंग में ही सूरजपाल चौहान आगे लिखते हैं, "इस दौरान ठाकुर मोहल्ले के दूसरे लोग वहाँ इकट्ठे हो गए थे। जयसिंह की घरवाली और उसके घर के लोगों के साथ–साथ ठाकुर प्रताप व ठाकुर बन्नीसिंह भी वहाँ आ जुटे। माँ ने सभी के सामने जयसिंह की बेहूदा बातों का जिक्र किया तो उनमें से कोई उसकी बातों पर विश्वास करने को तैयार न था। उल्टा

ठाकुर प्रताप ने माँ के बाल झिंझोड़ते हुए कहा – "साली भंगनिया, झूठा आरोप लगाते लाज नहीं आती, ठाकुर होकर कोई भला भंगिन से मुँह काला करेगा... तुझे तो छूने भर से ही छूत लग जाएगी, खैर चाहती है तो चली जा यहाँ से।" "ससुरी जे भंगन होती ही ऐसी हैं, एक–एक रोटी के लिए न जाने क्या–क्या कराती फिरती हैं।" ठाकुर बन्नीसिंह ने भी माँ की ओर भृकुटि तानते हुए कहा था। जमीन पर गिरे और दर्द से तड़पते जयसिंह को सहारा देते हुए अब उसकी घरवाली मेरी माँ को घूरते और मुंह बिचकाते हुए बोली – "अरे मेरी सौत चूहड़ी, तू ही पूरे ग्राम में एक हूर की परी है जो मेरो आदमी तरे संग...।"[23] एक स्त्री ही जब दूसरी स्त्री के दर्द को साझा करने से इनकार कर देती है तो समाज किस तरफ बढ़ता है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। सब कुछ स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति स्त्रियों की सबसे बड़ी आत्मघाती प्रवृत्ति होती है। पति चाहे जैसा भी हो, पतिव्रता बने रहना सवर्ण स्त्रियों की सबसे बड़ी विड़ंबना है लेकिन उन्हें यह नहीं पता होता है कि जिसके लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहती हैं, वह पुरुष उन्हें कभी भी दूसरे पुरुष के साथ देख भी ले तो अनर्थ कर सकता है। वह किसी भी तरह की हिंसा का शिकार हो सकती है।

दलितों के प्रति समाज की मानसिकता को दिखाते हुए सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा तिरस्कृत में लिखा है, "पत्तल पर खाओ और उठाकर भंगिन के समीप जाकर फेंक दो..., वह अपने आप खत्ते (घूरे) पर फेंक आएगी और फिर गाँव की भंगिन भी तो आस लगाए बैठी रहती है..., कम–से–कम इसी बहाने उसे जूठन नसीब हो जाती है।"[24] यह है सवर्णों की मानसिकता जो दलित को मनुष्य की श्रेणी से बाहर रखने में विश्वास करती है। गरीबी के कारण दलितों में स्त्री को घर के काम के साथ ही बाहर भी काम करना पड़ता है। बच्चों को पालने के लिए और भूख मिटाने के लिए 'जूठन' खाने की मजबूरी का प्रसंग एक स्त्री की पीड़ा और संघर्ष से भरे जीवन को हमारे सामने रखता है। इस समाज में कितनी विषमता है जहाँ एक स्त्री का जीवन पग–पग पर अपमान और तिरस्कार से भरा होता है।

तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में स्त्री शोषण का वर्णन बड़े ही मार्मिक और ठेठ ग्रामीण परिवेश के अनुरूप किया है। गाँव में अक्सर जिसे हम लोक जीवन का श्रृंगार कहा करते हैं, वह किसी न किसी स्तर पर स्त्री जीवन के संघर्ष और उसकी पीड़ा का चित्रण ही होता है। एक बेहद प्रचलित उदाहरण – धोबी–धोबिनों द्वारा उच्चारित किए जाने वाला नारा 'सिउ राम सिउ' तथा उनके द्वारा ही किए जाने वाला एक लोकनृत्य 'धोबियउवा नाच' है जिसे तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा में उद्धृत किया है। 'मुर्दहिया' में तुलसीराम लिखते हैं, "काम करते हुए धोबी पुरुष तथा महिला दोनों ही एक नारे का संगायन करते रहते। वह नारा

था 'सिउ राम सिउ'। यानी 'सिया राम' का बिगड़ा हुआ रूप। जब भर्थेया में कई धोबी तथा धोबिनें पाटा पीटते हुए एक साथ 'सिउ राम सिउ' गाते तो पास से गुजरने वाले राही अचानक वहाँ थोड़ी देर तक रुककर इस अनोखे स्वर को अवश्य सुनते। इन धोबियों का वार्तालाप शैली का एक लोकगीत अत्यंत लोकप्रिय था, जिसे धोबी पुरुष बैलों के गले में पहनाई जाने वाली बड़ी–बड़ी घंटियों का घुंघरू बनाकर कमर में बांधकर एक अनोखी नृत्य शैली में नाच–नाचकर गाते थे। साथ में घंटा तथा लोहे के करताल नामक वाद्य भी खूब जोर से बजते रहते थे। यह नृत्य तथा लोकगीत बेहद आकर्षक होते थे। आम भाषा में 'धोबियउवा नाच' कही जाने वाली यह दुनिया की एकमात्र ऐसी नृत्य शैली है जिसमें घंटियों वाला घुंघरू पैर के बदले कमर में बांधा जाता है। इस नाच के साथ वार्तालाप के रूप में गाए जाने वाले लोकगीत का संदर्भ यह है कि गाँव में एक कहावत के अनुसार 'धोबी की बिटिया के न नइहरे सुख न ससुरे।' अर्थात धोबी की बेटी को मायके तथा ससुराल दोनों जगह कपड़े धोने पड़ते हैं।"[25] तुलसीराम ने धोबी–धोबिन के माध्यम से दलित स्त्रियों की दोहरी दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया है। आत्मकथा में तुलसीराम ने समाज के निचले तबके के जीवन और उनकी संस्कृति का सजीव और जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है।

तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में नट परिवार की दयनीय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। एक ओर गरीबी और दूसरी ओर पेट की भूख मिटाने की लालसा, जिसके चलते नट परिवार की स्त्रियों को अपना शरीर बार–बार बेचना पड़ता है। आत्मकथा में तुलसीराम ने लिखा है कि नट परिवार विवाह के समय ढ़ोल बजाकर अपने परिवार का पालन–पोषण करता था। अकाल के समय विवाहों के बंद हो जाने से अन्य साधन न मिलने पर परिवार की स्त्रियों द्वारा अपने ही शरीर को जीविका का माध्यम बनाने की विवशता का प्रसंग कुछ इस प्रकार है, "सोफी की बहू तथा दोनों बेटियां सौंदर्य के मामले में अपरम्पार संपन्न थीं, किंतु भूख उन्हें भी लगती थी, पर उसे मिटाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं होता था। धीरे–धीरे मजबूरी में उनका सौंदर्य काम आने लगा। गाँव के कुछ अभद्र ब्राह्मण युवक संध्या के समय मुर्दहिया के उस मुहाने पर लगता था कि स्वयं भूतों की चौकीदारी करने लगे। उन नटनियों का सौंदर्य मुर्दहिया की उन्हीं कंटीली झाड़ियों के पीछे प्रायः गुम होता रहा।"[26] भूख और गरीबी का जाति से हमेशा से अटूट संबंध रहा है। स्वयं लेखक ने इस भूख और गरीबी की मार सही है इसलिए इन नट स्त्रियों का इतना सहज चित्रण लेखक द्वारा संभव हो सका। भूख, गरीबी के चलते समाज के निचले तबके की स्त्रियों को अक्सर ही सवर्णों और धनी वर्ग द्वारा अपने शरीर के शोषण के दरवाजे खोलने पड़े हैं।

आज भी हमारे समाज में बंधुआ मजदूर, देवदासी या किसी प्रभुत्वशाली सुविधा संपन्न पुरुष की रखैल के रूप में लाखों दलित महिलाएं पीड़ा भोगने के लिए विवश हैं। 'मुर्दहिया' में 'पण सुंदरी' का जिक्र करते हुए तुलसीराम ने लिखा है कि दिन में मैला ढोने वाली दलित महिलाएं रात में वेश्यावृत्ति करने को मजबूर थीं। आज भी अनेक जगहों पर मैला ढोने की प्रथा विद्यमान है। मैला ढोने की प्रथा समाज द्वारा न केवल दलितों को उपेक्षा और घृणा का पात्र बनाती है बल्कि अमानवीयता को और अधिक बढ़ावा देती है। आत्मकथा में इस प्रथा का जिक्र करते हुए तुलसीराम ने लिखा है, "मैलों से भरे इन घड़ों को दो महिला सफाईकर्मी सुबह–शाम उठाकर लाल डिग्गी बांध के उस पार फेंक आती थीं। ऐसे शौचालय आजमगढ़ के अनेक हिस्सों में बने हुए थे, जहाँ महिलाएं काम करती थीं।"[27] धनाभाव और गरीबी के चलते ये महिलाएं अपने शरीर को बेचने के लिए विवश थीं। महिलाओं के इस वर्ग की पीड़ा और संघर्ष को पूरी संवेदना के साथ समझते हुए तुलसीराम ने आत्मकथा में लिखा है, "कालीनगंज मोहल्ला इसलिए बदनाम था, क्योंकि वहाँ धन के बदले औरतें अपनी रातें बेचा करती थी। ऐसी औरतों को अपने 'अर्थशास्त्र' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ में कौटिल्य ने 'पण सुंदरी' कहा है। पण 'मुद्रा' को कहते थे। शायद कोई न कोई मजबूरी अवश्य रही होगी, अन्यथा मैला ढोने वाली ये दोनों महिलाएं पण सुंदरियां नहीं बनतीं। शाम होते ही शृंगार में डूबी ये महिलाएं पान चबाती मशीनों में बदल जाती थीं...।[28] स्त्री द्वारा अपने शरीर को मशीनों में बदलने का संकेत जहाँ एक ओर स्त्री की पीड़ा, विवशता और घुटन को दर्शाता है वहीं दूसरी ओर पुरुषवर्ग द्वारा स्त्री को भोग्या और अबला मानी जाने वाली प्रवृति की ओर भी इशारा करता है।

'मणिकर्णिका' में तुलसीराम अपने जीवन के अनुभव को सामने रखते हुए बताते हैं कि किस प्रकार शेरपुर गाँव जाने पर चमार बस्ती के लोग लेखक को जमींदार समझ कर भागने लगते हैं। जमीदारों ने चमार बस्ती के लोगों पर इतना अत्याचार किया है कि उनके मन में एक डर का साया हमेशा छाया रहता है। उस बस्ती में चमार परिवारों की स्त्रियों की अस्मत लूटने की घटनाएं भी आए दिन होती रहती हैं। आत्मकथा में तुलसीराम ने लिखा है, "रजउती के खंडहर के पास जब मैं दूसरे खंडहर की ओर बढ़ा, तो जलकर बिल्कुल काले कोयले के चूरन की तरह अनाजों के एक ढेर के पास सिर पर हाथों को साटे बैठे बनवारी नामक दलित ने मुझे नमस्ते किया तथा बिना मेरे द्वारा कुछ पूछे ही वह कहने लगा कि गाँव के भूमिहार हमारी बहू–बेटियों की आए दिन इज्जत लूटते रहते हैं किंतु हम जानकर भी कुछ नहीं कर पाते",[29] चमार बस्ती के लोगों द्वारा अपनी ही बहू बेटियों के शरीर को लुटते देखने की विवशता और इसके विरोधस्वरूप कुछ न कर पाने का संताप

उनके मन में एक अपराध बोध का भाव पैदा कर देता है। पुरुषों द्वारा स्त्रियों को सरे बाजार जलील करने का या उनका बलात्कार करने और जबरन शारीरिक संबंध बनाने की परंपरा आज भी है। सवर्ण पुरुष दलित स्त्रियों का इस्तेमाल ऐसे हथियार के रूप में करते हैं जिससे वह दलित पुरुषों को जबरन काम कराने या बंधुआ मजदूर बनाने के लिए बाध्य करते हैं। आत्मकथा में तुलसीराम ने एक ऐसे प्रसंग का वर्णन किया है जब एक दलित युवक काम से इंकार करता है तो उसे जमींदार द्वारा उसकी बहन के यौन शोषण की धमकी मिलती है, "राधेश्याम नामक युवक को लल्लनराय ने 26 अप्रैल, 1975 की शाम को भूसा ढ़ोने के लिए बुलाया। उसके साथ उसकी वयस्क बहन दुलरिया भी थी। रात को भूसा ढ़ोने से इनकार किए जाने पर दुलरिया के साथ लैंगिक रिश्ते कायम करने की धमकी मिली।"[30] सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों के साथ जबरन शारीरिक संबंध बनाने के पीछे दलित जाति के स्वाभिमान को तोड़ने की मानसिकता भी निहित होती है। सवर्णों का यह उद्देश्य होता है कि दलित हमेशा दबे–कुचले रहें और उनके द्वारा कही हर बात मानते रहें।

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' वर्णव्यवस्था का दंश झेलती ऐसी स्त्री के जीवन को सामने रखती है जो कभी जाति के नाम पर कभी सवर्णों द्वारा तो कभी स्त्री होने के नाते अपने ही दलित समुदाय द्वारा शोषित, उत्पीड़ित और अपमानित की जाती है। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "दलित होने के साथ स्त्री होने की पीड़ा भी मैंने भोगी है। एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरुषसत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है। जैसे स्त्री धरती है, वह सहन करती है फिर भी धीरज रखती है और अपनी धुरी पर घूमती रहती है। लेकिन कब तक? आदर्शों के नाम पर स्त्री का शोषण किया जाता है। अपने घर परिवार के शोषण, अत्याचार की बात बताने वाली स्त्री को समाज अच्छा नहीं कहता। अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों को भी समाज अच्छा नहीं मानता। समाज की मान्यता रही है – 'स्त्री देवी है या कुलच्छनी।' उसे जीवित इंसान कभी माना ही नहीं गया। जैसे वह हाड़, माँस की मानव नहीं, आदर्शों की पुतली है जो आदर्शों के लिए जीती है और आदर्शों के लिए मर जाती है।"[31] सुशीला टाकभौरे का जीवन दुहरे–तिहरे संताप से ग्रस्त रहा। अन्याय, हिंसा अपमान, तिरस्कार, जातिभेद के कारण उनका जीवन शोषण से भरा रहा।

सुशीला टाकभौरे ने बचपन से ही जातिगत भेदभाव की पीड़ा को झेला है। स्कूल में बच्चों के साथ ही अध्यापकों और यहाँ तक कि चपरासी द्वारा किए गए छुआछूत के कारण सुशीला के मन में स्वयं को औरों से कमतर और हीन मानने का

भाव हमेशा बैठा रहा। स्कूल में औरों से कटकर हमेशा पीछे रहने का भाव कई बार प्रतिभाओं के दमन का कारण भी बनता है। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "कक्षा में ब्राह्मण, बनियों के बच्चों को सबके आगे बैठाया जाता था। पिछड़ी जाति के बच्चों को पीछे बैठाया जाता। अछूत बच्चे सबसे पीछे अलग बैठते थे। कक्षा में यह श्रेणी वर्गीकरण जैसा था, इससे हमें अपने वर्ग और जाति का आभास हमेशा रहता था। मैं कक्षा में सबसे पीछे बैठती थी। स्कूल के सभी शिक्षक और सभी बच्चे मेरी जाति के विषय में जानते थे। सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी। मैं नहाकर, साफ–सुथरे कपड़े पहनकर स्कूल जाती फिर भी स्कूल के बच्चों, अध्यापकों और चपरासी के लिए अछूत ही थी। मुझे छू जाने पर वे नहाकर शुद्ध होते हैं, यह बात मैं जानती थी। वे मुझसे दूर रहें, इसकी अपेक्षा मैं स्वयं उनसे दूर रहती थी ताकि मेरे कारण किसी को तकलीफ या परेशानी न हो। बचपन से सिखायी गई बातों से यह आदत बन गई थी। सबसे अलग रहना, सबसे पीछे रहना ताकि कोई मेरा अपमान न करे, मुझे बुरा न कहे, मुझे सजा न दे।"[32] जिस स्थान पर प्रतिभा को तवज्जो दी जानी चाहिए वहाँ जाति के आधार पर वरीयता देना एक प्रकार से जातिगत भेदभाव का समर्थन करने जैसा है। सवाल यह उठता है कि शिक्षा के संस्थान ही यदि छुआछूत आदि को बढ़ावा देते हैं तो फिर हमें अस्पृश्यता जैसे भेदभाव के उन्मूलन की उम्मीद किन संस्थानों से करनी चाहिए? आज भी शिक्षा के उच्चतर संस्थानों में सवर्णों के द्वारा कई बार न केवल दलित बच्चों को पीटा जाता है बल्कि उन्हें सरेआम अपमानित होने के लिए भी मजबूर किया जाता है।

आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने शिक्षिका द्वारा जाति के नाम पर अपमानित होने के प्रसंग के विषय में लिखा है "एक दिन प्रैक्टिस के समय मैं भी उस ग्रुप के साथ डांस करने लगी। यह देखकर शांति बहनजी ने गुस्से के साथ डाँटते हुए मुझे उन लड़कियों के बीच से निकाल दिया, "सुशीला, तुम यहाँ कैसे आ गई? तुम इनके साथ डांस नहीं करोगी।" तब मुझे बहुत अपमान महसूस हुआ था, मैं बहुत रोई थी। क्या गुनाह था मेरा? यही कि मैं अछूत जाति में पैदा हुई, इसलिए!"[33] केवल यही नहीं बल्कि सवर्ण बच्चों को दलित बच्चों से दूर रखने का जिम्मा भी शिक्षकों के पास था। यह प्रसंग शिक्षा संस्थानों के साथ ही शिक्षकों पर भी एक बड़ा सवाल खड़ा करता है।

स्त्री के पुरुषवादी मानसिकता को व्यक्त करते हुए सुशीला टाकभौरे ने आत्मकथा में लिखा है कि औरतों को मारना पुरुष अपनी मर्दानगी समझते थे। एक दलित पुरुष भी स्त्रियों के साथ वही पुरुषवादी रवैया अपनाता है जो एक सवर्ण अपनाता है। समाज में सवर्णों द्वारा दलित स्त्री के प्रति हेय दृष्टि को उजागर करते

हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "समाज में स्त्री के प्रति पुरुषों की मानसिकता अधिकतर कामुक रही है। गरीब की बेटी की इज्जत को लोग सस्ती मानते हैं। गरीब–अछूत की बेटी की इज्जत सरेआम कभी भी लूटी जा सकती है।"[34] सवर्णों द्वारा अछूतों को मनुष्यता की श्रेणी से दूर रखा गया है। जब समाज की मानसिकता दलित स्त्री को मनुष्य न मानकर वस्तु मानने की हो तो ऐसी घटनाएं घटना स्वाभाविक ही है।

सुशीला टाकभौरे ने अपने जीवन में जातिभेद के अन्याय और शोषण को अनेक बार झेला है। यही कारण है कि दलित स्त्री की पीड़ा को वह बखूबी समझती हैं। आत्मकथा में दलित स्त्री के दोहरे शोषण के विषय में सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "मनुस्मृति धर्मग्रंथ में स्त्रियों और शूद्रों को हमेशा नियंत्रण और शासन में रखने का नियम बताया गया है। दलित पुरुष ब्राह्मणशाही की दासता से मुक्ति के लिए आंदोलन कर रहे हैं, समता, स्वतंत्रता और सम्मान का अधिकार पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। मगर दलित स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए दोहरा संघर्ष करती हैं – मनुवादी पुरुष सत्ता से और मनुवादी जाति व्यवस्था से।"[35] वास्तविकता यह है कि दलित स्त्री चाहे जितना पढ़– लिख जाए लेकिन समाज द्वारा उसे अपेक्षित और अपमानित होना ही है। पहले की पीढ़ी अशिक्षित थी और मैला ढ़ोने जैसे कामों को करती थी। आज दलित स्त्री शिक्षित और आत्मनिर्भर हो गई है लेकिन इससे उसका शोषण रुका नहीं है। समाज के कई स्तरों पर उसे तिरस्कृत होना पड़ता है। घर से लेकर बाहर तक उसे स्त्री और दलित होने के दंश को झेलना पड़ता है। दलित स्त्री के प्रति अमानवीय व्यवहार को देखते हुए सुशीला टाकभौरे समाज से सवाल करती हैं, "तब मुझमें और नानी में क्या फर्क है? वह अशिक्षित सफाई कर्मचारी की पीड़ा भोगती थी, मैं शिक्षित होकर भी, उच्च पद पर आसीन होकर भी उसी पीड़ा को भोग रही हूं। वह अपनी पीड़ा को सहज मानती थी, मैं अपनी पीड़ा से छटपटाती हूं, तड़पती हूं, खुद से अनेक प्रश्न करती हूं और इस समाज व्यवस्था के कर्णधारों से पूछना चाहती हूं – ऐसा क्यों है? ऐसा कब तक रहेगा? हमारी और कितनी पीढ़ियां इस सन्ताप को भोगती रहेगी? कब मिलेगा इस संताप से छुटकारा...।"[36] यह समाज और व्यवस्था से एक बड़ा सवाल है कि आखिर दलित स्त्री को उसके अपने जीवन पर अधिकार कब तक हासिल होगा। जाति और स्त्री से परे उसे मनुष्य रूप में कब समझा जाएगा? व्यवस्था के तमाम शोषणों से वह कब तक मुक्त होगी?

दलित आत्मकथाओं ने जहाँ एक ओर समाज में व्याप्त ऊँच–नीच, घृणा, हिंसा को उद्घाटित किया है वहीं दूसरी ओर दलित स्त्रियों की दोहरी पीड़ा को

भी अभिव्यक्ति दी है। वर्णव्यवस्था और पितृसत्ता के द्वारा सबसे ज्यादा दलित स्त्रियों को ही छला गया। एक ओर जातिगत पीड़ा और दूसरी ओर घर–परिवार के भीतर होने वाली हिंसा, उत्पीड़न ने दलित स्त्रियों के जीवन को दोहरे शिकंजे में कैद कर दिया। स्त्री होने के साथ दलित होना अपने आप में संघर्ष और पीड़ा का दोहरा अहसास कराता है। अपनी अस्मिता के लिए दलित स्त्री कई स्तरों पर संघर्ष करती है। हिंदू वर्ण व्यवस्था और पितृसत्तात्मक समाज में दलित स्त्री की भूमिका केवल शासित के रुप में होती है जिसका शासनकर्ता पुरुष होता है।

दलित आत्मकथाएं दलित स्त्री के जीवन की प्रामाणिक दस्तावेज हैं। ये आत्मकथाएं शताब्दियों से चली आ रही परंपराओं का पर्दाफाश करती हैं। यहाँ शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीने वाले दलित से लेकर सिर पर पत्थर ढ़ोने वाली मजदूर महिला के चित्र मिलते हैं। आत्मकथाओं में व्यक्त अनुभव और घटनाएं मूल्यों और मान्यताओं के कई भ्रम तोड़ती हैं। यहाँ पीड़ा और विवशता से भरे स्त्रियों के ऐसे चित्र मिलते हैं जो सोचने पर मजबूर कर देते हैं। एक माँ का अपने बच्चे को रोता–बिलखता छोड़ श्रम करने की विवशता स्त्री को कहीं देह की दहलीज पर खड़ी कर देती है तो कहीं स्त्री उस दैहिक शोषण को अपने अर्थोपार्जन का माध्यम मान बैठती है। देवदासी जैसी प्रथाएं दलित स्त्री को अर्पण और समर्पण की सीख देती रही हैं। धार्मिक आधार पर होने वाली इस प्रथा ने लाखों की संख्या में दलित लड़कियों को वेश्या बनने पर मजबूर किया। बीसवीं सदी तक अपने अस्तित्व में रही इस प्रथा ने पवित्र कर्तव्यों के नाम पर दलित स्त्रियों को अपनी गिरफ्त में रखा। मंदिर के नाम पर अर्पित की गई 'देवदासी' (दलित लड़की) के साथ समाज के लोगों द्वारा स्थापित किए गए यौन संबंध व्यवस्था के सामने कई सवाल खड़ा करते हैं। समाज में व्याप्त असमानता, भेदभाव जैसे मुद्दों को उठाते हुए दलितों द्वारा लिखी गई ये आत्मकथाएं दलित स्त्री के त्रासदीपूर्ण जीवन की वास्तविक रूप में अभिव्यक्ति करती हैं। आज भी दलित स्त्री का जीवन शोषण के न जाने कितने दंशों में कैद है। सुशीला टाकभौरे की यह कविता दलित स्त्री की स्थिति और उसकी आकांक्षा को काफी हद तक बयां कर देती है –

पंख मेरे फड़फड़ाते हैं/तोड़ने/प्रत्यक्ष पिंजर/शृंखलाएं/तिनका/सरीखी/मैं तोड़ देना चाहती हूँ।

X X X

प्रगति की हर गति को/चलना है मेरे साथ–साथ/समाज, राष्ट्र, धर्म का/विकास मेरे साथ–साथ/जब तक है हौसला बुलंद/कौन कर सकता है

मंद/उद्दीप्त दीपक राग से/सोए हुए विश्वास को/मैं दीप्त करना चाहती हूँ।

X X X

उँचाई की गंभीरता से/बांध कर रफ्तार को/चल दिए हैं ये कदम/रोकना दुश्वार है/थम जाएगी धरती स्वयं/तोड़ने हर मिथक को/शोषितों के मर्म को–/पीड़ितों के दर्द को–/चीत्कार की हुंकार में/मैं बदल देना चाहती हूँ।/पंख मेरे फड़फड़ाते हैं।"[37]

(ख) वर्ण व्यवस्था बनाम पितृसत्ता

पितृसत्तात्मक एवं वर्णवादी व्यवस्था में सदियों से स्त्री की जिस चीज को कुचला, मरोड़ा और पालतू बनाया गया वह है उसकी आजादी। इस व्यवस्था को बनाए रखने में जितना योगदान पुरुषों का रहा है उतना ही स्त्रियों का भी। समाज की प्राथमिक इकाई परिवार में घर के भीतर एक स्त्री को औरत बने रहने की सीख सबसे ज्यादा स्त्रियों से ही मिलती है। यह और बात है कि उन्हें ऐसा करने की प्रेरणा उसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मिलती है। इसी प्रसंग में जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'सब्जेक्शन ऑफ वुमन' में लिखा है कि स्त्रियाँ पुरुषों से वास्तव में किसी बात में श्रेष्ठ हैं तो वह है उनके परिवार के लिए आत्म का बलिदान। लेकिन यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि स्त्रियाँ आत्मबलिदान के मामले में पुरुषों से तब तक श्रेष्ठ साबित होती रहेंगी जब तक कि उनको सही बताया जाता रहेगा कि उनका जन्म ही आत्म बलिदान के लिए हुआ है।

समाज में असमानता के स्तर को खत्म करते हुए समानता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के भेदभाव से भरे नियमों का पूरी तरह से विरोध किया जाए। दलित आत्मकथाकारो ने अपनी आत्मकथाओं में परंपरागत संस्कारों, व्यवस्थागत नियमों और जातिगत भेदभाव को काफी हद तक दर्ज किया है। दलित आत्मकथाओं में मात्र लेखक के जीवन भर का वर्णन नहीं है बल्कि इनमें समाज की तमाम व्यवस्थाओं पर से पर्दा उठाया गया है। इन आत्मकथाओं में मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद पैदा करने वाले नियमों–कानूनों को पूरी तरह से उजागर किया गया है।

समतामूलक लोकतांत्रिक समाज की रचना के लिए दलित आत्मकथाकारों के समक्ष अनेक चुनौतियां भी खड़ी दिखाई देती है। पहली चुनौती है "वर्णवाद के पारम्परिक शास्त्रीय रूप के साथ उसके समकालीन रूपों और नए उभारों का संज्ञान लेना तथा प्रतिरोध की एक मुकम्मल और दीर्घकालीन योजना तैयार करना। दूसरी, पितृसत्ता की मजबूती को पहचानते हुए उसके विरुद्ध सशक्त अभियान चलाना और दलित समाज के भीतर इसकी व्याप्ति को स्वीकारते हुए उत्पीड़ित दलित–स्त्री के पक्ष में खड़ा होना। और तीसरी, तमाम दलित समुदायों के बीच जाति की जकड़बंदी को खुले मन से समझने की कोशिश करना, उसे अपने व्यापक मूल में शामिल मानकर विमर्श का हिस्सा बनाना।"[38]

दलित आत्मकथाकारों ने इन सभी चुनौतियों को अपनी आत्मकथाओं में प्रमुख समस्याओं के रूप में अंकित किया है। इन आत्मकथाओं में धर्म, परिवार,

जाति, संस्कार और सवर्णवादी मानसिकता के विभिन्न पहलुओं को स्त्री और विशेषरुप से दलित स्त्री के संदर्भ में देखने की कोशिश की गई है। इन पहलुओं के साथ ही दलित आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक व्यवस्था एवं वर्णव्यवस्था की आपसी टकराहट द्वारा बदलती मान्यताओं को समझने का प्रयास भी हुआ है। स्त्री के अस्तित्व की बात करते हुए ये आत्मकथाएं समाज में दलित स्त्री की शोषित छवि को भी प्रस्तुत करती हैं।

भारतीय समाज में स्त्रियाँ चाहे दलित समाज की हों या गैर–दलित समाज की, सभी पितृसत्तात्मक समाज द्वारा शोषित एवं उत्पीड़ित होती रही हैं। परंपरा से ही स्त्री को देह के आधार पर बांधा गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में स्त्री देह के प्रति पुरुषवादी संस्कारों को उजागर करते हुए एक प्रसंग का जिक्र किया है जहाँ दो पुरुष मिलकर पूरी रात एक स्त्री की देह के साथ खिलवाड़ करते हैं। इस समाज की यह सच्चाई है कि स्त्रियों को मर्दों की कामुकता की हवस के लिए पैदा होना और जीना बदा है। पितृसत्ता द्वारा स्त्री के लिए समर्पित होने की सीख तो पहले से दी गई है लेकिन एक साथ अनेक मर्दों के लिए समर्पण सामंतवादी सोच का ही नतीजा है। स्त्री की पीड़ा को समझते हुए बाल्मीकि जी ने 'जूठन' में इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है, "पूरी रात इसी प्रकार बीत गई थी। कभी वेदपाल अंदर तो कभी उसका दोस्त। औरत पर क्या गुजर रही होगी, उस वक्त मैं अंदाजा भी नहीं लगा सकता था। कमरे में क्या चल रहा है, देख पाना मेरे लिए मुश्किल था। क्योंकि उन दोनों में से एक बाहर रहता था। आज उस स्त्री के बारे में सोचता हूँ तो जी मचलाने लगता है किस मजबूरी में आई होगी इनके पास।"[39] कभी धनाभाव तो कभी मजबूरी के चलते पितृसत्ता ने स्त्री को पुरुष के प्रति समर्पण की सीख दी है।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री के दिमाग में यह बात बैठा दी है कि वह केवल और केवल शरीर है। स्त्री के पास अपनी कोई संपत्ति नहीं होती क्योंकि संपत्ति, जायजाद पर पुरुषों का अधिकार होता है। स्त्री स्वयं ही अपने शरीर को अपनी संपत्ति मान बैठती है। संपत्ति को बेचा और खरीदा जा सकता है। कभी–कभी अपने शरीर को खुद से बेचती है तो कभी औरों से उसके शरीर को खरीदा जाता है। पुरुष द्वारा उत्पीड़ित स्त्री की दशा का चित्र खींचते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में लिखा है, "क्षणभर के लिए देखी उस स्त्री की छवि बार–बार आँखों के सामने आ जाती है जिसे दो भेड़िए रातभर झिंझोड़ते रहे। सुबह तक उसमें कुछ बचा भी था या नहीं, यह मेरे लिए हमेशा ही सवाल रहा है।"[40]

पितृसत्ता ने जहाँ एक ओर पुरुष द्वारा स्त्री को उपेक्षित रखने की सीख दी है वहीं दूसरी ओर पितृसत्ता और वर्णव्यवस्था ने स्त्री–स्त्री में भेद पैदा कर सवर्ण स्त्री को दलित स्त्री से दूर रहना सिखाया है। जाति के नाम पर सवर्ण स्त्री भी सवर्ण पुरुष की ही तरह व्यवहार करने लगती है। 'जूठन' में ऐसा ही एक प्रसंग सामने आया है जब ओमप्रकाश वाल्मीकि की जाति जानकर सवर्ण ब्राह्मण स्त्री उनसे छुआछूत बरतने लगती है। पहले ब्राह्मण स्त्री द्वारा प्रेम और आत्मीयता भरा व्यवहार और जाति जान लेने के बाद तिरस्कार और क्रूरता भरे शब्द वर्णव्यवस्था को और अधिक मजबूती देते हैं। आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है, "वह रोने लगी थी। मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हजारों साल की नफरत हमारे दिलों में भर गई थी।"[41] कहा जाता है कि प्रेम जाति, धर्म देखकर नहीं किया जाता, प्रेम तो बस हो जाता है लेकिन यह कैसा प्रेम है जो जाति देखकर अपने सारे भावों को समेट लेता है? लेखक प्रेम के इन पलों को बहुत उत्सुकता से संजोता है लेकिन अपनत्व की भावना के आगे जातिगत संस्कारों की जीत हो जाती है। "इस समूचे प्रसंग की ऐसी करुण समाप्ति हृदय विदारक है। सविता को लेखक के कहे पर विश्वास नहीं होता है। उसकी सोच में यह बात अट ही नहीं सकती कि चूहड़ा भी संपूर्ण मनुष्य होता है। वह अधिक–से–अधिक तिहाई–चौथाई आदमी हो सकता है। उससे भला बराबरी का संबंध कैसे हो सकता है? उसका अपनापे और प्रेम के योग्य होना असंभव है। सविता की विवशता इस व्यवस्था की क्रूरता और अमानवीयता पर बड़ी सटीक टिप्पणी है।"[42] कभी स्त्री पितृसत्ता का विरोध करती है तो कभी उसी पितृसत्ता का हिस्सा बनकर संस्कारों की दुहाई देने लगती है।

सवर्णों की ही तरह दलित समाज में भी पुत्र को वंशवृद्धि का वाहक माना जाता है और पुत्री के जन्म को शोक में तब्दील कर दिया जाता है। समाज में व्याप्त पुत्र–पुत्री के भेद को उजागर करते हुए मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "जिस घर में बेटी पैदा हो जाती, उसका बाप अपना माथा पकड़कर बैठ जाता था। और माँ गुम–सुम सी होकर रह जाती थी। लड़कियां दुख, कलह, अभाव, लड़ाई–झगड़ों का प्रतीक मानी जाती थीं।"[43] स्त्री की सारी समस्याएं उसकी देह से शुरू होती है। जन्म लेने वाले लड़का या लड़की में क्या अंतर होता है? दोनों ही एक जैसा हंसते, रोते और लगभग एक जैसे ही दिखते हैं। समाज द्वारा स्त्री को जन्म से ही उपेक्षित किया जाता रहा है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है कि लड़कियों के जवान होने पर उनकी माएं हिदायतें देतीं – "अब तू छोटी–सी बच्ची नहीं रह गई है। कुछ काम–धंधा सीख। धींगड़ी हो गई तू।"[44] जाहिर है समाज ने

स्त्री और पुरुष के जीवन के अलग–अलग पैमाने निर्धारित किए हैं जो विषमता के स्तर को और अधिक बढ़ावा देते हैं।

धर्म के नाम पर स्त्री का यौन–शोषण सामंती संस्कारों का ही एक हिस्सा है। आत्मकथा में मोहनदास नैमिशराय ने ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख किया है जब इंस्पेक्टर द्वारा मंदिर की चोरी के मामले में छानबीन करने पर पुजारी के साथ एक लड़की मिलती है। यह प्रसंग धार्मिक संस्थानों पर एक बड़ा सवाल खड़ा करता है। आत्मकथा में लेखक ने लिखा है "पुलिस चौकी पर ही उस औरत ने बताया कि उसे बच्चा नहीं होता था। वह उसी मंदिर में जाती थी जिसमें वह पुजारी था। पहले भभूत देता था फिर रात में बुलाने लगा। बाद में उनके बीच जिस्मानी संबंध हो गए। फलस्वरुप उसे गर्भ रह गया।"[45]

समाज द्वारा नैतिकता और मर्यादा को स्त्री के जीवन का अनिवार्य हिस्सा माना गया है। कर्त्तव्यों की सीख देने वाले संस्कार स्त्री को हमेशा निचले पायदान पर रखते हैं। स्त्री को कब क्या और कैसे करना चाहिए, यह सब कुछ परंपरा ने तय किया है। समाज द्वारा स्त्री के लिए निर्धारित परंपरा का उल्लेख करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा में लिखा है, "औरतें हमेशा मर्दों के बाद ही खाने के लिए बैठती थीं। कभी–कभी खाना कम पड़ जाता था। फिर उन्हें आधे पेट ही पंगत से उठना पड़ता था। ऐसे समय पर वे मर्दों को खूब कोसतीं।"[46] स्त्रियों द्वारा पुरुषों को कोसना पुरुष प्रधान समाज के भेदभाव को दर्शाता है जहाँ स्त्री हरेक काम के लिए पुरुष की मोहताज होती है।

अपने मुंबई के दिनों को याद करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है, "यह भी देखा कि बंबई में रंडियां चारों तरफ बिखरी थीं। उनमें से कुछ चकलों में रहती थीं, कुछ घरों में। बड़ी संख्या में वे शहर के भीतर बस स्टैंड, उपनगरीय रेलवे स्टेशन, बाजार तथा चौपाटी के आसपास ग्राहकों को लुभाने, पटाने में लगी होती थीं। यह भी देखा कि सड़क पर झाड़ू लगानेवाला रेस्तरों में अन्य के साथ कुर्सी पर चाय पीता था। वहाँ जातियों के उलझे हुए समीकरण नहीं थे, न उनकी शृंखलाएं उतनी लंबी होती थीं कि लोगों को उसका सिरा ही न मिले। यहाँ के लोग मस्त होते थे और औरतें बिंदास। पहली बार लड़कियों/औरतों को स्कर्ट पहने देखा। उनकी जांघें खुली होती थीं। बार में शराब पिलाती थीं। मेरे शहर में लड़कियां/महिलाओं को सर पर पल्लू रखना जरूरी था। वहाँ सर तो था, पर पल्लू नदारद था। अधिकांश लड़कियां/महिलाएं ब्वॉय कट बाल रखती थीं। साड़ी या सलवार–कमीज कम पहनती थीं, स्कर्ट अधिक।"[47] इस प्रसंग में लेखक ने वेश्यावृति की चर्चा करते हुए 'रंडी' शब्द का प्रयोग किया है और लिखा है कि 'वे

ग्राहकों को लुभाने/पटाने में लगी होती थीं।' उन्होंने आगे लिखा है कि 'यहाँ के लोग मस्त होते थे और औरतें बिंदास।' लेखक ने यहीं पर लड़कियों को पहली बार स्कर्ट पहने और बार में शराब पिलाते हुए देखा था। लेखक के शहर में लड़कियों/महिलाओं को सर पर पल्लू रखना जरूरी था। परंतु उसने बंबई में देखा कि वहाँ सर तो था, पर पल्लू नदारद था।

यहाँ जिस पंक्ति पर चर्चा करना जरूरी है वह यही कि 'वहाँ जातियों के उलझे हुए समीकरण नहीं थे, न उनकी शृंखलाएं उतनी लंबी होती थीं कि लोगों को उसका सिरा ही न मिले।' यह है असली बात। स्त्री अगर ज्यादा 'खुली' और 'उन्मुक्त' हो मसलन स्कर्ट पहनती हो, शराब पिला सकती हो, तो लोगों को उसकी जाति से कोई मतलब नहीं रह जाता है। उसके साथ उन्हें किसी प्रकार की हीनता का बोध नहीं होता है। समझा जा सकता है कि लेखक ने अपने गाँव को भी इस प्रसंग में याद किया है और लिखा है कि 'मेरे शहर में लड़कियां/महिलाओं को सर पर पल्लू रखना जरूरी था। वहाँ सर तो था, पर पल्लू नदारद था।' इसका क्या मतलब है? महानगरीय परिवेश में क्यों पल्लू नदारद हो जाता है? गाँव का समाज 'पिछड़ा' क्यों समझा जाता है? महिलाओं को पर्दे में क्यों रखा जाता है? इन प्रश्नों के उत्तर समाज की संरचना में ही छिपे हैं। शिक्षा और आत्मनिर्भरता इसलिए जरूरी है। जो महानगरीय जीवन में बिल्कुल आम बात होती है जैसे स्कर्ट पहनना, पल्लू न रखना वहीं गाँवों में कलंक का कारण बन जाता है। अगर कोई लड़की शहर में अकेले रहे तो किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता है जबकि अगर कोई स्त्री गाँव में अकेले रहे तो उसे कई सवालों का सामना करना पड़ता है। सभी प्रश्नों के मूल में पितृसत्ता ही है जिसमें परिवार में पुरुषों को ही निर्णय लेने के सभी अधिकार प्राप्त होते हैं। अपनी आजादी की माँग करती स्त्री समाज के अनुसार 'कुलटा' कही जाती है। स्त्री के प्रति समाज के अनैतिक व्यवहार को देखते हुए मोहनदास नैमिशराय सवाल खड़ा करते हैं, "रंडी भी तो औरतें होती हैं... रंडी कौन होती है'? वे कहां से आती हैं? उनके घर नहीं होते क्या? सभी औरतें रंडियां होती हैं क्या?"[48]

पितृसत्तात्मक सोच हरेक मामले में स्त्री को अपराधी बनाती है। यदि पुरुष स्त्री का यौन शोषण करता है तो दोषी स्त्री के शरीर को बना देता है। कभी सौंदर्य, तो कभी स्त्री का पहनावा और कभी कामुकता को अपराधी की श्रेणी में रख पुरुष अपनी हर मनमानी को वैध ठहरा देता है। 'अपने–अपने पिंजरे' में मोहनदास नैमिशराय ने भी स्त्री–संसर्ग का दोष स्त्री के सर पर मढ़ते हुए लिखा है, "महानगरीय भोग और संभोग की चरम संस्कृति का यह मेरा पहला अनुभव था। न जाने कैसे यह सब हो गया था। ... अपने अकेलेपन को एक रात उसने मेरे साथ बाँटा था... जो अपनी उदास और तनहा रात में भले ही चंद पलों के लिए किसी

मर्द की बाँहों में खो जाना चाहती थी। पर न तो मेरी भुजाएं भीष्म जैसी थी, और न ही मेरी छाती पर काले बाल तब तक उगे थे। मैं वैसा मर्द तो न था। मैं तो उसके लिए बस नर्म गोश्त का टुकड़ा भर था। उस रात उसने मुझे मर्द बना दिया था। एक मर्द को ऐसे समय क्या करना चाहिए, यह भी सिखला दिया।... मैं कब तक बचता। मैं अनाड़ी था और वह खिलाड़ी।"[49] लेखक द्वारा स्वयं को अनाड़ी और महिला द्वारा 'मर्द' बनाना, कहना एक प्रकार से पुरुषवादी सोच का ही परिणाम है। वह महिला लेखक को उभरे अंगों के साथ आकर्षक तो लग रही थी लेकिन महिला के साथ रात बिताने का दोष स्त्री के सर पर मढ़ना नैतिकता के किस दायरे में आता है? महिला के अंग–प्रत्यंग का वर्णन स्त्री के प्रति लेखक का आकर्षण विशेष रुप से शारीरिक आकर्षण नहीं तो और क्या है?

भारतीय समाज में पुत्र–पुत्री के लिए अलग–अलग मापदण्ड निर्धारित किए गए हैं। पितृसत्ता की बुनावट ने स्त्रियों के दिमाग में भी बेटे के प्रति खुशी और बेटी के प्रति क्रूरता जैसे भावों को बखूबी सिंचित किया है। एक माँ ही अपनी बेटी को रहने, पहनने और ओढ़ने की तरह–तरह की हिदायतें देती हैं जबकि बेटों के लिए कोई नियम नहीं। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में बेटियों के प्रति माँ के उपेक्षा भाव को चित्रित करते हुए लिखती हैं, "माँ हमेशा बाल धोते वक्त बड़बड़ाती रहती थीं – "देवा, मैंने ऐसा कौन–सा पाप किया था कि मेरे नसीब में लड़कियां ही लिखी है?"[50] जिस समाज में बेटियों को उपेक्षित भाव से देखा जाता है वहाँ उनकी स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

कौसल्या बैसंत्री ने 'दोहरा अभिशाप' में स्त्रियों के प्रति समाज के आचार–व्यवहार को भली–भांति दिखाया है। यह सामाजिक नियमों की अमानवीयता है जहाँ एक स्त्री ही दूसरी स्त्री को अपमानित करने के लिए 'रंडी' जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। "औरतें एक–दूसरे के बाल नोचती थीं और गंदी–गंदी गालियाँ एक–दूसरे को देती थीं। जैसे 'तू रंडी है' यारों के साथ घूमती हैं वगैरह–वगैरह।"[51] सामाजिक व्यवस्था की इस मानसिकता को उजागर करते हुए मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी पुस्तक 'तब्दील निगाहें' में लिखा है, "पुरुष किसी स्त्री को रंडी के रूप में ही पाना चाहता है। उसने ही स्त्री का नाम रंडी रखा है, किसी स्त्री ने तो नहीं। हमसे पूछिए, हम इस नाम को ही नाजायज मानते हैं और मर्दों के अपराध से जोड़ते हैं। और वे पुरुष तो दोहरे–तिहरे जुर्म के मुजरिम हैं, जिन्होंने स्त्री कल्याण और स्त्री विमर्श का झंडा उठाया हुआ है, क्योंकि इन जैसे मर्दों का ही मास्टरमाइंड है जो समय–समय पर औरत को नीचा दिखाने के लिए गंदे, भद्दे मुहावरे और गालियों के गुच्छे जोड़कर साहित्य पत्रिकाओं के शीर्षक बना देते हैं।"[52] 'रंडी' जैसे शब्द स्त्री के पूरे अस्तित्व को ही नकारने के लिए गढ़े गए हैं।

इससे भयावह रूप और क्या हो होगा जब एक स्त्री ही स्त्री–शरीर को अपमानित करने में अपना अहम् समझती हो! आत्मकथा में ऐसा ही एक और प्रसंग सामने आया है जब एक स्त्री अपने पति को दोष न देकर स्त्री को ही दोष देती है, "वह कह रही थी वह तो आदमी है। औरत को तो अपनी इज्जत की ओर ध्यान देना चाहिए।"[53] पितृसत्ता ने स्त्री को इतना सहलाया है कि वह कई बार पुरूषों की ही भाषा बोलने लगती है। पति विवाहित होते हुए भी अन्य स्त्री से प्रेम कर सकता है लेकिन स्त्री को इसका हक नहीं। तभी तो रामकुंवर नाम की स्त्री के साथ अपने पति के संबंधों को देखते हुए वह महिला अपने पति को दोष न देकर रामकुंवर को अनेक बार अपमानित करती है।

स्त्री यदि पुरुष द्वारा अपने प्रति अत्याचार, हिंसा आदि की शिकायत करे तो व्यवस्था द्वारा वह स्त्री ही सजा की पात्र बना दी जाती है। 'दोहरा अभिशाप' में एक ऐसा ही प्रसंग सामने आया है जब दिहाड़ी पर मजदूरी करने वाली महिला मिस्त्री द्वारा किए गए गलत व्यवहार के बारे में बताती है तो बस्ती के लोगों के द्वारा उसे चप्पलों की माला पहनाकर गधे पर बैठाकर पूरी बस्ती में घुमाया जाता है। हद तो तब हो जाती है जब उस महिला का पति ही उसे बदचलन कहकर उसके चरित्र पर ही सवाल खड़ा कर देता है। "पति का काम था कि जाकर उस बदमाश को डाँटे–फटकारे। परंतु उसने अपनी औरत को ही डांटना शुरू किया, मारा और कहने लगा कि और औरतें भी वहाँ काम करती हैं, उन्हें वह कुछ नहीं कहता और तुम्हें ही क्यों छेड़ता है? तुम ही बदचलन हो, यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा। वह बिचारी घर के पीछे रात भर डर डर के रही और सवेरे उसे गधे पर बैठाया गया। बस्ती से बाहर निकालने के बाद वह बेचारी झाड़ी में छुपी रही, क्योंकि उसके बदन पर पूरे कपड़े नहीं थे। रात में वह बस्ती के कुएँ में कूद गई। सवेरे उसका शरीर पानी के ऊपर तैर रहा था। उसके माँ–बाप आए और कहने लगे कि इसने हमारी नाक कटवाई, अच्छा ही हुआ कि यह कुलटा मर गई।"[54] सवाल यह उठता है कि इज्जत, मर्यादा... को आखिर स्त्री से ही क्यों जोड़ा जाता है? क्या मर्यादा स्त्री के जीवन से बड़ी होती है? झूठी मर्यादा के नाम पर स्त्री को आखिर कब तक बलिदान करना होगा? मिस्त्री जो उस महिला के साथ अश्लील हरकतें करता है, समाज उससे कुछ नहीं कहता। पितृसत्ता का यह क्रूर और घिनौना रूप इंसानियत में कब तब्दील होगा?

स्त्री का खुलकर बातें न करना मर्यादा है, स्त्री का खुलकर न हंसना नैतिकता है। वहीं दूसरी ओर पुरुष का दबकर बातें करना उसे 'जनानी' की श्रेणी में खड़ा कर देता है। ललिता जो स्वभाव से ही बेहद हँसमुख है, पुरुषों के साथ

ही स्त्रियों द्वारा भी वह चरित्रहीनता की कोटि में खड़ी कर दी जाती है। "उसका चाल–चलन अच्छा नहीं है, ऐसी यह दलित औरतें मेरे पास शिकायत करती थीं, क्योंकि ललिता मेरे घर आती रहती थी। मैंने औरतों से पूछा कि वह ऐसा क्या गलत करती है जो आप लोगों को अच्छा नहीं लगता तो कहने लगी कि वह सबके साथ 'फ्री' बातें करती और हंसती है।"[55] ललिता के पति द्वारा इन स्त्रियों की बातों में आकर उसकी पिटाई करना पुरुष की मर्दानगी का ही एक उदाहरण है।

स्त्रियों का जीवन पुरुष पर निर्भर रहता है। स्वयं स्त्री ही पुरुष के आश्रय को अपना कर्त्तव्य मानती है। कौसल्या बैसंत्री द्वारा दलित स्त्रियों के लिए बनाई गई संस्था की सदस्यता के नाम पर दलित स्त्रियों का यह कहना ... कि "हम पति से पूछकर बताएंगे कि क्या हम संस्था की सदस्य बनें। किसी भी महिला में स्वतंत्र निर्णय लेने की हिम्मत नहीं है...,"[56] पितृसत्ता को और अधिक मजबूती देता है। पुरुषों को यह डर रहता है कि ऐसी संस्थाओं में जाकर स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग न हो जाएं। पुरुषों ने स्त्रियों को गुलामी में रहना सिखाया है जहाँ स्त्री अपने हरेक फैसले के लिए पुरुष पर निर्भर रहती है। स्त्री द्वारा पुरुष पर अपनी निर्भरता को वह अपनी गुलामी नहीं बल्कि जीवन का एक हिस्सा मानती है। जब पीड़ित को अपनी पीड़ा और परतंत्रता का एहसास ही न हो तो उसके द्वारा स्वतंत्रता के लिए किए गए प्रयासों की उम्मीद करना निरर्थक ही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों को तन–मन से पुरुष के प्रति समर्पित रहने की सीख दी है।

भारतीय समाज में पुरुषों द्वारा किए गए अत्याचार की सजा अक्सर ही स्त्रियों को मिलती है। पुरुषों द्वारा स्त्रियों के साथ किए गए यौन–संबंधों की सजा के बारे में तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में लिखा है, "यौन संबंध से जुड़ी युवती के पूरे परिवार को 'कुजाति' घोषित कर दिया जाता था। कुजाति का मतलब होता था, उसका हुक्का–पानी बंद अर्थात् संपूर्ण रुप से बारहगाँवा द्वारा बहिष्कार... इस बीच यदि अवैध यौन संबंध के चलते वह युवती गर्भवती रहती तो उसका गर्भपात स्वयं गाँव की महिलाएं, जो बच्चा पैदा करवाने में अनुभवी होती थीं, पेट दबा–दबाकर अत्यंत क्रूर ढंग से करवा देती थीं।"[57] पितृसत्ता ने स्त्री को अनेक बंधनों में जकड़ा है जबकि पुरुष के लिए कोई नियम–कानून नहीं। समाज ने ही स्त्री के संबंधों को वैध–अवैध की श्रेणी में बांटा है। यदि स्त्री अपनी मर्जी से किसी पुरुष के साथ संबंध बनाती है तो वह अवैध हो जाता है और यदि वह समाज द्वारा निर्धारित नियमों के तहत संबंध बनाती है तो वह वैध हो जाता है। स्त्री का गर्भवती होना स्त्री के शोषण का एक बहुत बड़ा कारण है। सवाल यह उठता है कि पुरुष के बिना स्त्री संबंध नहीं बना सकती फिर स्त्री–पुरुष के यौन संबंधों के मामले में सारे कर्मों की सजा औरतों को ही क्यों मिलती है?

स्त्री–देह का जब कोई एक मालिक नहीं होता तो वह सार्वजनिक सुविधाओं का पर्याय बन जाती है। हर कोई उसे पैसे देकर भोग सकता है। अपने शरीर को इस प्रकार बेचना उसकी मजबूरी होती है। क्या पुरुष परोक्ष रूप से उन स्त्रियों से प्रतिशोध की भावना रखता है जिन्होंने अपने शरीर को अपने अनुसार प्रयोग करने का निर्णय लिया है? समाज द्वारा स्त्री को कई स्तरों में बाँटा गया है। वेश्याओं का जिक्र करते हुए तुलसीराम ने 'मणिकार्णिका' में लिखा है, "बनारस में 'मुकुंदी भांड मंडली' बहुत चर्चित हुआ करती थी। ... मुकुंदी की भाड़ मंडली इसलिए ज्यादा चर्चित थी कि इसमें वेश्याओं का नृत्य हुआ करता था। जिस शादी में मैं गया था, उसमें कई बाराती अपना गमछा बिछा–बिछाकर वेश्या को उस पर नाचने की गुहार लगाते, जिससे नृत्य की रोचकता और भी बढ़ जाती थी।"[58] तुलसीराम ने इस प्रसंग को परंपरा से जोड़ते हुए लिखा है कि नर्तकियों के द्वारा वस्त्रों के ऊपर नचवाने की एक लंबी परंपरा रही है। वेश्या नारी जिस पर सभी पुरुष अपना अधिकार समझते हैं। पुरुषों द्वारा अपना–अपना गमछा डालकर नचवाना मानो उस स्त्री पर एकाधिकार स्थापित करने जैसा है। स्त्री के प्रति यह पुरुष की अदम्य इच्छाओं का ही नतीजा है कि वह वेश्याओं के साथ इस प्रकार के व्यवहार को अपने अहम् की तुष्टि का साधन मानता है।

बेटियों को पराया धन माना जाता है। यह मानसिकता बेटियों की प्रगति के रास्ते में हमेशा बाधक रही है। स्त्री का अपना घर नहीं होता। जिस घर में वह जन्म लेकर बड़ी होती है उसे उसका 'मायका' कहा जाता है जबकि पुरुषों का कोई मायका नहीं होता है। क्योंकि पुरुषों का एक घर से दूसरे घर में निष्कासन नहीं होता है। सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में बेटियों के प्रति समाज की मानसिकता को उजागर करते हुए लिखा है, "गाँव के बड़े–बुजुर्ग अक्सर यही कहते थे – लड़कियाँ तो चिरैया हैं, समय आते ही उड़कर परदेस चली जाएंगी...।" लड़कियां उनकी ससुराल की अमानत हैं, पाल–पोस के उन्हें लौटा देंगे।", "लड़कियां चूल्हे का लूगड़ा (जलती लकड़ी) हैं। जहाँ का लूगड़ा वहीं जले तो अच्छा है।"[59] यह सामाजिक विडंबना है कि स्त्री को दोनों ही घरों – मायका और ससुराल में पराया समझा जाता है। स्त्री को जायदाद, संपत्ति से बेदखल करने की यह राजनीति है जो स्त्री को पराया कहकर उससे पराए की तरह व्यवहार करना सिखाती है।

पितृसत्ता स्त्रियों को संरक्षण की सीख देती है। 'रक्षाबंधन' जैसे त्योहार स्त्री को निर्बल बनाने के माध्यम हैं। व्यवस्था की परंपरागत सोच पर सवाल खड़ा करते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "बहनें यदि सबल हों तो उन्हें किसी रक्षक की आवश्यकता नहीं रहती। मगर समाज में यही मान्यता थी कि पुरुष ही स्त्रियों की

रक्षा करते हैं। मनुस्मृति में स्त्रियों को हमेशा पिता, भाई, पति और पुत्रों के संरक्षण में रहने के निर्देश दिए गए हैं। स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक रुप से कमजोर बनाकर रखा जाता था। 'रक्षा बंधन' भी ऐसा ही त्योहार है।"[60] स्त्री का जीवन तमाम बंधनों में कैद किया जाता है। हिंदू धर्म परंपरा और संस्कृति स्त्री को अबला मानने की सीख देते हैं।

पितृसत्ता के तहत पुत्र को वंशज और कुलदीपक माना जाता है। भारतीय समाज और संस्कृति ने स्त्री के मन में भी यह बात बैठा दी है कि उसके मातृत्व की सार्थकता पुत्र की माँ होने में निहित है। समाज की इसी मान्यता के विषय में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "समाज में बेटियों की अपेक्षा बेटों को अधिक सम्मान और महत्त्व दिया जाता था। जिन लड़कियों के भाई नहीं रहते थे, परिवार के लोग और रिश्तेदार उन्हें बुरा कहते थे। वे बहुत दुखी हो जाती थीं। जिस माँ को बेटा नहीं होता वह तो मानो अपने आपको दुनिया की सबसे दुखी, अभागी स्त्री मानती। बेटों को महत्व था। बेटे के लिए अनेक व्रत रखे जाते, पूजा की जाती, मन्नते माँगी जातीं। चाहे जितनी बेटियाँ हो जाएं, बेटा होना ही चाहिए।"[61] पितृसत्ता की मानसिकता पुरुषवर्ग को मजबूत करने की रही है इसीलिए परंपरा द्वारा बेटियों को उपेक्षित कर बेटों को कुल का चिराग कहा गया है। हिंदू धर्म में बेटों को पालनहार और तारनहार कहा गया है।

स्त्रियों को पैर की जूती मानने वाला पुरुषवर्ग स्त्री की उन्नति और तरक्की को बर्दाश्त नहीं कर सकता। आत्मकथा में ऐसा ही एक प्रसंग आया है जब इंदिरा गांधी देश की प्रधानमंत्री बनती हैं और स्त्रियों में खुशी की लहर दौड़ती है। स्त्रियों के द्वारा अपना राज कहने पर सुशीला के भाई की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार है – "एक औरत देश की प्रधानमंत्री बन गई, इसका मतलब यह नहीं कि घर की औरत औरत जैसी नहीं रहेगी।"[62] स्त्री चाहे कितनी उन्नति कर ले लेकिन पुरुष स्त्री को हमेशा गुलाम बनाए रखना चाहता है। पुरुष प्रधान मानसिकता स्त्रियों को पुरुषों से दोयम दर्जे में रखने की वकालत करती है।

स्त्री पुरुषवादी संस्कारों में इतनी जकड़ी हुई है कि संस्कारों का पालन करना उसे अपने जीवन का कर्तव्य लगने लगता है। विदाई के समय सुशीला की माँ द्वारा बेटी को मान–मर्यादा, सेवा... की दुहाई देना एक प्रकार से सामंती संस्कारों को और अधिक दृढ़ करने जैसा है – "माँ ने अच्छी तरह से समझाया था – "बेटी, किसी बात की जिद नहीं करना। जैसा बोलें वैसा करना। सबकी बात सुनना। किसी को किसी बात का जवाब नहीं देना। सबकी सेवा करना, सबका सम्मान करना। हमारे नाम की बदनामी नहीं कराना।"[63] परंपरा स्त्री को सेवा, समर्पण की

सीख देती है। पति के प्रति पूर्ण निष्ठा को स्त्री का गुण बताया गया है। समाज ने स्त्री के जीवन की प्रत्येक अवस्था, स्थिति को संस्कारों में बांधा हुआ है जबकि पुरुष के लिए कोई संस्कार नहीं। पति को परमेश्वर मानने वाली स्त्री को सेविका का दर्जा दिया गया है। अच्छी पत्नी के गुणों में यह शामिल है कि वह तन–मन से पति के प्रति समर्पित रहे। सुशीला को अपने जीवन में पितृसत्ता के अनेक दंशों का सामना करना पड़ता है। आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने पति द्वारा अपने शोषण को व्यक्त करते हुए लिखा है, "स्कूल से या बाहर से आने के बाद कभी–कभी टाकभौरे जी मेरे सामने पैर आगे बढ़ा देते। मेरा ध्यान न रहने पर हाथ से इशारा करके जूते उतारने के लिए कहते। मैं चुपचाप उनके पैरों के पास बैठकर, जूते उतारती, मोजे उतारती। यह बात मुझे अजीब लगती थी। पति होने के अधिकारी के तहत वे ऐसा करते थे।"[64] पत्नी द्वारा पति का विरोध न कर कही गई हर बात को स्वीकार करना परंपरागत नियमों का हिस्सा बनना ही है। स्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आजादी की परिभाषा निर्धारित कर अपने जीवन के मापदंड स्वयं तय करे।

भारतीय समाज और सभ्यता ने एक स्त्री को दूसरी स्त्री का शोषण करने का पाठ इतना बखूबी पढ़ाया है कि वह अपने ही पुत्र की पत्नी को प्रताड़ित करने में जरा भी नहीं हिचकती। सास के रूप में स्त्री यह भूल जाती है कि वह भी कभी बहू थी। सास और ननद द्वारा किए गए उत्पीड़न की पीड़ा को सुशीला ने कुछ इस प्रकार उजागर किया है, "माँ अपनी बेटी को अच्छे से खिलाती, उसके बच्चों को संभालती। मुझे कोई नहीं पूछता था कि मैं क्यों रो रही हूँ? मुझे क्या दुख है? मैंने खाना क्यों नहीं खाया? "खा लेगी अपने आप... रोती है तो रोने दे...।"[65] स्त्रियाँ यदि संगठित होकर व्यवस्थागत नियमों का विरोध करें तो अन्याय और अत्याचार से काफी हद तक मुक्त हो सकती हैं। अपने प्रति किए गए अनैतिक व्यवहार का विरोध न कर उसे सहना स्त्री के कर्त्तव्यपालन की श्रेणी में आता है। सुशीला के माता–पिता द्वारा दिए गए संस्कार उसे शोषण के चक्र से उबरने की नहीं बल्कि शोषण को सहने की प्रेरणा देते हैं।

स्त्रियों के प्रति मनुवादी मानसिकता के विषय में सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "स्त्रियों पर शासन करना, उन्हें दासी समझना, उन्हें संपत्ति का अधिकारी नहीं बनने देना, उन्हें हमेशा अपने नियंत्रण में रखना, अपने दोष न देखकर स्त्रियों को ही दोष देना, स्त्रियों को अधिकारहीन बनाकर रखना...।"[66] समाज में स्त्री की स्थिति हमेशा से निर्बल के रूप में रही है। स्त्रियों के शिक्षित और स्वावलंबी होने के बावजूद घर का मालिक पुरुष ही रहता है। स्त्रियों से मनुष्यगत अधिकार छीनकर पुरुष सत्ता के शासक के रूप में स्त्री पर शासन करता रहा है।

"कांचा इलैया का मत है कि ऊंची जाति की स्त्रियों और निम्न जाति की स्त्रियों के बीच मूलभूत अंतर भौतिक संसाधनों (खासकर संपत्ति) पर अधिकार होने या न होने में है। संपत्तिहीनता की वजह से दलितों में स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी को श्रम करना पड़ता है। ये बने–बनाए ढांचे ही दलित स्त्रियों के श्रम व्यवस्था में समावेशन के समरूप को तय करते हैं। वहीं, ऊंची जाति की स्त्रियों के केवल प्रजनन कार्य को ही तवज्जो दी जाती है जिससे वे महज यौन श्रमिकों के रूप में विघटित होकर रह जाती हैं जबकि उनके द्वारा घरेलू व्यवस्था का ठीक रखा जाना यानी शुद्धता के मानदंडों की रक्षा और अशुद्धता से परहेज ऊंची जातियों की श्रेष्ठता को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य है।"[67] दलित स्त्री के अस्तित्व का केंद्रीय तत्व श्रम है लेकिन जाति व्यवस्था उसके अस्तित्व के साथ ही श्रम के मार्ग में बहुत बड़ी बाधक है। जाति और पितृसत्ता की मार ने दलित स्त्रियों के जीवन को काफी हद तक प्रभावित किया है। दलित आत्मकथाओं ने न केवल सवर्ण और दलित के बीच मौजूद समानता, भेदभाव को लेकर महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए हैं बल्कि स्त्री जीवन से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण पहलुओं हिंसा, यौन हिंसा, उत्पीड़न, शारीरिक अत्याचार, पितृसत्ता द्वारा निर्धारित मापदंडो को भी उठाया है। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि शिक्षा जैसे मूलभूत अधिकार से लेकर अपने अस्तित्व तक का प्रश्न स्त्री के लिए परंपराओं और मर्यादाओं के घेरे में कैद है। व्यवस्था का सारा प्रयास स्त्री को दास धर्म निभाने की सीख अधिक देता है। आत्मकथाओं के माध्यम से पीड़ा और उत्पीड़न के दोहरे अभिशाप में जीने को मजबूर दलित स्त्रियों द्वारा अपने अस्तित्व के लिए किया गया संघर्ष भी सामने आया है।

(ग) विवाह और तलाक का प्रश्न

तलाक का प्रश्न स्त्री के अधिकारों और आजादी से जुड़ा हुआ है जिसे विवाह संस्था की नैतिकता ने आज तक अनैतिक माना है। दलित आत्मकथाओं में स्त्री पात्र कई मौकों पर तलाक के इसी अनैतिक प्रश्न को अपना हथियार बनाते हुए मुक्ति का रास्ता तलाशते हैं। मुक्ति के इस प्रश्न में कई बार उनकी तकलीफें और भी बढ़ जाती हैं लेकिन निर्णय लेने की उनकी आजादी उनके भीतर जिस इत्मीनान को पैदा करती है वे उसे अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि मानती हैं।

कई विचारकों ने विवाह संस्था को सामाजिक सौदेबाजी की संस्था कहा है। रामविलास शर्मा ने वेश्या बनने के प्रसंग में विवाह संस्था और वेश्यावृत्ति के संबंधों पर विस्तार से लिखा है। कहना न होगा कि प्रेम ही विवाह का एकमात्र आधार होना चाहिए जो दो–तरफा और निर्व्याज हो। दलित आत्मकथाओं में भी विवाह और तलाक के प्रश्न को इसके तमाम अंतर्विरोधों के साथ जगह दी गई है।

सूरजपाल चौहान ने विवाह संस्था के ढांचे की हिलती चूलों का 'अकुंठ' चित्रण किया है। प्रेम व स्त्री के प्रसंग में चौहान की कुंठा यौनिकता के मसले पर भरभराकर ढ़ह जाती है। एक सजग दलित रचनाकार को अपनी ही पत्नी को अपने बड़े भाई के पुत्र जिसे उन्होंने कानूनन गोद ले लिया था, के साथ रतिरत देखकर विवाह संस्था की निरर्थकता का बोध होता है। अपनी पत्नी के चरित्र को जिस तरह से उन्होंने उघाड़ा है वह तलाक का पर्याप्त आधार तैयार कर देता है। हालांकि दलित आत्मकथाकार को सामाजिक मर्यादा की चिंता आखिर तक बनी रही। एक प्रसंग देखें "नोएडा में एक दिन मेरे साहित्यिक मित्र बाबा कानपुरी घर आए हुए थे। मैं उनसे चर्चा करने में व्यस्त था। विमला चाय लेकर आई, उसने एक कप बाबा कानपुरी के लिए और दूसरा कप मेरे सामने मेज पर रख दिया। जयप्रकाश मेरे सामने बैठा हुआ था। विमला ने एक हाथ से चाय का कप उसकी ओर बढ़ाया। जयप्रकाश ने देखा कि मैं बाबा कानपुरी से चर्चा में व्यस्त हूं, उसने विमला के बाजू पर हाथ फेरते हुए चाय का प्याला पकड़ा। मेरी नजर उसकी हरकत पर पड़ गई थी और उसने भी साफ देख लिया था कि मैं उसे ऐसा करते देख चुका हूं। ... हैरानी की बात तो यह थी कि विमला ने भी उसकी इस हरकत का विरोध नहीं किया। विमला के व्यवहार से साबित हो रहा था कि अंदर ही अंदर वह भी उससे मिली हुई है। कुछ दिनों के बाद विमला ने अपनी हरकतों से साबित कर दिया कि वाकई वह उसके साथ गहरे दलदल में धँस गई है। वह गिरी तो गिरती ही चली गई। उसने मेरा और अपना बुढ़ापा तो बिगाड़ा ही, मधुर और भानु का जीवन भी नष्ट करके रख दिया।... पूनम भी अब जयप्रकाश की ऐसी बेहूदा हरकतों को कब

तक सहन करती। पढ़ी–लिखी लड़की थी, वह घर के माहौल को तुरंत ताड़ गई। उसका मन उचट गया था। एक दिन साहस बटोरते और आँखों से आँसू गिराते हुए वह मुझसे बोली – "पापा, यहाँ मुझे अच्छा नहीं लगता और यह घर भी मुझे अपना सा नहीं लगता।"[68] विद्रोह की मंशा समाज से करना और विद्रोह का साहस स्वयं न कर पाने का जो अंतर्विरोध है उसी प्रवृत्ति ने सूरजपाल चौहान को विवाह संस्था के खूँटे से बांधे रखा और उनकी बहू से विद्रोह करवा दिया। अब सूरजपाल चौहान की आत्मकथा कितना सच कहती है और कितना झूठ, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

विवाह और तलाक के मामले में दलित स्त्रियाँ सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र हैं। न तो उन्हें पतिव्रता बने रहने का निर्वाह करना पड़ता है और न ही पति को पूज्य मानने की प्रथा के लिए वे बाध्य हैं। सवर्ण स्त्रियों का सम्मान उनके पुरुषों के सम्मान पर निर्भर करता है जबकि दलित स्त्रियाँ अपने सम्मान के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। मर्यादा, नैतिकता, प्रतिष्ठा के भय से सवर्ण स्त्रियाँ जीवनभर विवाह संस्था के शोषण की गिरफ्त में होती हैं। दलित स्त्रियों के लिए इस प्रकार की कोई बंदिश नहीं है। वह अपना दर्द बयां कर सकती हैं।

मोहनदास नैमिशराय ने विवाह संस्था के आधार अर्थात पुरुष के वंश की निरंतरता के अभाव में विवाह संस्था की ढ़हती स्थिति का चित्रण किया है। भारतीय समाज में विवाह का प्राथमिक उद्देश्य है पुरुष के वंश को आगे बढ़ाना। विवाह संस्था द्वारा स्त्री पुरुष को सेक्स की छूट देने के पीछे संतानोत्पत्ति की कामना निहित होती है। इसके अभाव में 'विवाह' संबंधों के नाम पर झूठी मर्यादा का प्रश्न भर रह जाता है। मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा में अपने भाई की 'नपुंसकता' को दिखाते हुए भाभी द्वारा संबंध विच्छेद के प्रसंग को दिखाया है। यदि पुरुष में प्रजनन करने की शक्ति नहीं है तो वह मनुष्य रूप में पुतला मात्र है। पुरुषार्थ के कारण ही दाम्पत्य जीवन अपना आधार पाता है। मोहनदास के भाई का विवाह होना और पुरुषत्व के अभाव में वेश्याओं के कोठे पर जाने जैसे प्रसंग विवाह संस्था के भीतर छिपी नग्न सच्चाइयों से पर्दा उठाते हैं। मोहनदास ने लिखा है, "भइया के ब्याह के बाद मुझे एक और माँ मिल गई थी भाभी के रूप में। भाभी सुंदर भी खूब थी सबसे बातें करती। सास– ससुर और दो–दो देवर सब कुछ तो था भाभी के आसपास। पति भी था, पर पति में वह सब न था जो किसी पुरुष में होता है।"[69] लेखक के भाई का अपनी नपुंसकता सही करने के लिए वेश्याओं के पास जाना एक सवाल खड़ा करता है। स्त्री यदि 'बांझ' होती है तो उसके लिए ऐसा कोई प्रावधान नहीं। लेखक स्वयं इस पर सोचने के लिए विवश होता है, "मुझे यह बात काफी

समय तक समझ न आई थी कि रंडियां आखिर भइया का कौन–सा इलाज करती थीं।"[70] स्त्री को जीतने या अपना गुलाम बनाने के लिए पुरुष के पास अनगिनत साधनाएं, औषधि और आसन हैं। अपने पौरुष संवर्द्धन के लिए लेखक का भाई कोठों पर अपनी रातें गुजारता है। यह प्रसंग व्यवस्था के सामने तमाम सवाल खड़े करता है।

दलित स्त्री विवाह संस्था के भीतर होने वाले शोषण से काफी हद तक मुक्त है। सामाजिक प्रतिष्ठा का भय उसे उतना नहीं सताता जितना कि एक सवर्ण स्त्री को। यही कारण है कि मोहनदास की भाभी अपने पति से संबंध विच्छेद कर दूसरा विवाह कर लेती हैं। "बड़े भइया जानकी प्रसाद का पाँच साल पुराना रिश्ता टूट गया था। इसलिए कि वे मर्द होने की भूमिका निभाने में असफल सिद्ध हुए थे। वे पुरुष थे, पर उनके भीतर पुरुषत्व नहीं था।"[71] सवर्ण स्त्री के लिए प्रतिष्ठा सर्वोपरि होती है। अक्सर ऐसे मामलों में विवाह संस्था उसे घुटन भरा जीवन जीने के लिए विवश करती है। न तो वह अपने पति की ऐसी कमियों को समाज के सामने जाहिर कर सकती है और न ही पति से अलग होकर किसी दूसरे पुरुष को अपना जीवनसाथी चुन सकती है। इस प्रसंग में दलित स्त्री अपने जीवन के अधिकारों और निर्णयों के मामले में अधिक स्वतंत्र है।

विवाह संस्था के भीतर होने वाले शोषण से पर्दा उठाते हुए कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"[72] यह सच है कि विवाह संस्था समाज को नियमित और अनुशासित करने का माध्यम है मगर देखने में यह अधिक आता है कि विवाह के आधार पर अनीति और अत्याचार को स्त्री के जीवन का अनिवार्य हिस्सा बना दिया जाता है। इन अत्याचारों की मुख्य भूमिका में पति ही होता है। पति की कोशिश साम–दाम–दंड–भेद से पत्नी को काबू में करने की होती है। "लाख दुःखों की एक दवा विवाह स्त्री पर ही भारी पड़ता है, क्योंकि यह कृत्य मंत्र, हवन जैसे धार्मिक अनुष्ठान के रूप में संपन्न होता है और धार्मिक शपथ की तरह लड़की पति को परमेश्वर मान लेती है। परमेश्वर की शरण में पर कतर दिए जाते हैं, पांवों में बेड़ियां पहना दी जाती हैं।"[73]

पति द्वारा की गई मारपीट, अत्याचार से मुक्ति के लिए कौसल्या बैसंत्री चालीस साल के विवाहित जीवन को पूरी तरह ध्वस्त कर तलाक का केस दर्ज करती हैं। वास्तविकता यह है कि परिवार के प्रति पुरुष गैर–जिम्मेदार रहता है। सारे दायित्व स्त्री को निभाने पड़ते हैं। बावजूद इसके सारे दायित्वों के प्रतिफल में

स्त्री को हिंसा और अत्याचार के अलावा और कुछ हासिल नहीं होता। न केवल कौसल्या बैसंत्री अपने पति से अलग होती है बल्कि उनकी आजी (नानी) भी पति के अत्याचार से त्रस्त आकर घर छोड़कर अपने बच्चों का पालन–पोषण खुद करती हैं। दलित समाज की यह सच्चाई है कि जो पुरुष जितना निकम्मा होता है वह स्त्री को उतना ही अधिक उत्पीड़ित करता है। आजी के प्रति पति की हिंसा को व्यक्त करते हुए कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "अजोबा रोज दारु पीते और अपना गुस्सा आजी पर उतारते थे। संभवत वे आजी के सौंदर्य के आगे अपने को हीन समझते थे। सनकी थे।"[74] गुलामी के इससे ज्यादा नायाब नमूने और क्या होंगे जहाँ स्त्री सेवा–सहूलियत देने की शर्तों पर अपने वैवाहिक जीवन की शुरुआत करती है। सवाल यह उठता है कि कौसल्या पति द्वारा इतना अत्याचार सहने के बावजूद चालीस वर्षों तक पति को छोड़ने का निर्णय क्यों नहीं ले सकीं? इसके पीछे स्त्री की सुरक्षा और आर्थिक निर्भरता के लिए पति पर निर्भरता की मानसिकता है। पितृसत्ता ने स्त्री को 'सुरक्षा' और 'संरक्षण' का पाठ इस भांति पढ़ाया है कि इसके चलते वह अपने शोषण को भूलने की कोशिश करती रहती है। पति के अत्याचारों से मुक्ति के लिए बेहद आवश्यक है स्त्री की आत्मनिर्भरता। अपने अधिकारों के लिए स्त्री को स्वयं लड़ना होगा। कौसल्या बैसंत्री स्त्री की सशक्तता के लिए बेहद आवश्यक मानती हैं उसकी आत्मनिर्भरता। आत्मकथा में उन्होंने लिखा है "आज के अनुभव से हमने सीख लिया है कि अगर हम स्वाभिमान से अपनी उन्नति करना चाहते हैं, तब हमें अपने पाँव पर खड़ा होकर, अपने पर भरोसा रखकर, आगे बढ़ना होगा। हमें अपने अंदर शक्ति पैदा करनी होगी। किसी का सहारा लेकर चलने से काम नहीं बनेगा।"[75]

सुशीला टाकभौरे का विवाह अपनी उम्र से कहीं अधिक बड़ी उम्र के व्यक्ति के साथ होता है। सुशीला ने धार्मिक कथाओं से यही सीखा था कि 'पति बूढ़ा, बीमार, कोढ़ी, कलंकी – कैसा भी हो, पूजनीय होता है। यही कारण है कि सुशीला अपने विवाह का विरोध नहीं करती हैं। विवाह के पीछे छिपी हिंदूधर्म की इस मानसिकता के विषय में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "हिंदू धर्मग्रंथ में निर्देश है, लड़की की उम्र से तीन गुना बड़ी उम्र के वर से विवाह किया जा सकता है। यदि लड़की दस साल की हो तो तीस साल के वर से विवाह हो सकता है। हिंदू धर्म इसे अनमेल विवाह नहीं कहता, बल्कि इसे प्रोत्साहन देता है। लोग धर्म के नाम पर अक्सर चुप रह जाते हैं। स्त्रियाँ यह सन्ताप चुपचाप भोगती हैं। बचपन से निर्बल–अबला के साँचे में ढ़ाली गई कमजोर मानसिकता के कारण वे इस अन्याय का विरोध नहीं कर पातीं।"[76] सुशीला का विवाह जीवन में अनेक बंधन लेकर आता है। पति की प्रताड़ना, सास का अत्याचार, ननद का दुर्व्यवहार विवाह संस्था पर से

सुशीला का विश्वास पूरी तरह से उठा देता है। पति द्वारा उपेक्षित और स्वयं आत्मनिर्भर होने के बावजूद सुशीला पति से अलग क्यों नहीं हो पायीं? यह पत्नी के संरक्षण की ख्वाहिश है या अकेलेपन की घबराहट के कारण पति द्वारा उत्पीड़ित होने की मजबूरी? सुशीला पति द्वारा की गई उपेक्षा तिरस्कार, मारपीट, हिंसा का जिम्मेदार पति को न मानकर सामाजिक व्यवस्था को मानती हैं, "मैं इसका दोष टाकभौरे जी को नहीं, बल्कि इस समाज व्यवस्था को देती हूं जहां स्त्रियों को हमेशा नगण्य माना जाता है। पुरुष अपनी पत्नी को पीट सकता है, वह इस बात को शर्म की नहीं, अपने गौरव की बात मानता है। वह इसे पति होने के अपने तानाशाही अधिकार के रुप में मानता है।"[77] सुशीला जैसी उच्चशिक्षित और आत्मनिर्भर महिला द्वारा स्त्री को पैरों की जूती मानने वाले पति से संबंध विच्छेद न कर उसके साथ रहना स्त्री की गुलामी को और अधिक बढ़ावा देने जैसा है। जब एक आत्मनिर्भर स्त्री विवाह संस्था के अंदर होने वाले तमाम शोषणों के नाम पर संस्कृति और परंपरा की दुहाई देने लगती है तो हम उन तमाम स्त्रियों द्वारा पति से बगावत करने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं जो स्वयं में अनपढ़, अशिक्षित और आर्थिक रुप से पूरी तरह से पति पर निर्भर हैं?

विवाह के मामले में स्त्रियों को पुरुषों ने अपनी संपत्ति माना है। पुरुष ने स्त्री को केवल और केवल शरीर माना है और शरीर की तरह इस्तेमाल भी किया है। पति की कब्जेदारी से बाहर झाँकनेवाली स्त्री सजा की अधिकारिणी हुई। स्त्री द्वारा अपनी समस्त इंद्रियों के साथ अपने आजाद ख्यालों को भी पति के चरणो में सौंपने की दुहाई यह समाज देता रहा। पति के रुप में पुरुष स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक रुप से प्रताड़ित करता रहा। आत्मकथा के माध्यम से यह सामने आया है कि पति द्वारा इतनी प्रताड़ना और पशुवत् व्यवहार सहने के बावजूद स्त्रियाँ अपने पतियों से जुड़ी रहीं। कुछ ने अलग होने का निर्णय लिया तो पूरी उम्र पार होने के बाद। आत्मनिर्भर और शिक्षित होने के बावजूद स्त्रियाँ विवाह के नाम पर होनेवाले शोषण को झेलती रहीं। विवाह और तलाक के मामले में यद्यपि सवर्ण महिलाओं की अपेक्षा दलित महिलाएं निर्णय लेने के लिए अधिक स्वतंत्र हैं। बावजूद इसके दलित महिलाएं व्यवस्था के दंशों को झेलती हैं, कभी व्यवस्था के नाम पर तो कभी पति पर निर्भरता के नाम पर।

यह सच है कि पति द्वारा किए गए अत्याचारों को दलित महिलाएं मर्यादा के नाम पर छिपाती नहीं है फिर भी पति की प्रताड़ना को सहना अपना धर्म मान लेती हैं। कौसल्या बैसंत्री भी चालीस साल बाद पति से अलग होने का निर्णय लेती हैं और सुशीला टाकभौरे पति से अलग ही नहीं हो पाती हैं। विवाह के मामले में

दलित पुरुषों ने सवर्णों की तरह ही स्त्री को अपनी संपत्ति की तरह इस्तेमाल किया है। कभी पति का अत्याचार, उत्पीड़न तो कभी चरित्रहीनता जैसे आरोप विवाह संस्था के भीतर होने वाले दलित स्त्री के शोषणों पर से पर्दा उठाते हैं। तलाक के मामले में यद्यपि दलित स्त्री सवर्ण स्त्री की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र है लेकिन वह भी बहुत बार तलाक जैसे मुद्दों से स्वयं को बचाती भी है। हिंसा और अत्याचार सहने के बावजूद तलाक न लेने के पक्ष में दलित स्त्री भी माता–पिता द्वारा दिए गए संस्कारों, बच्चों की परवरिश के लिए पिता की अनिवार्यता की दुहाई देने लगती है। अपने अधिकारों के प्रति जागरूक दलित स्त्रियां भी विवाह संस्था को तलाक जैसे मुद्दों से कोसों दूर रखती हैं।

पति की प्रताड़ना सहने के बावजूद कौसल्या बैसंत्री अपनी लगभग आधे से अधिक उम्र पति के साथ बिता देती हैं। वह पति से अलग होने का फैसला तो लेती हैं लेकिन विवाह होने के चालीस वर्ष बाद। सुशीला टाकभौरे पर माता–पिता द्वारा दिए गए संस्कारों, कर्तव्यों का प्रभाव इतना अधिक है कि वह पति की प्रताड़ना को अपना जीवन भाग्य समझ बैठती हैं। वहीं दूसरी ओर मोहनदास नैमिशराय अपनी पत्नी को असहाय और अबला के रूप में देखते हैं। सूरजपाल चौहान अपनी पत्नी को चरित्र और संदेहों के घेरे में खड़ा कर देते हैं। एक ओर जहाँ दलित पुरुष आत्मकथाकार विवाह के नाम पर स्त्री को झूठी मर्यादाओं के घेरे में खड़ा करते हैं वहीं दूसरी ओर दलित स्त्री आत्मकथाकार विवाह संस्था के नाम पर होने वाले शोषणों को काफी हद तक व्यक्त करती है। दोनों ही स्थितियों में स्त्री का शोषण ही सामने आया है। आत्मकथाओं में विवाह के नाम पर होने वाली हिंसा को दलित स्त्री आत्मकथाकारों ने जितना दिखाया है उतना ही दलित पुरुष आत्मकथाकारों ने छिपाया है या स्त्री को ही आरोपी सिद्ध किया है।

(घ) शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता

लगभग सभी दलित आत्मकथाओं में लेखकों द्वारा 'शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता' के विभिन्न प्रसंगों का जिक्र हुआ है। यद्यपि इन आत्मकथाओं का प्रधान उद्देश्य दलित जीवन को उसके सभी पहलुओं के साथ उजागर करना है तथापि स्त्री शिक्षा का प्रसंग कभी आत्मनिर्भरता के मामले में तो कभी पुरुषों के आनुषंगिक रूप में सामने आया है। स्त्रियों के लिए शिक्षा न केवल आर्थिक आजीविका का माध्यम बनती है बल्कि घर की चारदीवारी के भीतर होने वाले शोषण से मुक्ति की एक समझ भी देती है। शिक्षा व्यक्तित्व को विकसित करने की प्रक्रिया है। शिक्षा के महत्त्व को जानते हुए डॉ. अंबेडकर ने स्त्री की शिक्षा पर बहुत अधिक जोर दिया। डॉ. अंबेडकर का कहना था कि स्त्री को शिक्षित किए बिना राष्ट्र का विकास संभव नहीं है। यह सच है कि शिक्षा स्त्री को कठिन समय में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के लिए एक मार्ग तैयार करती है जिससे स्त्री किसी अन्य पर निर्भर न होकर अपने पैरों पर खुद खड़ी हो सके। वहीं दूसरी ओर अशिक्षित स्त्री शोषण के चक्र में पिसने के लिए मजबूर होती है। शिक्षा के अभाव में न तो वह अपने अधिकारों को जान पाती है और न ही अपने जीवन को अपने ढंग से जीने का निर्णय ले पाती है।

ब्राह्मणवाद ने जहाँ एक ओर दलितों को जाति के नाम पर शोषित किया वहीं दूसरी ओर स्त्री को शिक्षा जैसे अधिकारों से वंचित रखा। चूंकि शिक्षा व्यक्ति में स्वतंत्रता का एहसास कराती है इसलिए ब्राह्मणवाद ने दलितों के लिए ज्ञान पर प्रतिबंध लगाया। ब्राह्मणवाद से पीड़ित दलित समाज ने भी स्त्री को शिक्षा से दूर रखा। जब दलितों के बच्चे स्कूल जाने लगे तो लड़कियों को स्कूल न भेजकर गृहस्थी के काम–काज या माँ–बाप के काम में हाथ बँटाने के लिए कहा गया। मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है, "उस समय दलितों की बस्ती में स्कूल होना भी बड़ी बात थी। लोग स्कूल को शिक्षा का सूरज मानते थे। बस्ती में जैसे–जैसे सूरज उगेगा–बढ़ेगा वैसे–वैसे अशिक्षा के साथ कुरीतियां तथा कुप्रथाएं दूर होंगी। बस्ती के लोग अपने बच्चों को पढ़ाने–लिखाने में रुचि लेने लगे थे। पर लड़कियों को स्कूल में न भेजा जाता था। उनका स्कूल भेजना खराब माना जाता था। वे घर पर ही रहती थीं और अपनी माँओं, चाचियों, भाभियों के साथ घर के काम कराती थीं। पोतड़े धोने से बच्चों को गोद में उठाए–उठाए खिलाने का कार्य अधिकतर उन्हें सौंपा जाता था।"[78] शिक्षा व्यक्ति को उसके अधिकारों के प्रति सजग करती है। स्त्री को शिक्षा से दूर रखने के पीछे स्त्री की सजगता को कैद करने की मानसिकता निहित है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी 'जूठन' में लिखा है, "बहन को स्कूल भेजने

का सवाल ही नहीं था।"[79] सवर्णों की तरह ही दलित समाज में भी स्त्री को शिक्षा से वंचित रख स्त्री धर्म निभाने की सीख दी गई। पति व परिवार के प्रति समर्पण भाव स्त्री धर्म है।

कौसल्या बैसंत्री ने स्त्री की आत्मनिर्भरता के प्रश्न को स्त्री के शोषण से मुक्ति के रूप में दिखाते हुए लिखा है, "परंतु आजी वापस नहीं आईं। अपने पाँवों पर खड़ी रहकर अपने बच्चों को पाल रही थीं। आजी ने कभी अपने हाथ किसी के आगे नहीं फैलाए। वह जी–तोड़ मेहनत कर रही थीं।"[80] कौसल्या की आजी (नानी) भले ही अशिक्षित हैं लेकिन मेहनत कर अपनी आजीविका खुद कमाकर वह पति के शोषण से मुक्त होती हैं। स्त्री की आत्मनिर्भरता पति और परिवार द्वारा होने वाले स्त्री के शोषण से मुक्ति का एक बहुत बड़ा माध्यम होती है। कौसल्या की माँ भी एक्सप्रेस मिल में दिहाड़ी पर काम करती हैं। एक माँ की आत्मनिर्भरता बच्चों के भविष्य निर्माण में अहम् भूमिका निभाती है। कौसल्या और उनकी बहनों की शिक्षा भी उनकी माँ के कारण ही संभव हो पाती है। दलित समाज में जहाँ शिक्षा को बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया जाता था वहीं कौसल्या की माँ की शिक्षा के प्रति जागरूकता उनकी बेहतर समझ को दिखाती है। कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है, "माँ ने मुझे और मेरी बड़ी बहन को उनके स्कूल में भेजना शुरू किया। यह स्कूल उस वक्त प्राइमरी स्कूल ही था (अब हाईस्कूल हो गया है) हम दोनों नियमित रुप से स्कूल जाती थीं।"[81] कौसल्या की माँ का अपनी बेटियों की शिक्षा के लिए दृढ़संकल्प "... चाहे कितनी भी अड़चनें क्यों न आएं, हम सब भाई–बहन को ऊँची शिक्षा देंगी।"[82] स्त्री–शिक्षा का एक आदर्श बनकर सामने आता है।

शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में तुलसीराम ने एक मार्मिक प्रकरण का उल्लेख किया है। इस प्रकरण में दलित जीवन के साथ–साथ स्त्री की शिक्षा और आत्मनिर्भरता के बहुव्यंजक संकेत मिलते हैं। तुलसीराम लिखते हैं, "इसी बीच मुझे एक अकल्पनीय समस्या से जूझना पड़ा। मेरे पिताजी जिन पंडितजी की हरवाही करते थे, उनकी बेटी आशा लगभग मेरी ही उम्र की थी, किंतु देर से पढ़ाई शुरु करने के कारण कक्षा पाँच में पढ़ रही थी। हरवाही के चलते वह हमारे पूरे परिवार से घुली–मिली रहती थी। स्कूल आते–जाते जब भी वह साथ होती, मुझसे अपना 'होमवर्क' हल करवाती रहती थी, विशेष रुप से गणित। वह 'भैया' के संबोधन से मुझे बुलाती भी रहती थी। एक दिन वह स्कूल के पास वाले नाले के किनारे अकेले खड़ी थी। मैं स्कूल से आते हुए दूर से ही देख रहा था कि कोई नाले में थोड़ी दूर जाकर फिर किनारे वापस आ जाता था। हुआ यह था कि अचानक नाले में ज्वार की तरह अधिक पानी चढ़ आया था। उस समय छोटी–छोटी लड़कियां भी साड़ी पहनती थीं। अतः वह अपनी साड़ी उठाए घुटने तक पानी में जाती किन्तु आगे अधिक पानी

के चढ़ाव के कारण वापस आ जाती थी। वह नाले के कई हिस्से में छिछली जमीन की खोज में जाकर देख चुकी थी, किंतु उससे नाला पार नहीं किया जा सका। मैं जब वहां पहुंचा तो बेझिझक मैंने कहा कि कोई बात नहीं, मैं नाला पार कराता हूं। ... मेरा कुर्ता–धोती तथा बस्ता बेझिझक उसने हाथों में पकड़ लिया और मैं जमीन पर बैठकर उसके घुटने के नीचे के पैरों को पकड़कर खड़ा हो गया। उसका धड़ मेरे कंधों के पार चला गया। कमर भर पानी में हल कर हम नाला के उस पार पहुंच गए। मेरे पिताजी भी अनेक बच्चों को नाला पार कराते रहते थे। अतः मेरे अंदर भी इस क्रिया में किसी तरह का संकोच नहीं होता था। अचानक एक बड़ी मुसीबत यह आ गई कि नाले के उस पार गांव के कुछ ब्राह्मण छात्र दूर से ही रामचरितमानस के इस नए 'केवट प्रकरण' को बड़े गौर से देख रहे थे। जाहिर है तिल का ताड़ बनना ही था। तरह–तरह की अफवाहें गर्म होने लगीं, ये अफवाहें उसके पिता को भी सुनाई पड़ीं। घबराकर उन्होंने उसका स्कूल जाना बंद करा दिया। वह मुश्किल से बारह साल की थी किंतु अनहोनी का भय भयानक था, इसलिए साल भर के ही अंदर उसकी ससुराल ढूंढ ली गई। विदाई के समय मेरी माँ भी वहां मौजूद थी। घर वापस आकर माँ ने बताया कि डोली में बैठते समय पंडित की बेटी रो–रोकर कहती रही कि 'हमार पढ़ैया छूटि गयल हो बाबा'।"[83] शिक्षा का महत्त्व जितना पुरुषों के लिए है उतना ही स्त्रियों के लिए भी। पंडित की बेटी द्वारा पढ़ाई छूटने के प्रसंग को जोर–जोर से कहना शिक्षा के महत्त्व की ओर इशारा करता है।

शिक्षा के संदर्भ में तुलसीराम द्वारा 'मणिकर्णिका' में वर्णित उत्पलवर्णा प्रकरण का उल्लेख किया जा सकता है जहाँ एक दलित पुरुष एक गैर हिंदू स्त्री के सहयोगी के रुप में सामने आता है जिसका वायस बनती है शिक्षा। कलकत्ते की एक ईसाई युवती जो बीएचयू में प्राइवेट बीए की परीक्षा देने आती है, कैसे तुलसीराम के रूप में अपना सहचर प्राप्त करती है। एक प्रसंग दर्शनीय है, "उसने कहा कि इंग्लिश और पॉलिटिकल साइंस का कोर्स समझ में नहीं आ रहा। करीब आधे घंटे तक वह दरवाजे के बीच खड़ी होकर बातें करती रही और मुझसे पढ़ाई में सहायता करने को कहा। सहायता की बात सुनकर मैं उत्तेजित हो गया था। मैंने कहा कि जो कुछ पढ़ता हूं, उसे आपको बता दूंगा। किंतु पॉलिटिकल साइंस मेरा विषय नहीं है, फिर भी किताब से पढ़कर समझा सकता हूं। कल से हमारी पढ़ाई शुरु होगी, ऐसा कहकर वह अपना नाम बिना बताए वापस मुड़ गई।... उसने दरवाजे में जिस तरह खड़ी होकर पढ़ाई में मदद माँगी थी, मैंने महसूस किया था कि जैसे कोई ताजा फूलों का गट्ठर खुद पैदल चलकर आया हो, जो हवा के झोंकों से अचानक उड़ गया। इसके पहले इतना लगाव किसी से भी नहीं हुआ था,

शायद बुद्ध से भी नहीं। उस रात उसके द्वारा बोले गए सारे शब्दों को दोहराता रहा।"[84] मानी हुई बात है कि साहचर्य से प्रेम का स्वाभाविक विकास होता है। आत्मनिर्भर हुए बिना प्रेम का पल्लवन संभव नहीं। शिक्षा के बिना आत्मनिर्भरता प्रायः संभव नहीं हो पाती। उत्पलवर्णा जो कलकत्ते के एक हाईस्कूल में अंग्रेजी की शिक्षिका हो गई है, दो रुपए के टिकट पर एक ही बर्थ पर तुलसीराम के साथ आधे–आधे लेटकर बनारस से कोलकाता तक जाने का निर्णय क्या शिक्षित और आत्मनिर्भर हुए बिना कर पाती!

दलित समाज में जहाँ यह मान्यता है कि 'बेटी को पाल–पोस कर शादी कर दो', वहीं सुशीला टाकभौरे की माँ, नानी शिक्षा के प्रति जागरुक दिखाई देती हैं। सुशीला टाकभौरे गरीबी और अभावों के बीच रहकर अपमान, उपेक्षा और तिरस्कार सहते हुए भी उच्चशिक्षा प्राप्त करती हैं। इसका पूरा श्रेय वह अपनी माँ और नानी को देती हैं। आगे पढ़ने के दृढ़ निश्चय के कारण ही सुशीला अभावग्रस्त जीवन जीते हुए भी परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर लेती हैं। आत्मकथा का एक प्रसंग शिक्षा के प्रति सुशीला की पूर्ण जागरुकता को दिखाता है, "मैंने दृढ़ निश्चय के साथ कहा था – मैं खाना नहीं खाऊंगी। पहले कॉलेज में मेरा एडमिशन कराओ तब कुछ खाऊंगी।"[85] शिक्षा के लिए बेहद जरूरी है जागरूकता। शिक्षा स्त्री के जीवन में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाती है। कई बार सुविधा और अवसर के अभाव में स्त्रियां शिक्षा हासिल नहीं कर पातीं। उच्च शिक्षा प्राप्त कर सुशीला शिक्षिका की नौकरी करने के साथ ही आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर हो जाती हैं। आर्थिक रुप से आत्मनिर्भरता सुशीला को पति के शोषण से मुक्ति में अहम् भूमिका निभाती है। सुशीला टाकभौरे ने लिखा है, "मध्यप्रदेश के बानापुरा जैसे एक छोटे गांव की सामान्य अछूत लड़की ने नागपुर आकर अपनी लगन, निष्ठा, दृढ़ निश्चय के साथ उच्च शिक्षा प्राप्त की और डॉक्टरेट की उपाधि पाकर कहलाने लगी 'डॉ. सुशीला टाकभौरे'। मेरी माँ ने जहाँ तक नहीं सोचा था, मैं वहां तक पहुंच सकी।"[86] अभावग्रस्त और तनावग्रस्त जीवन जीते हुए सुशीला टाकभौरे द्वारा उच्चशिक्षा के लिए किया गया संघर्ष स्त्रियों के लिए प्रेरणास्रोत बनकर सामने आता है।

दलित समाज में आज भी गरीबी और अभावग्रस्त जीवन के चलते स्त्रियों की शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है। वहां पेट की भूख सबसे बड़ी समस्या होती है। आत्मनिर्भरता के मामले में दलित स्त्री पति पर निर्भर न होकर अपनी आजीविका से अपना जीवन जीने का माद्दा रखती है। अनेक बार तो पति ही पूरी तरह से अपनी पत्नी पर निर्भर रहता है। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि दलित स्त्री परिवार के भरण पोषण में मुख्य भूमिका निभाती है। यदि

वह शिक्षित है तो नौकरी आदि के जरिए और यदि अशिक्षित है तो मजदूरी के जरिए वह अपने बच्चों का पालन पोषण अपने दम पर करती है। सवर्ण स्त्री की तरह वह पति के सामने पैसों के लिए हाथ नहीं फैलाती बल्कि अपनी कमाई से पति को भी खर्चा देने का जज्बा रखती है। सवर्ण स्त्री की तरह वह झूठी मर्यादाओं में नहीं जीती है। सवर्ण स्त्रियां शिक्षित होने के बावजूद मान–मर्यादा के चलते घर की चारदीवारी में कैद रहती हैं, वहीं दूसरी ओर दलित स्त्रियां मर्यादाओं के घेरे को तोड़कर अपना रास्ता स्वयं बनाती हैं।

(च) दलित लेखकों की स्त्री दृष्टि

दलित आत्मकथाओं का एक सच यह भी है कि ज्यादातर रचनाकार स्त्री प्रसंग आने पर या तो प्रतिक्रियावादी (यदि स्त्री सवर्ण हुई तो) हो गए हैं या अतियथार्थवादी (यदि स्त्री उनके ही वर्ग कुल की हुई तो)। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा के दोनों खंडों में स्त्री दृष्टि ऐसी गड्डमड्ड हुई है कि खुद मोहनदास नैमिशराय जैसे दलित लेखक और आलोचक को कहना पड़ा कि चौहान ने निजी संबंधों का नंगा नाच पाठकों के सामने परोस दिया है। यह इसलिए भी उल्लेखनीय है क्योंकि आत्मकथा के द्वितीय उत्थान 'संतप्त' की भूमिका में इस बात का जिक्र किया गया है।

सूरजपाल चौहान ने सवर्ण स्त्रियों के प्रसंग में सचेत रुप से अपनी निरीहता को गौरवान्वित किया है। एक प्रसंग आता है जब वे भारत सरकार के एक उपक्रम में अधिकारी के पद पर कार्यरत थे और उन्होंने एक नौकरानी रख ली थी। संयोग से वह नौकरानी सिंधी ब्राह्मण थी। उस नौकरानी ने चौहान के कहे अनुसार उनसे अधिक पगार की मांग की थी। इसका कारण जानने के लिए उन्होंने कुछ दूसरी औरतों का उल्लेख किया जो कि कम पगार पर भी काम कर रही थीं। इसका कारण अपनी ऊँची जाति बताते हुए वह नौकरानी कहती है कि "सर, वह औरत पहले गांधीधाम की म्युनस्पल्टी में झाड़ू लगाने का काम करती थी। उसकी वहाँ से नौकरी छूट गई और अब वह घरों में चौका बर्तन व रोटियां सेकने का काम करती है। क्या आप उसके हाथों की बनी रोटियां..." वह रौ में बोले जा रही थी और मैं उसकी ओर हतप्रभ होकर देखे जा रहा था। पल भर के लिए रुककर उसने अपना गला खकारा और फिर अपना स्पष्टीकरण देते हुए बोली – "सर, मैं गोस्वामी हूँ, सिंधी ब्राह्मण।" ...मैं पुष्पा की बात सुनकर तड़प उठा। बेचैनी के मारे मेरा बुरा हाल था। अवतार सिंह ने मुझे बहुत समझाया कि इस अनपढ़ औरत ने जो कहा है, मैं उसका बुरा न मानूँ। मुझसे रहा न गया और मैं लगभग चीखते हुए बोला – "पुष्पा तुम्हें पता है तुम क्या कह रही हो, मैं भी तो भंगी जाति से हूँ।" ... "सर ऐसा न कहो, देखो – मैंने कहा था कि आप सभी बुरा मान जाएंगे। मान गए न बुरा" ... "बुरा तो मानना ही है, तुम एक नौकरानी ...। "नौकरानी हूं तो क्या हुआ? हूँ तो ब्राह्मण।" उसने तुरंत ही मेरी बात काटते हुए उत्तर दिया।"[87] देखने की बात है कि जाति की बात तो सूरजपाल चौहान पूरे बलाघात के साथ करते हैं किंतु वर्ग दृष्टि की बात कितनी सफाई से टाल गए हैं। वह नौकरानी सवर्ण होने के पहले या साथ–साथ एक स्त्री और एक सर्वहारा वर्ग की प्रतिनिधि भी तो थी। यदि सूरजपाल चौहान यह कह सकते हैं कि तुम एक नौकरानी होकर इस तरह से कैसे

बात कर सकती हो, तो वे किस नैतिक अधिकार से अपने जाति उत्पीड़न का बखान कर सकते हैं? मानसिकता की समस्या एकतरफा नहीं हो सकती है। असंगठित क्षेत्र की एक कामकाजी सवर्ण महिला और संगठित वर्ग के एक दलित अफसर के बीच की बातचीत हमारे समाज की वास्तविक समस्या को उजागर करती है।

स्त्री दृष्टि के नाम पर स्त्री की यौनिकता को बढ़ा चढ़ाकर पेश करना किंचित आत्मकथाकारों का शगल बनता जा रहा है। दलित आत्मकथाएं भी इसका अपवाद नहीं हैं। यहाँ पुरुष यौनिकता तो मानव शरीर की व्यवस्था है किंतु स्त्री यौनिकता अयाचित असुविधा का वायस बन बैठती है। कुछ लेखकों ने तो इस संदर्भ में साहित्यिकता की सीमा पार कर दी है। गोकि उन्हें काव्यशास्त्र के अश्लीलत्व दोष से कोई सरोकार कभी था ही नहीं क्योंकि शास्त्रीयता के बद्ध प्रतिमान भी तो तोड़ने थे। हालांकि साहित्य और पोर्न का फर्क उन्हें खुद ही पता चल जाता रहा। सूरजपाल चौहान जब अपनी बचपन की यादों की पर्तें उघेड़ते हैं तो उनसे ऐसे प्रसंग ही झड़ते हैं। यहाँ यह भी गौरतलब है कि बचपन की यादें इतनी मांसल और सजीव हैं कि बच्चे की निगाह से यह दृश्य कई बार तो सच ही नहीं लग पाता। खैर एक प्रसंग देखें – "धीरे–धीरे उस घर में और भी कई तरह के काम होने लगे। अब वहाँ दो–तीन औरतों का भी आना शुरू हो गया। औरत और मर्द वहाँ साथ–साथ दारु पीते। घर के एक कोने में स्कूल जाने से पहले मैं अपना होम–वर्क पूरा कर रहा होता, वहीं दूसरे कोने में मेरे सामने ही बेहिचक औरत–मर्द दारू पीकर रति–क्रिया में संलग्न रहते। एक बार तो उस महिला ने हद ही कर दी। पुरुष उसके पास से उठकर अपना पाजामा पहनने में लगा हुआ था कि इतने में उस महिला ने चारपाई से लेटे–लेटे मेरी ओर देखकर नीचे पड़े एक कपड़े को उठाने को कहते हुए आवाज लगाई – अबे ओये लौंडे, यह कपड़ा उठाकर दियो। मैंने आवाज सुनकर उस महिला की ओर देखा। घुटनों से ऊपर तक उसकी साड़ी उठी हुई थी। मैं उस दृश्य को देखकर सकपकाकर रह गया था और दोबारा से अपने स्कूल का होमवर्क करने लगा। इस बार वह महिला लगभग चीखते और गाली देते हुए बोली – "अबे चुदाई खाने, तुझे सुनाई नहीं पड़ा, वो कपड़ा उठाकर दे।" मैंने जमीन पर पड़ा कपड़ा उठाकर उसके हाथ में थमा दिया था। वह बड़ी ही निर्लज्जता से उस कपड़े से बहुत देर तक अपने गुप्तांग को पोंछती रही। साथ खड़ा वह आदमी उसकी ओर देखकर मुस्काता हुआ बोला – "अभी यह छोटा है, थोड़ा बड़ा होता तो तेरे ऊपर अपना सामान लेकर चढ़ बैठता।" उस समय वह महिला पुरुष की बात सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। अब उस महिला ने मेरी ओर देखते और अपने गुप्तांग की ओर हाथ से संकेत करते हुए

कहा – क्यों बे, लेगा यह।" मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि यह सब क्या है।"[88] क्या साफगोई है कि उन्हें याद तो सब कुछ है लेकिन समझ कुछ नहीं आ रहा था। गुप्तांग पोछना, सामान लेकर चढ़ बैठना आदि बातें करते हुए भी एक भोले आत्मकथाकार की निश्छल दृष्टि पाठक को उनके 'भागे हुए यथार्थ' पर संदेह करने को विवश कर देती है। इतना कुछ लिखने के बाद भी उन्हें यह कहना पड़ता है कि, "उन सब बातों को लिखने के लिए मेरे पास शब्द तक नहीं हैं। अगर मैं वह लिखने बैठ जाऊँ तो वह एक किस्म का पोर्नो लिटरेचर बन जाएगा। पर यह पोर्नो लिटरेचर मेरी जिंदगी का बीभत्स सच है।"[89] हालांकि उन्होंने अपने अतियथार्थवादी परिवेश का चित्रण करते हुए अपनी जिंदगी का बीभत्स सच (पोर्नो लिटरेचर) पाठकों के सामने उड़ेल ही दिया है।

एक तरफ स्त्री दृष्टि का वह कोण है जहाँ से यथार्थ पोर्नो में बदल जाता है वहीं दूसरी तरफ तुलसीराम की 'मुर्दहिया' में एक दूसरा कोण भी है जिसमें स्त्री के प्रति नजरिया (चाहे सवर्ण हो या अवर्ण, सधर्मी हो या विधर्मी) साथी भाव और ठेठ जीवन के साहचर्य से जुड़ा है। तुलसीराम ने अपने बचपन की यादों के आईने से एक प्रतिछवि निर्मित करते हुए एक कन्या का उल्लेख किया है। वह कन्या ब्राह्मण कुलोत्पन्न थी तथा उसके घर में ही तुलसीराम के पिता हरवाही का काम किया करते थे। वय में कदाचित तुलसीराम के बराबर की ही वह कन्या तुलसीराम से अपना होमवर्क करवाया करती थी। तुलसीराम को भैया बोलती तथा ज्यादातर गणित के सवाल हल करवाती। जैसा कि 'शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता' के उपशीर्षक में आधुनिक 'केवट प्रकरण' का उल्लेख किया जा चुका है, उसी को याद करते हुए तुलसीराम बहुत बाद के वर्षों में जेएनयू प्रवास का एक जिक्र करते हैं। उस जिक्र में उन्होंने उस ब्राह्मण कन्या का पश्तो साहित्य की अमर नायिका मलालई से तुलना की है। तुलसीराम के ही शब्दों में, "इस संदर्भ में वर्षों बाद जब सन् 1977 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में मैं पश्तो भाषा पढ़ रहा था, तो काबुल के प्राध्यापक बेयेजिद हात्साक साहब ने पढ़ाते हुए बताया कि पश्तो साहित्य में मलालई (मलाली) की लंडइयाँ सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। छोटे–छोटे दोहे जैसे रचनाओं को पश्तो में लंडई कहते हैं। मलालई किसी मध्ययुगीन अफगानी राजा की बेटी थी, जिसका लगाव उसके ही एक गुलाम से हो गया था। घबराकर राजा ने मलालई को जेल में बंद कर दिया। जेल की कोठरी में उसके पास न कागज था न कलम। अतः वह उंगलियों को घायल कर निकलते हुए खून से दीवारों पर लंडइयां लिखने लगी। यह रचनाएं बाद में चलकर पश्तो साहित्य की अमूल्य निधि सिद्ध हुईं। ऐसा सुनकर क्षण भर के लिए मेरी कल्पना से होकर एक नई मलालई गुजर गई।"[90] स्त्री दृष्टि से जीवन का एक यथार्थ यह भी

है और एक यथार्थ सूरजपाल चौहान का भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही आत्मकथाकार दलित हैं और बचपन की स्मृतियों में ब्राह्मणवादी व्यवस्था का दंश किसी ने कम नहीं झेला है।

मोहनदास नैमिशराय भी जब अपने बचपन के दिनों को याद करते हैं तो उनकी दृष्टि भी सूरजपाल चौहान की तरह ही स्त्री के मांसल रूप को अधिक देखती है। बचपन के प्रसंगों को शुद्ध देह के उत्सव के रुप में देखना स्त्री के प्रति लेखक के दृष्टिकोण को काफी हद तक उजागर कर देता है। कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं – "मेरे साथ पड़ोसी की एक लड़की भी होती जिसे भूरी कहते थे। वह भी मेरे साथ नहाती। साथ में कभी–कभी रघु भी। हम तीनों नंगे ही नहाते। नहाते हुए ऐसा भी होता कि हम दोनों के नंगे बदन एक–दूसरे से मिल जाते। पर उसकी चिंता न भूरी को होती और न मुझे पर मन होता कि हमारे शरीर बार–बार मिलें। न जाने क्यों? कभी–कभी हम एक–दूसरे के बदन पर गिर पड़ते। ... छुपने के लिए हमें एक–दूसरे से अपने–अपने बदन सटाने पड़ते थे। ... हम एक–दूसरे के और भी करीब हो जाते थे। ... उम्र जैसे–जैसे बढ़ रही थी वैसे–वैसे यह खेल दिन के उजाले में करने का मन होने लगा था। शरीर में अजीब तरह की भूख बढ़ने लगी थी।"[91] मोहनदास नैमिशराय की दृष्टि स्त्री को यौन रूप में देखने की अधिक रही है। नंगे बदन एक–दूसरे से मिलना और एक–दूसरे के ऊपर गिर पड़ना जैसे प्रसंग यथार्थ से परे देह का नग्न चित्रण अधिक लगते हैं। मोहनदास द्वारा अपने समुदाय की दलित स्त्रियों के विषय में यह कहना कि, "हमारी औरतें जंगल जाती हैं। एक टोकरी गोबर पर बिक जाती हैं। उनके पांव दबाती हैं। उनका बिस्तर बनती हैं...।"[92] स्त्री के प्रति लेखक के संवेदना रहित शुद्ध दैहिक चित्रण को सामने रखता है। वहीं दूसरी ओर तुलसीराम जब स्त्री का चित्रण करते हैं तो पूरी संवेदना और सहानुभूति के साथ स्त्री की परिस्थिति और समस्या को समझते हैं, "शायद कोई न कोई मजबूरी अवश्य रही होगी, अन्यथा मैला ढ़ोने वाली ये दोनों महिलाएं पण सुंदरिया नहीं बनती।"[93]

मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में जब भी किसी स्त्री का वर्णन करते हैं तो उस वर्णन क्रम में उनकी शुद्ध कामुकता नजर आती है। एक प्रसंग देखें, "सुभद्रा का रंग सांवला था और चेहरा सपाट। उसके नयन–नक्श तीखे न थे। पर कुछ दिनों से उसका शरीर भर आया था। कई बार खेल–खेल में उसकी अंगुलियां मेरी अंगुलियों में फंसी थीं। उसके गाल और होठों को जाने–अनजाने चूमा भी था। कोई ऐसा दिन न जाता था, जब हमारे बदन एक–दूसरे से न टकराते हों। हम खेलते–खेलते एक–दूसरे के ऊपर गिर पड़ते थे।"[94] आत्मकथा में ऐसे

अनेक प्रसंग हैं जहाँ मोहनदास नैमिशराय स्त्री संबंधी प्रसंगों को शारीरिक और वासनात्मक धरातल पर ले आते हैं। आत्मकथा के दोनों भाग स्त्री के प्रति लेखक की मांसल और दैहिक दृष्टि को दर्शाते हैं। 'अपने–अपने पिंजरे', भाग–2 में लेखक द्वारा अपनी उम्र से दोगुनी उम्र की महिला का इस प्रकार वर्णन स्त्री के प्रति लेखक के नजरिए को स्पष्ट कर देता है – "इस बार उसने दूसरी नाइटी पहनी हुई थी। जो पारदर्शी थी। भीतर के अंग साफ चमक रहे थे।"[95] लेखक द्वारा अपनी पत्नी के वर्णन में भी देह सबसे पहले निशाने पर होती है – "एक दिन शकुन की दोनों चूचियों को बारी–बारी से मुँह लगाकर दूध पिया था और दो दिन मैं वही दूध पीता रहा।"[96] सत्य और यथार्थ का वर्णन आत्मकथा की पहली शर्त होती है लेकिन यथार्थ को नग्नता के धरातल पर उतार देना घटनाओं, प्रसंगों की वास्तविक स्थिति पर संदेह उत्पन्न करता है।

दलित आत्मकथाकारों में तुलसीराम की स्त्री दृष्टि इस मायने में भी उदात्त है कि उसमें स्त्री को जैविक इयत्ता और देह से आगे जाकर एक ठेठ मानुषी के रूप में चित्रित किया गया है। वह तुलसीराम के लिए न देवी है न दासी। वह न आराधना की पात्र है न तिरस्कार की। वह निपट सहचरी और सहधर्मिणी के रूप में ही सामने आती है। अपनी मानवसुलभ भावनाओं और सीमाओं के साथ स्त्रियों के साथ निजी संबंधों का जो निर्वाह किया है, उनकी वही स्त्री दृष्टि पुरुष आत्मकथाओं के लिए निकष बन जाती है। 'मणिकर्णिका' का एक प्रसंग दर्शनीय है जिसमें उनकी सहचरी 'उत्पलवर्णा' बीमार तुलसीराम से मिलने अस्पताल आती है। तब तक वे कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन चुके थे और शिक्षा के साथ छात्र आंदोलनों में अनिवार्यतः हिस्सा लेने लगे थे। एक महीने के लिए जेल भी हो आए थे तथा अपना बीए का एक साल भी होम कर डाला था। उस दौरान उन्हें एक स्त्री का वास्तविक साह्चर्य का बोध हुआ जिसका बेहद मार्मिक चित्रण करते हुए वह लिखते हैं, "व्हीलचेयर पर मैं ज्यों ही ब्लड देकर बाहर निकला, उत्पलवर्णा अपना दुपट्टा मुझे ओढ़ाने के लिए दौड़ पड़ी। मुझे उस समय ऐसा लगा मानो मैंने एक नई जिंदगी ओढ़ ली।"[97]

जब आप कहीं दृष्टि डालते हैं तो उसका कोण देखने वाले की वास्तविक स्थिति का संकेत भी करा देता है। एक तरफ तुलसीराम जैसे दलित आत्मकथाकार हैं जिन्होंने अपनी दृष्टि का सार्वभौमीकरण कर दिया है तो दूसरी तरफ मोहनदास नैमिशराय और सूरजपाल चौहान जैसे दलित आत्मकथाकार भी हैं जिन्होंने स्त्री दृष्टि को बेहद संकुचित कर दिया है। इस आधार पर यह समझा जा सकता है कि तुलसीराम और मोहनदास नैमिशराय तथा सूरजपाल चौहान की स्त्री दृष्टि एक

नदी के दो किनारे जैसी है जिनमें से होकर बह रही रचनाशीलता में कहीं स्वच्छ धवल जल प्रवाहित हो रहा है तो कहीं गंदला पानी। हालांकि दलित आत्मकथा की जो तकनीक अभी भी विकसनशीलता की स्थिति में है उसमें अपार संभावनाएं अभी भी शेष हैं और दलित आत्मकथाकारों की स्त्री दृष्टि उपर्युक्त प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए भी व्याख्यायित की जानी चाहिए।

सन्दर्भ सूची

1 ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 22
2 वही, पृ. 28
3 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे : समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 24
4 बजरंग बिहारी तिवारी – दलित साहित्य एक अन्तर्यात्रा, पृ. 185–186
5 ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 40
6 मंजू सुमन – दलित महिलाएं, पृ. 138
7 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ.
8 दया पवार – अछूत, पृ. 54
9 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ. 15
10 मैत्रेयी पुष्पा – आवाज, पृ. 156
11 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ 21
12 वही, पृ. 160
13 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 21
14 वही, पृ. 82–83
15 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 27
16 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, भूमिका
17 वही, पृ. 15–16
18 वही, पृ. 53
19 वही, पृ. 78
20 वही, पृ. 78
21 वही, पृ. 45
22 सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 24
23 वही, पृ. 25
24 सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 86
25 तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 71–72
26 वही, पृ. 73
27 वही, पृ. 174
28 वही, पृ. 174–175
29 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 177
30 वही, पृ. 180
31 सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, भूमिका
32 वही, पृ. 18–19
33 वही, पृ. 45
34 वही, पृ. 111
35 वही, पृ. 224
36 वही, पृ. 289

37 मंजू सुमन – दलित नारी एक विमर्श, पृ. 311
38 बजरंग बिहारी तिवारी – दलित साहित्य एक अन्तर्यात्रा, पृ. 157
39 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ 69
40 वही, पृ. 70
41 वही, पृ. 119
42 बजरंग बिहारी तिवारी – दलित साहित्य एक अन्तर्यात्रा, पृ. 195
43 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 37
44 वही, पृ. 106
45 वही, पृ. 30
46 वही, पृ. 109
47 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 9
48 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 133
49 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 88, 91
50 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 11
51 वही, पृ. 37
52 मैत्रेयी पुष्पा – तब्दील निगाहें, पृ. 159
53 कौसल्या बैसंत्री – पृ. 72
54 वही, पृ. 73
55 वही, पृ. 113
56 वही, पृ. 120
57 तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 16, 17
58 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 57
59 सुशीला टाकभौरे – शिंकजे का दर्द, पृ. 17
60 वही, पृ. 34
61 वही, पृ. 38
62 वही, पृ. 90
63 वही, पृ. 133
64 वही, पृ. 193
65 वही, पृ. 146
66 वही, पृ. 197
67 उमा चक्रवर्ती – जाति समाज में पितृसत्ता, पृ. 82–83
68 सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 95–96
69 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 57
70 वही, पृ. 57
71 वही, पृ. 58
72 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, भूमिका
73 वही, पृ. 53
74 वही, पृ. 19

75 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 124
76 सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, पृ. 134
77 वही, पृ. 223
78 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 34
79 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, पृ 12
80 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 21
81 वही, पृ. 37
82 वही, पृ. 75
83 तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 114
84 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 189–190
85 सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, पृ. 122
86 वही, पृ. 191
87 सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, पृ. 71
88 सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 43
89 वही, पृ. 30
90 तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 114–115
91 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 43–44
92 वही, पृ. 83
93 तुलसीराम – मुर्दहिया, पृ. 175
94 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 104
95 वही, भाग–2, पृ. 91
96 वही, पृ. 127
97 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 192–93

अध्याय पाँच

स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन : समानता और असमानता के बिन्दु

(क) अनुभव और संवेदना की प्रकृति का अंतर

(ख) दृष्टिगत भेद

(ग) भाषिक भिन्नता

स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन : समानता और असमानता के बिन्दु

मनुष्य का जीवन उसकी परिस्थितियों और उसके अतीत से बेहद प्रभावित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में निर्णय लेता है। इस निर्णय के अच्छे और बुरे दोनों तरह के परिणाम होते हैं। निर्णय लेना जीवन को प्रामाणिक बनाना भी है। लिए गए निर्णय के बुरे पक्ष और छोड़े गए निर्णय के अच्छे पक्ष जीवन के साथ–साथ चलते हैं। निर्णय लेने के पीछे संवेदना और तर्क होते हैं। धीरे–धीरे व्यक्ति के अतीत का जीवन उसका अनुभव बन जाता है। अनेक बार व्यक्ति लिए गए निर्णयों को अपनी नियति भी कह देता है। खासकर ऐसा तब होता है जब छोड़े गए निर्णय के अच्छे पक्ष हमें याद आते हैं और लिए गए निर्णय के बुरे पक्ष हमें परेशान करते हैं। दृष्टि ऐसे ही विकसित होती है। निर्णयों के इन्हीं अच्छे और बुरे पक्षों का विश्लेषण हमारी जीवनदृष्टि का आधार बनता है। इसी आधार पर हम अपने जीवन में प्रतिमानों को विकसित कर पाते हैं। किसी भी लेखक का लेखन उसके अपने निजी जीवन संदर्भों में विकसित इन्हीं प्रतिमानों के अधीन होता है। खासकर जब लेखन की विधा आत्मकथा हो, तब किसी भी लेखक के लिए इन प्रतिमानों का ईमानदारी पूर्वक निर्वाह करना बहुत मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए वैचारिक रूप से कोई भी लेखक पितृसत्ता और उसकी संरचना का विरोधी होने के बावजूद अपने निजी जीवन में आयी हुई स्त्रियों को यदि उनके स्वाभाविक अधिकार न दे पाए और उन्हें इसी पितृसत्तात्मक संरचना के अधीन रखे और अपनी आत्मकथा में इन चीजों को जस्टिफाई करे तो क्या उसका लेखन प्रामाणिक समझा जाएगा?

जगजाहिर है कि स्त्री और पुरुष का जीवन बिल्कुल दो ध्रुवों पर स्थित होता है। यह बिलकुल संभव है कि एक स्त्री अपने कर्मक्षेत्र में उन सारे गुणों को प्रैक्टिस करने लगे जो पुरुषोचित समझे जाते हैं। लेकिन यह प्रायः दुर्लभ होता है कि कोई पुरुष अपने जीवन में धीरे–धीरे स्त्रियोचित गुणों को प्रैक्टिस करने लगे। यह लिखने से सिर्फ यही अभिप्राय है कि एक स्त्री का जीवन निश्चित रूप से पुरुषों के जीवन से खास संदर्भों में बिलकुल अलग और निजी होता है। इस घेरे में प्रवेश कर पाना सबके वश की बात नहीं है। आत्मकथा लेखन में सबसे बड़ी चुनौती यही होती है कि एक लेखिका अपने इस घेरे को किस तरह सार्वजनिक करे। पुरुष आत्मकथाकारों के लिए भी यह कठिन होता है लेकिन उनकी चुनौतियां कुछ और तरह की होती हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मकथाकारों का लेखन उनके अनुभव, संवेदना और दृष्टि की उपज होता है, अभिन्न रूप से उनके वर्तमान से

जुड़ा होता है और उनके मौजूदा कर्मक्षेत्र से प्रभावित भी होता है। बावजूद इसके एक स्त्री उतना खुलकर नहीं लिख पाती है जितना खुलकर एक पुरुष लिखता है। परिवार, समाज तथा नैतिकता और अनैतिकता के प्रश्न हमेशा उसे परेशान करते हैं। अगर वह सब कुछ सही–सही लिखती है तो उसे अपनी ईमानदारी और प्रामाणिक लेखन के जोखिम भी उठाने पड़ते हैं। अधिकांश पुरुष एक से अधिक महिलाओं के संसर्ग की चाह रखते हैं। कई पुरुष आत्मकथाकारों ने अपने जीवन में ऐसा किया है और अपने लेखन में इसे खास तरह से जस्टिफाई भी किया है और यह सब उन्होंने लेखन की प्रामाणिकता के नाम पर किया है। लेकिन जब एक स्त्री जिसके जीवन में एक से अधिक पुरुषों का संसर्ग रहा हो और वह अपनी आत्मकथा में इसे स्वीकार कर अपने लेखन को प्रामाणिक बनाती हो तो क्या यह साहित्य जगत को स्वीकार हो पाता है? स्त्री और पुरुष आत्मकथाओं में समानता और असमानता के बिन्दु तलाशते हुए खुलकर न लिख पाने की इस विवशता और प्रामाणिक लेखन के नाम पर सब कुछ लिख देने की स्वच्छन्दता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सूरजपाल चौहान, मोहनदास नैमिशराय जैसे लेखक इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं। लेखन की प्रामाणिकता के नाम पर मन की कुंठाओं का चित्रण प्रामाणिक लेखन कदापि नहीं कहा जा सकता है। कृष्णा अग्निहोत्री को पढ़ते हुए मुझे यह लगा कि पुरुषों के साथ अपना वर्णन करने में वह अक्सर ही आत्ममुग्धता की शिकार हो जाती हैं लेकिन मैंने यह भी पाया कि उनका लेखन कई जगह उनके वर्तमान की विवशता से भी बंध गया है। इस बात को हम प्रायः सभी स्त्री–पुरुष आत्मकथाकारों पर समान रूप से लागू कर सकते हैं।

समाज पुरुषों के लिए ज्यादा सहज और स्पष्ट है इसीलिए उनके लेखन में यह सहजता और स्पष्टता ज्यादा खुले तौर पर देखी जा सकती है। यहां एक पुरुष के लिए सब कुछ शेयर कर पाना स्त्री के मुकाबले ज्यादा आसान है लेकिन एक स्त्री के लिए दुनिया का ज्यादातर पक्ष उतना खुला और मुखर नहीं होता है। यहां मर्यादा और व्यवस्था को बनाए रखने की जिम्मेदारी ज्यादातर स्त्रियों को ही दे दी गयी है। चरित्रहीन शब्द को ही ले लें। यह शब्द जब भी सुनने में आता है, अधिकांश संदर्भ स्त्री का ही होता है। पुरुषों के संदर्भ में यह शब्द उतना प्रभावी नहीं रह जाता गोया चरित्र को बनाए रखने की सारी जिम्मेदारी सिर्फ स्त्रियों की ही हो। लेखन पर भी यह बात अक्षरशः लागू होती है। अपने बारे में अपने सभी अनुभव बयान करना एक लेखिका के लिए उतना आसान नहीं है इसीलिए वह अपने को विक्टिम के आवरण में प्रस्तुत करती है।

इस अध्याय में स्त्री–जीवन के संदर्भ में आत्मकथाकारों के अनुभव, संवेदना, दृष्टि और लेखन की भाषा का विश्लेषण किया जाएगा। इस विश्लेषण में समानता

और असमानता के बिन्दुओं पर विशेष चर्चा भी की जाएगी।

आलोच्य आत्मकथाकारों में कमलेश्वर तथा कृष्णा अग्निहोत्री का लेखन ज्यादा मुखर रूप में सामने आया है। तुलसीराम, विष्णु प्रभाकर, प्रभा खेतान तथा चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की आत्मकथाओं में स्त्री–जीवन के नए संदर्भों को सामने रखा गया है। जहां कमलेश्वर तथा कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथाओं में स्त्री–जीवन के अधिकांश पक्षों पर विश्वसनीय और स्वाभाविक लेखन दिखता है, वहीं सूरजपाल और मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा के कई प्रसंग वास्तविकता से कटे हुए प्रतीत होते हैं। यदि समानता की बात करें तो प्रायः सभी आत्मकथाकारों ने स्त्री जीवन के सम्बन्ध में किशोरवय प्रेम, प्रथम आकर्षण, देह के प्रति आकर्षण, विवाह और प्रेम के एक से अधिक अनुभवों के बारे में लिखा है। विष्णु प्रभाकर को छोड़कर किसी भी पुरुष आत्मकथाकार ने अपने लेखन में दाम्पत्य जीवन और अपनी पत्नी के बारे में अधिक नहीं लिखा है। यद्यपि ये सभी आत्मकथाकार विवाहित थे तथा इनके जीवन के सर्वाधिक स्त्री प्रसंगों के अनुभव और प्रतिमान अपनी पत्नी के साथ बिताए गए अनुभवों के आधार पर ही निर्मित हुए होंगे। विष्णु प्रभाकर के अलावा किसी भी पुरुष आत्मकथाकार के लेखन में इस पक्ष का अभाव क्या दर्शाता है? ऐसा प्रतीत होता है कि शेष सभी आत्मकथाकारों ने इस सम्बन्ध में एक सुविधाजनक रूख अख्तियार किया है। प्रश्न यह है कि ऐसा करके क्या उन्होंने अपनी आत्मकथाओं की सम्पूर्णता को खंडित नहीं किया है? क्या कारण है कि प्रायः सभी स्त्री आत्मकथाकारों (प्रभा खेतान को छोड़कर) ने ही अपने दाम्पत्य जीवन के बारे में खूब लिखा है। ऐसे में पुरुष आत्मकथाकारों द्वारा जहां अन्य प्रेम सम्बन्धों के बारे में ज्यादा लिखना किन्तु पत्नी प्रेम के बारे में चुप हो जाना इनकी आत्मकथाओं को अपूर्ण बना देता है। अनुकूल प्रसंगों का चयन और प्रतिकूल या वैकल्पिक प्रसंगों को छोड़ देना किसी भी आत्मकथा को उतना विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं रहने देता। यही स्त्री और पुरुष आत्मकथाकारों के स्त्री–जीवन की सबसे बड़ी असमानता है। यदि समानता की बात करें तो लगभग सभी आत्मकथाकारों ने (विष्णु प्रभाकर और प्रभा खेतान को छोड़कर) अपने जीवन के एक से अधिक प्रेमानुभवों/सम्बन्धों के बारे में लिखा है जहां स्त्री–जीवन के कई पक्ष मौजूद हैं जिनमें समानता और असमानता के बिन्दु तलाशे जा सकते हैं।

दृष्टिगत भेद और भाषा के सम्बन्ध में भी स्त्री और पुरुष आत्मकथाकारों के लेखन में स्त्री–जीवन को लेकर समानता और असमानता के कई बिन्दु हैं जिन पर इस अध्याय में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

(क) अनुभव और संवेदना की प्रकृति का अंतर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है।' शुक्लजी की इस बात से सहमत या असहमत हुआ जा सकता है। परन्तु एक बात जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है वह यह कि परिचय ही प्रेम के रूप में परिवर्तित होता है। मेरे वृहद् शोध प्रबन्ध के स्त्री–पुरुष आत्मकथाकारों पर भी यह बात समान रूप से लागू होती है। परस्पर विपरीत लिंगों में आकर्षण होना बिलकुल स्वाभाविक सी बात है। परिचय होने पर यह आकर्षण कुछ और प्रगाढ़ हो जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में यही प्रगाढ़ता धीरे–धीरे प्रेम का रूप ले लेती है।

प्रेम नैतिक या अनैतिक नहीं होता है। यह एक व्यवस्था का संतुलन जरूर बिगाड़ सकता है और इस कारण अनैतिक ठहराया जा सकता है। भारतीय और वैश्विक संदर्भों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि जहां प्रेम और सेक्स भारतीय संदर्भों में नैतिकता और अनैतिकता के प्रश्नों से ज्यादा संचालित होता हे वहीं वैश्विक संदर्भों में इसे बिलकुल सहज मानवीय संबंधों के रूप में लिया जाता है। वहां व्यक्ति महत्वपूर्ण है, भावनाएं महत्वपूर्ण हैं और यहां व्यवस्था महत्वपूर्ण है, परंपराएं महत्वपूर्ण हैं।

आलोच्य आत्मकथाओं में लगभग सभी आत्मकथाकारों ने स्त्री–जीवन के नाम पर अपने प्रथम आकर्षण, प्रेम, स्त्री संसर्ग, परिवेश जन्य स्त्री संबंधी धारणाएं, विवाह पूर्व सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, विवाह और पत्नी, विवाहेतर सम्बन्ध, अपने कर्म क्षेत्र में स्त्रियों के व्यवहार तथा ऐसे ही स्त्री–पुरुष सम्बन्धों पर आधारित जीवनानुभवों, घटनाओं तथा परिस्थितियों पर खूब लिखा है। ऐसे वर्णन पुरुष आत्मकथाकारों में कमलेश्वर, सूरजपाल चौहान, मोहनदास नैमिशराय, तुलसीराम तथा महिला आत्मकथाकारों में कृष्णा अग्निहोत्री, प्रभा खेतान के यहां सबसे ज्यादा देखने को मिलते हैं।

बचपन में अपने आस–पास के ही किसी पुरुष/महिला के द्वारा यौन शोषण हमारे समाज की एक सच्चाई है। पुरुष आत्मकथाकारों में सूरजपाल चौहान और महिला आत्मकथाकारों में कृष्णा अग्निहोत्री और प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथाओं में बचपन के इस बीभत्स अनुभव के बारे में लिखा है। सूरजपाल चौहान लिखते हैं, "उस दिन भी ताई ने मुझे रोज की तरह अपने पास बुलाया। आज उसने मुझसे अपने सिर में तेल लगवाकर सिर में मालिश करवाई थी। घर में और कोई था ही नहीं। उसका बेटा फगुनी दिहाड़ी करने प्रगति मैदान जा चुका था। मैं सन्तो ताई के सिर को सहलाने में लगा हुआ था कि तभी उसने मुझे अपनी दोनों बाजुओं से

आगे की ओर खींचकर गोद में भर लिया। फिर अपने ब्लाउज को ऊपर करते हुए अपने वक्ष–स्थल को मेरे मुंह से अड़ाने लगी। मैं यही सोच रहा था कि वह बच्चा समझकर दुलार रही हैं।... तभी सन्तो ताई ने अपने पेशाब की जगह को उघाड़ते हुए मुझसे उसने अंगुल...।"[1]

यह वर्णन आत्मकथा लेखन के हिसाब से प्रामाणिक नहीं लगता है। स्त्री की मर्यादा को सूरजपाल चौहान ने अपने इस लेखन के माध्यम से अश्लील बनाकर पेश किया है। इस लेखन की भाषा निश्चित रूप से आलोचना का विषय है। बचपन में हुए यौन–शोषण के प्रसंग में कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "उधर धीरे–धीरे लाल कुंवर शकुन्तला और मुझे अपने पास खिसकाकर अधिक दुलार करने लगा। हम क्या समझते, प्रत्येक बार एक बच्ची निर्दोष स्नेह की कामना में ही तो बड़ों से सट जाती, पर लालकुंवर की नीयत ठीक नहीं थी। वह दूध पिलाकर हमें सुला देता और हमारे हाथों में अपने गुप्तांग को पकड़ा देता। एक बार अर्द्ध निद्रा में मैंने उसे झटका था।"[2] दूसरा प्रसंग है, "... भ. ने आव देखा न ताव मुझे कसकर पकड़ लिया और मेरे नाजुक अनछुए कुंवारे होठों व गालों को पागल से चूमने लगे। कमसिन दुबली–पतली मैं छटपटाती रही, जलते अंगारों की सी वह जलन थी। रिश्ते में चाचा और इतना बड़ा कर्म, इतना घिनौना?"[3] कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना प्रभा खेतान ने भी अपने बचपन में किया था, जिसके बारे में उन्होंने लिखा है, "बस इतना कहना चाहूँगी कि मैं कुंवारी नहीं, किसी ने जबर्दस्ती मेरा... ।" "जब मैं नौ साल की थी। घर में ही...।" ...किसी ने बचपन में मुझे खराब किया...।"[4]

कृष्णा अग्निहोत्री ने जहाँ बचपन में अपने यौन शोषण का जिक्र उस समय किसी से नहीं किया था वहीं प्रभा खेतान इसका जिक्र अपनी दाई माँ से करती हैं। दाई माँ ने प्रभा खेतान के साथ हुए इस शोषण पर उन्हें प्रतिरोध की सीख देने के बजाए चुप रहने की सलाह दी। कृष्णा अग्निहोत्री के संदर्भ में जहाँ दो अपराधी थे – एक घर का नौकर और एक अपना ही सगा, वहीं प्रभा खेतान के संदर्भ में अपराधी उनके रिश्ते का भाई ही था। प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ से भी इस बारे में जिक्र करती हैं जबकि कृष्णा अग्निहोत्री अपने पति से इस बारे में कोई जिक्र नहीं करती हैं। डॉ. सर्राफ प्रभा खेतान के प्रेमी थे जो पहले से ही विवाहित थे। पति और प्रेमी के साथ अपने अनुभवों को साझा करने या न करने का अंतर उनकी भिन्न स्थितियों के संदर्भ के कारण ही आया है। कृष्णा अग्निहोत्री ने इसका जिक्र अपने पति से शायद इसलिए नहीं किया कि कहीं उनके वैवाहिक जीवन में कोई अप्रिय स्थिति पैदा न हो जाए। प्रभा खेतान क ऐसी कोई दुविधा नहीं थी क्योंकि वह ऐसे व्यक्ति से प्रेम करती हैं जो पहले से ही किसी दूसरे का था। अनुभव साझा करने और न करने के पीछे निश्चित ही यौन शुचिता का प्रश्न है जो कृष्णा अग्निहोत्री

को डराता है क्योंकि वह एक ऐसी परिस्थिति में जी रही हैं जहाँ उनके वैवाहिक संबंध पहले से ही टूटने के कगार पर हैं। इसीलिए कृष्णा अग्निहोत्री और प्रभा खेतान की स्थिति अलग–अलग है।

स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के सर्वाधिक पक्ष कमलेश्वर और कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में मिलते हैं। विवाह और विवाह से इतर सम्बन्धों का दोनों ही आत्मकथाओं में पर्याप्त वर्णन है। दोनों की स्थितियों में अंतर यह है कि कृष्णा अग्निहोत्री के वैवाहिक जीवन में हिंसा और तलाक साथ–साथ चलते हैं जबकि कमलेश्वर का वैवाहिक जीवन स्थिर बना रहता है। कमलेश्वर की आत्मकथा से यह बात सामने आती है कि उनके कई स्त्रियों के साथ सम्बन्ध बनते हैं लेकिन आत्मकथा में कहीं भी यह जिक्र नहीं आया है कि इन सब के दौरान उनकी पत्नी का रूख क्या रहा? क्या अपनी पत्नी के साथ उनके सम्बन्ध सहज रह पाए? अलबत्ता कमलेश्वर का तो यह मानना था कि उनकी पत्नी के साथ उनके संबंध बड़े मधुर रहे और वे उनसे सन्तुष्ट थीं। कमलेश्वर की मृत्यु के बाद मन्नू भंडारी ने इनकी पत्नी और इनके जीवन के उन प्रसंगों को पहली बार सार्वजनिक किया जो कमलेश्वर की आत्मकथा से गायब हैं। इस लेख में कमलेश्वर की उन भूमिकाओं को उजागर किया गया है जिसके बारे में लोगों को ज्यादा जानकारी नहीं थी। कमलेश्वर को अपने जीवन में तलाक की स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा और इसी कारण उनका वैवाहिक बंधन आजीवन बना रहा जबकि इसके उलट कृष्णा अग्निहोत्री अपने जीवन में कभी स्थिर नहीं हो पाईं। हर बार उन्हें अपमानित और तिरस्कृत होना पड़ा। उनका जीवन नए ठौर की तलाश में ही बीत गया। गौरतलब है कि जिस प्रेम की तलाश में वे थीं उसे वह कभी पा नहीं सकीं। वे जीवन के उस मुकाम तक पहुँच चुकी थीं जहाँ उन्हें रोशनी से भी डर लगने लगा था। कविता में उन्होंने इसे व्यक्त भी किया है –

"दर्द मेरे लबों पर है, दर्द मेरी छातियों में है
मैं सरापा दर्द हूँ, बहुत हो चुका रोशनी से भी डर लगता है।"[5]

आलोच्य आत्मकथाओं में कृष्णा अग्निहोत्री का जीवन सर्वाधिक अकेलेपन और पीड़ा से भरा रहा जिसमें बचपन से लेकर बुढ़ापे तक कई पड़ावों पर उनका उत्पीड़न हुआ। कृष्णा अग्निहोत्री इसी पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखती हैं, "रेत से 70 साल फिसल गए। और मेरी भीतरी औरत गरम रेत पर प्यासी घूमती प्यार की बूंद–बूंद को तरसती रही कि कोई तो इस चुल्लू में थोड़ा–सा पानी डालेगा जो इस प्यास में अमृत सिद्ध होगा। जीवन के चक्रब्यूह में न चाहकर जब मैं फंसी तो अपनी शक्तिहीनता पर खेद हुआ और अब पलंग की पाटी पर आंसू गिराए बिना

एक दिन भी जब नहीं बीतता तो मैं प्रायः सोचती हूँ कि आज भी सुबह होगी, शाम होगी और जिंदगी तमाम हो जाएगी, क्या इसी का नाम जीना है?"[6]

प्रभा खेतान का जीवन कृष्णा अग्निहोत्री के जीवन से इस मायने में अलग है कि उन्होंने विवाह की शर्त पर प्रेम नहीं किया। उनका प्रेम अन्य आत्मकथाकारों के प्रेम से इसीलिए अलहदा है। वह लिखती हैं, "मेरी राय में विवाह एक ओवररेटेड संस्था है। मैं इस संस्था को ज्यादा तरजीह से इनकार करती हूँ, फिर जो कुछ भी है, वह मेरे और डॉक्टर साहब के बीच है, बिलकुल हमारा निजी कोना।"[7] प्रभा खेतान के लिए विवाह बंधन इसीलिए बन गया था क्योंकि वे जिस डॉ. सर्राफ से प्रेम करती थीं वो पहले से ही विवाहित थे लेकिन धीरे–धीरे जब डॉ. सर्राफ का प्रेम प्रभा खेतान के लिए अतीत बनने लगा तब उन्हें विवाह संस्था की सामाजिक स्वीकृति के महत्व का अहसास हुआ। उन्होंने एक ऐसे रिश्ते को निभाने का प्रयास किया था जो खुद उनकी ही नज़रों में अवैध था। "याद नहीं आता कि प्यार और सन्तुष्टि के क्षण कभी दो दिन भी मेरे जीवन में स्थायी रहे हों। किसी दिन यदि मैं जरा खुश भी होती तब अमूमन कुछ ऐसा घटना, कुछ ऐसे ताने–बोली कि मुझे वापस रोने का दौरा पड़ जाता, आँसुओं का सैलाब उमड़ पड़ता। परिस्थिति पूरी तरह मुझ पर हावी थी, एक अवैध रिश्ते को जीकर दिखलाने के प्रयास का शायद यही हश्र होना था, इससे भिन्न और कुछ नहीं।"[8]

प्रभा खेतान लिखती हैं, "प्रियतमा, मिस्ट्रेस शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकती क्योंकि एक पत्नी पहले से मौजूद थी। वे बाल–बच्चों वाले व्यक्ति थे। पिछले बीस सालों से मैं उनके साथ थी मगर किस रूप में...? इस रिश्ते को नाम नहीं दे पाऊँगी। भला प्रेमिका की भूमिका भी कोई भूमिका हुई? प्रेम तो सभी करते हैं। प्रेम करने वाली स्त्री, माँ, बहन, पत्नी वह कुछ भी हो सकती है या फिर सीधे–सीधे उसे रखैल कहो ना। रखैल का क्या अर्थ हुआ? वही जिसे रखा जाता है, जिसका भरण–पोषण पुरुष करता हो। लेकिन डॉक्टर साहब तो मेरा भरण–पोषण नहीं करते, उनसे मैंने कभी कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। मैं तो खुद कमाती थी, स्वावलम्बी थी, एक आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी।"[9] प्रभा खेतान आगे लिखती हैं, "हाँ, डॉक्टर साहब से प्यार जरूर करती थी। मैंने स्वेच्छा से अपने इस अकेले जीवन का वरण भी किया। मुझे मालूम था कि वे एक शादी–शुदा व्यक्ति हैं। भला एक शादी–शुदा व्यक्ति से दूसरी स्त्री को पत्नीत्व का अधिकार कैसे मिल सकता है। लेकिन उस पुरुष से प्यार तो किया ही जा सकता है, प्यार में भला कैसी बाधा? मुझे भी मालूम है कि वह पुरुष मुझसे शादी नहीं करेगा। मगर कौन कहता है वे मुझसे शादी करें? मैं ऐसे ही ठीक हूँ, अकेले जिन्दगी जी लूँगी, बस जिसे अपना मान लिया, मान लिया। वैसे डॉक्टर साहब के

प्रति शुरू में इतना लगाव नहीं था, मैं तो आँखों का इलाज कराने एक रोगी के रूप में उनके पास आई थी। और वे मेरी आंखों में ही खो गए।"[10]

प्रभा खेतान आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थीं। उन्हें किसी सहारे की जरूरत नहीं थी जो समाज में अक्सर पति के द्वारा दिया जाता है। उन्हें पत्नीत्व का अधिकार नहीं चाहिए था, बस प्रेम के बदले प्रेम चाहिए था। यद्यपि वह लिखती हैं, "जो घट गया, जिससे प्रेम हो गया मैं उसे ही विवाह मानती हूँ और समाज? मुझे समाज की परवाह नहीं।"[11] शुरू में समाज की परवाह प्रभा खेतान को शायद इसलिए नहीं थी क्योंकि वह विवाह को 'ओवररेटेड संस्था' मानती थीं। लेकिन समाज के साथ व्यक्ति का निर्वाह इतना सहज नहीं रह पाता है। सामाजिक स्वीकृति का लोभ प्रभा खेतान को अक्सर अपनी ओर खींचता है। आत्मकथा का अंत करते हुए उन्होंने यह स्वीकारा भी है जब डॉ. सर्राफ की मृत्यु हो जाती है, उस समय को याद करते हुए वह लिखती हैं, "उनकी स्मरण सभा में उन्हें कई रूपों में सम्बोधित और याद किया गया। कलकत्ते के वरिष्ठ नागरिक, समाजसेवी, सफल डॉक्टर... पीछे पत्नी और बच्चों को छोड़कर गए हैं। प्रभा खेतान नामक स्त्री का कहीं भी जिक्र नहीं था।"[12] जिस व्यक्ति का जिक्र प्रभा खेतान की पूरी आत्मकथा में है उस व्यक्ति के मरने पर अपना कोई नाम जिक्र न होने के दर्द के साथ आत्मकथा समाप्त हो जाती है। जिक्र डॉक्टर साहब की पत्नी और बच्चों का था। जिक्र सिर्फ वैध सम्बन्धों का था, उन सम्बन्धों का नहीं जिन्हें समाज अवैध मानता है। वह महिला जो अपने जीवन में कलकत्ता चैम्बर ऑफ कॉमर्स की अध्यक्षा बनकर मारवाड़ी पुरुषों की दुनिया में घुसने का दुस्साहस करती है, और एक सफल उद्योगपति बनती है, उसकी आत्मकथा का अन्त जिस निराशा के साथ हुआ है वह उसके जीवनभर के प्रेम की सबसे बड़ी विडंबना है।

स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के विवाह पक्ष को लेकर सर्वाधिक आदर्श स्थिति विष्णु प्रभाकर के यहां मिलती है। इसका कारण यह भी है कि वह नारी को श्रद्धा व विश्वास का उत्स मानते हैं। अपनी पत्नी को लिखे गए पत्र में वह लिखते हैं, "ओह रानी! क्या तुम डर गईं? नहीं, नहीं, श्रद्धा और विश्वास को तुम भूलो मत। ऐसा करो ये दोनों तत्व कभी भी हमारा साथ न छोड़ें। जिस दिन श्रद्धा तुम खो दोगी उसी दिन तुम्हारा पतन आरम्भ हो जाएगा।"[13] विवाह व्यवस्था का ठेठ आदर्श जिसमें पत्नी आजीवन पतिव्रता बनी रही, यह विष्णु प्रभाकर के जीवन में देखा जा सकता है। विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा के कई प्रसंगों में उनके और उनकी पत्नी के बीच पत्र द्वारा कई संवादों में उनके आपसी सम्बन्धों को देखा जा सकता है –

"शीला देवी! सुनना चाहती हो तो सुन लो, तुम मेरी हो, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ... लेकिन नहीं, नहीं, मैं बिलकुल भी प्रेम करना नहीं चाहता। यह पुरुष है जो

नारी की अपूर्णता मिलाकर सम्पूर्ण बन जाना चाहता है। बोलो प्रिये! क्या तुम उसे अपने नजदीक आने दोगी या ठुकरा दोगी।"[14]

"मैं सच्चे ह्रदय से कहती हूँ – 'जीवन हो तुम, मैं हूँ उमंग, सागर हो तुम तो मैं तरंग।"[15]

"उसमें प्यार करने की अद्‌भुत क्षमता थी। वैसी ही क्षमता थी अपने स्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाए रखने की।"[16]

पितृसत्ता के इस कलेवर में भी विष्णु प्रभाकर के जीवन में उनकी पत्नी के लिए पूरा सम्मान और आदर मौजूद है। जबकि कई आत्मकथाकारों में प्रेम विवाह के बाद भी ऐसा आदर्श निभ नहीं पाया है। विष्णु प्रभाकर लिखते हैं, "जीवन के अन्तिम क्षण तक हम एक–दूसरे के होकर ही रहे। वह अब नहीं है पर हमारा नाता अभी भी अटूट है।"[17]

सम्बन्धों का ऐसा निर्वहन विष्णु प्रभाकर के यहाँ ही दिखता है। अपनी पत्नी के साथ उनके सम्बन्ध दैवीयता लिए हुए हैं। जहाँ न तो धोखा है, न तिरस्कार है और न ही विवाहेतर सम्बन्ध हैं। यह विवाह व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करता स्त्री–पुरुष सम्बन्ध है जो अपनी तरह का अकेला उदाहरण है।

विवाह, दाम्पत्य और विवाह से इतर प्रेम सम्बन्धों के अतिरिक्त स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का जो दूसरा प्रमुख विवेच्य क्षेत्र है, उसे प्रथम प्रेम या प्रथम आकर्षण के रूप में देखा जा सकता है। प्रायः सभी आत्मकथाकारों ने किसी न किसी रूप में इसका उल्लेख किया है कि कैसे उसे विपरीत लिंग के प्रति पहली बार उस अनोखे अहसास का अनुभव हुआ। यह हर कहीं प्रेम न होकर प्रेम की आरम्भिक अवस्था जरूर थी। कमलेश्वर और तुलसीराम की आत्मकथाओं में यह अनुभव बिलकुल अलग तरह से खास संदर्भों में देखा जा सकता है। यह बिलकुल सहज है कि एक निश्चित उम्र के बाद जब व्यक्ति अपनी युवावस्था में प्रवेश करता है तो वह खास तरह के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों से गुजरता है। मोहनदास नैमिशराय ने इसके बारे में लिखा है –

"रसवंती मेरे जीवन में उस समय आई थी जब बिरजो, सुभद्रा, मंगो की शादी हो गई थी और वे सभी अपनी ससुराल चली गई थीं। मेरे शरीर पर भी जवानी की रेखाएं उभरनी आरंभ हो गई थीं। कुछ नई बातें मुझसे जुड़ने लगी थीं।"[18] "मैंने उसकी आँखें देखी थीं। होठों पर थिरकती प्यार की भाषा जो पढ़ा था। उसकी छातियों के उभार और उसके भीतर के स्पंदन को देखा और महसूसा था। वह मुझे आदमी बनाने पर तुली थी। और मैं पूरी तरह से लड़का भी न बन पाया था।"[19]

"उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया था। तन में भी और मन में भी। उसके शरीर में भराव हो गया था। उसकी छातियाँ सुडौल और भारी हो गई थीं। उनके भीतर जैसे रक्त भर आया था। उसके अंग–अंग से मादकता छलकने लगी थी। उसके होठों को पहली बार रसमय होते देखा था मैंने। नाम भी तो उसका रसवंती था।"[20]

टीनएज में होने वाले मनोवैज्ञानिक और शारीरिक परिवर्तनों को मोहनदास नैमिशराय के अतिरिक्त किसी अन्य आत्मकथाकार ने इतनी सूच्मता और व्यापकता से नहीं दर्शाया है। यह चर्चा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रथम आकर्षण अथवा प्रेम की तीव्रता एक खास उम्र के बाद ही महसूस की जा सकती है। जो प्रायः सभी स्त्री–पुरुष आत्मकथाकारों ने महसूस की होगी परन्तु इसका वर्णन केवल मोहनदास द्वारा ही किया गया है। अन्य आत्मकथाकारों ने इसके बाद की अवस्था से अपना वर्णन आरम्भ किया है। हालांकि कमलेश्वर ने भी इन परिवर्तनों की थोड़ी बहुत चर्चा की है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन परिवर्तनों के बारे में न लिखते हुए भी अधिकांश आत्मकथाकारों ने पहली बार होने वाले इस तरह के आकर्षण और तीव्रता का जिस रूप में वर्णन किया है, उन सबका अंदाज एक जैसा ही है। कमलेश्वर ने अपने इस प्रकार के अनुभव को कुछ इस प्रकार लिखा है, "मैं तब तक किसी महिला को देखकर बेहद संकुचित हो जाता था। लेकिन यह संकोच किसी दमित सोते की तरह नहीं फूटा था... यह अंकुरित हुआ था... शरीर के सौंदर्य साम्राज्य को तब मैंने पहली बार देखा और अनुभव किया था। वे महिला पाकिस्तानी थीं। उनके पति इटली में थे और वे अकेली अपनी रिश्तेदारी में श्रीनगर आई हुई थीं। तब मैंने धरती को पहचाना था। उसके नैसर्गिक रूप में धरती और प्रकृति कितना देती है, कितने रहस्यों को उद्घाटित करके एक चिरंतन रहस्य से संयुक्त कर देती है।"[21]

कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में एक आवरणयुक्त भाषा का प्रयोग किया है जिसे समझने के लिए हमें कुछ देर ठहरना पड़ता है। इस प्रंसग में यह बिलकुल स्पष्ट है कि कमलेश्वर अपने उस अनुभव को व्यक्त कर रहे हैं जब वे पहली बार किसी स्त्री शरीर के प्रति आकर्षित हुए थे। अशोक वाजपेयी और कमलेश्वर को एक साथ पढ़ने पर हम कमलेश्वर को अशोक वाजपेयी से ज्यादा मैच्योर पाते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि कमलेश्वर अपने उस कृत्य को अशोक वाजपेयी की तरह अवैध नहीं ठहराते। कमलेश्वर लिखते हैं, "शायद मैं तब उन महिला – बेगम साहिबा के साथ पाकिस्तान चला जाता। उम्र में वे मुझसे तीन–चार साल बड़ी थीं। तहजीब और सलीका उनमें समाया हुआ था। उनमें उनकी पेंटिंग्स जैसी ही

स्निग्धता, कोमलता और शालीनता थी। जीवन को धीरज और सौंदर्य के साथ जीने की लालसा थी। पता नहीं, तब मेरी जिंदगी का क्या रूप होता।"[22]

यद्यपि अशोक वाजपेयी भी यह लिखते हैं, "प्रेम में शरीर की उपस्थिति और सक्रियता का खुला और निस्संकोच स्वीकार है।"[23] साक्षात्कार के दौरान हालांकि अशोक वाजपेयी ने अपने उस अवैध प्रेम को स्वीकारा है। अपने इस प्रेम के विषय में अशोक वाजपेयी ने लिखा है, "पहले अवैध प्रेम को कविता में लाने की हिम्मत नहीं हुई। कविता लिखना जाहिर करना था। वह सार्वजनिक स्वीकार था जिसकी मध्यवर्गीय पारिवारिक व्यवस्था में मुहलत ही नहीं थी। वह अनुभव गोपन भले था पर केन्द्रीय था और दुर्भाग्य से उसकी कविता में अभी जगह नहीं थी।... कविता से जीवन बड़ा है – उसका कुछ कविता से भी छुपाया जा सकता है। पूरा जीवन कविता को शायद कभी उपलब्ध नहीं होता।"[24]

प्रभा खेतान और कमलेश्वर की आत्मकथा में आकर्षण से युक्त संसर्ग से उपजे मनोभावों के बारे में अन्य आत्मकथाकारों की तुलना में ज्यादा यथार्थ दिखता है। दोनों को ही आकर्षण से उपजा यह देह सम्पर्क एक सम्पूर्णता का अहसास कराता है। जहाँ उनके व्यक्तित्व की सार्थकता दूसरे से मानसिक और शारीरिक रूप से जुड़ने के बाद सिद्ध होती है और उन्हें एक नए अनुभव से रूबरू कराती है। प्रभा खेतान ने इसे इस प्रकार स्वीकार किया है – "पहली बार किसी पुरुष ने प्यार से मुझे अपनी हथेलियों में भरा और पहली बार कोई पुरुष मुझसे कह रहा था कि 'तुम कितनी आकर्षक हो' पहली बार किसी की बाँहों में मैंने खुद को सुरक्षित महसूस किया।"[25] इस प्रसंग को थोड़ा और आगे बढ़ाते हुए वह यह भी लिखती हैं, "उनकी देह की गन्ध और कमरे में मिली–जुली दवाओं की गन्ध, मुझे बेहद लुभा रही थी। अपरिचय का कोहरा बड़ी जल्दी छँट गया। उन्होंने वापस मेरी पलकों को हल्के से चूमा। फिर गालों पर, होंठ, कानों के पीछे – मैं आग का दरिया थी। एक उफनती हुई नदी...।"[26] ऐसे ही प्रसंग में कमलेश्वर लिखते हैं, "झेलम के उस पार श्रीनगर के राजबाग में, मैंने पहली दफा खुद को एक आदमी के रूप में पहचाना था। कैसे कहूं कि खुद मैंने अपने को पहचाना था। यह पहचान तो मुझे किसी और ने दी थी।"[27]

इन दोनों ही प्रसंगों की तुलना करने पर जहाँ एक पुरुष आत्मकथाकार में स्वीकार का भाव दिखता है वहीं एक स्त्री आत्मकथाकार में समर्पण का। प्रेम निश्चित ही व्यक्ति में समर्पण और स्वीकार के जिस भाव को विकसित करता है, वह यहाँ देखा जा सकता है। एक स्त्री और एक पुरुष में संसर्ग के लम्हों के दौरान अनुभव और संवेदना की प्रकृति का यह अंतर उल्लेखनीय है। कमलेश्वर की

आत्मकथा में आगे के सम्बन्धों में इस प्रकार की संवेदना और भाषा का प्रयोग उतनी ही शिद्दत के साथ दुबारा नहीं मिलता। वहीं दूसरी ओर प्रभा खेतान के जीवन में इस प्रकार के अनुभव का दुबारा अवसर ही नहीं आया। कहना न होगा कि स्त्री धारण करते हुए भी समर्पण और एकनिष्ठता का परिचय देती है। कमलेश्वर आगे अपने जीवन में इस एकनिष्ठता को बरकरार नहीं रख पाते हैं। वहीं प्रभा खेतान का अनुभव उनका शाश्वत अनुभव बन जाता है। वह पहली बार जिससे जुड़ी, जीवनभर जुड़ी रहीं। हालांकि कमलेश्वर यह जरूर लिखते हैं, "शायद मैं तब उन महिला बेगम साहिबा के साथ पाकिस्तान चला जाता।... पता नहीं, तब मेरी जिंदगी का क्या रूप होता।"[28]

कमलेश्वर इस प्रसंग को और ज्यादा विस्तार तो नहीं देते हैं लेकिन पाठकों के लिए एक संकेत जरूर छोड़ देते हैं, जिसमें उनकी दुविधा साफ झलकती है। कमलेश्वर और प्रभा खेतान दोनों ही अपना प्रथम प्रेम एवं संसर्ग ऐसे व्यक्ति के साथ स्थापित करते हैं जो पहले से ही विवाहित थे। दोनों के लिए ही इस पहले अनुभव में संवेगों और भावों की वही तीव्रता देखी जा सकती है। लेकिन जहाँ प्रभा खेतान ने इस प्रथम अनुभव को ही सम्पूर्ण अनुभव मान लिया और जीवनभर उसी के प्रति समर्पित रहीं। वहीं कमलेश्वर न तो इस पाकिस्तानी महिला के प्रति एकनिष्ठ रह पाए और न ही अपनी पत्नी के प्रति। तुलसीराम का लेखन इस प्रसंग में सबसे अलहदा है। उत्पलवर्णा प्रसंग में वह लिखते हैं, "मैंने महसूस किया था कि जैसे कोई ताजा फूलों का गट्ठर खुद पैदल चलकर आया हो, जो हवा के झोंकों से अचानक उड़ गया। इसके पहले इतना लगाव किसी से भी नहीं हुआ था, शायद बुद्ध से भी नहीं।"[29] तुलसीराम आगे लिखते हैं कि उनके मन में, "उसके लिए एक अजीब सा जादुई आकर्षण था। धीरे–धीरे वह मेरी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन गई।"[30] 'जादुई आकर्षण' शरीर से और 'मनोवैज्ञानिक आवश्यकता' समर्पण और स्वीकार के भाव से ही पैदा हो सकते है।

प्रेम और देह के संसर्ग में प्रायः सभी आत्मकथाकार एक ही भाषा लिखते हैं। प्रभा खेतान द्वारा डॉ. सर्राफ की बांहों में सुरक्षित महसूस करना साथ ही उनकी देह की गंध द्वारा लुभाए जाने का जिक्र करना तुलसीराम के 'जादुई आकर्षण' और 'मनोवैज्ञानिक आवश्यकता' तथा कमलेश्वर द्वारा की गई उस आत्मस्वीकारोक्ति कि "यह पहचान तो मुझे किसी और ने दी थी"[31] जैसे भावों के समान ही है। अन्य आत्मकथाकारों ने हालांकि अपने इस तरह के पहले अनुभव के बारे में इतना विस्तार में नहीं लिखा है।

इन आत्मकथाकारों की तुलना राजेन्द्र यादव से करने पर हम उनके लेखन में एक अगल तरह का भाव देखते हैं। बावजूद इसके उनकी भाषा भी कुछ इसी प्रकार की है। वह लिखते हैं, "निम्नवर्गीय खुरदुरेपन के बावजूद मुझे वह 'असाधारण' लगती थी। इसी ने उसे दृढ़ता और आत्मविश्वास दिए। परम सुन्दरी नहीं थी मगर व्यक्तित्व में तेज था।"[32] राजेन्द्र यादव यह स्वीकारते हैं कि मीता में निम्नवर्गीय खुरदुरापन था और वह परम सुन्दरी नहीं थी। बावजूद इसके मीता ने ही राजेन्द्र यादव के भीतर दृढ़ता और आत्मविश्वास का संचार किया।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है जिस आत्मविश्वास और पूर्णता का जिक्र राजेन्द्र यादव कर रहे हैं, वही भाव अन्य आत्मकथाकारों के यहाँ भी मिलता है। लेकिन राजेन्द्र यादव मध्यवर्गीय खुरदुरेपन से युक्त इस लड़की को पत्नी का दर्जा नहीं दे पाए। तुलसीराम के यहां उत्पलवर्णा प्रसंग में उनके प्रथम आकर्षण के भाव क्षेत्र का विस्तार न हो पाने का कारण उत्पलवर्णा ही थी। जबकि दूसरी ओर अन्य आत्मकथाकार इसका जिम्मेदार स्वयं थे। कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव के जीवन में आयी पहली स्त्री का अनुभव उतना विस्तार और निश्चित स्वरूप नहीं ले पाता है। तुलसीराम इस मामले में अलग हैं कि इसका कारण वे नहीं हैं बल्कि वह स्त्री ही है। राजेन्द्र यादव का कारण उस स्त्री का अक्खड़ होना है जबकि कमलेश्वर कुछ साफ–साफ नहीं लिखते हैं। वह यह संकेत जरूर करते हैं कि 'तब न जाने उनके जीवन का क्या रूप होता'।

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा के लिए अन्य आत्मकथाकारों की तरह आकर्षण और देह संसर्ग का पहला अनुभव सुरक्षा और सम्पूर्णता के भाव को भर देने वाला नहीं था। वे विवाह से पूर्व किसी भी पुरुष के संसर्ग को पाप मानती हैं। उन्होंने प्रेम नामक व्यक्ति के साथ अपनी एक स्मृति का जिक्र करते हुए लिखा है, मेरा मन कल्पना के आकाश में पंख लगाकर उड़ने लगा – प्रेम गोरे, सुंदर युवक थे, मेरा रंग, उनकी तुलना में काफी गिरा हुआ था। पर उनके द्वारा खुद विवाह का प्रस्ताव मिलना – मेरे किशोर मन के लिए बड़े गर्व का कारण बन गया। पति के रूप में उनकी छवि ने मुझे रोमांचित कर दिया, और मैं संकोच और भय – दोनों से विचलित हो गयी।"[33]

अपने किशोरवय मन का किसी व्यक्ति के प्रस्ताव को पति के रूप में कल्पना कर उसकी छवि से रोमांचित हो उठने की स्वीकारोक्ति के बावजूद इसे यथार्थ में परिणत न कर पाने की विवशता चन्द्रकिरण सौनरेक्शा के पहले अनुभव की इस परिणति में इसलिए बदल गई क्योंकि वे प्रेम को पाप और पुण्य के तराजू से तौल रही थीं। चन्द्रकिरण सौनरेक्शा लिखती हैं, "मैंने ज्यों ही पढ़ना छोड़, सिर

ऊँचा किया प्रेम ने पीछे से गले में हाथ डाल, मेरे मस्तक पर अपने गरम होंठ रख दिए... मैं पल भर को संज्ञा–शून्य–सी हो गयी... दूसरे ही क्षण चेतना लौटते ही, मैंने प्रेम को जोर से धक्का दिया, अपने को मुक्त करके, जोर–जोर से रोने लगी, साथ ही चीखने लगी, "तुमने पाप किया है, तुमने पाप किया है – भगवान हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे।"[34] इस रूप में चन्द्रकिरण सौनरेक्शा का लेखन प्रभा खेतान, तुलसीराम, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर से नितांत विपरीत ध्रुव पर स्थित है। हालांकि कुसुम अंसल इस प्रकार के प्रथम प्रेम/आकर्षण के वर्णन में चन्द्रकिरण सौनरेक्शा के थोड़ा निकट ठहरती हैं। कुसुम अंसल ने लिखा है, "उन दिनों 'वही' हमारी क्लास का सबसे मेधावी छात्र था, मैं ही नहीं, क्लास की अन्य लड़कियाँ भी उसके आसपास मँडराती थीं। अपनी नवोर्जित इस भावना से मैं बिलकुल भी पुलकित नहीं हुई थी, डर के एक ज्वार में उतर गई थी, बेठी–बैठी डर जाती, लगता घर के लोगों को पता चलेगा कि मैं प्रेम करने लगी हूँ तो क्या होगा? मेरे 'उसके' बीच दूरियों का एक घना जंगल पहले से मौजूद था। वह बहुत मध्यवर्गीय परिवार का लड़का था और मैं बड़े परिवार की एकमात्र बेटी थी, पर उस समय मन किसी भी अवरोध को मानने से इंकार करता और हम दोनों वन के दो वृक्षों की तरह चुपचाप खड़े रहते, एक–दूसरे के निकट होते हुए भी दूर रहते एक–दूसरे को देखते हुए, एक–दूसरे को महसूसते हुए, सूँघते हुए। कभी–कभी लगता टहनियों के कोमल हाथ आगे आ रहे हैं, स्पर्श में सहम इतना घुला होता था कि मैं खुलकर स्वीकार नहीं कर पाती थी। वार्तालाप बहुत नियमित थे, बस पुस्तकों का आदान–प्रदान, सूखे दबे हुए फूल और धुआं–धुआं चुप्पी।"[35]

जहाँ चन्द्रकिरण सौनरेक्शा के लिए पाप–पुण्य की स्थिति ज्यादा महत्वपूर्ण थी वहीं कुसुम अंसल के लिए वर्गीय स्थिति, पितृसत्तात्मक मूल्य और पारिवारिक प्रतिष्ठा द्वारा उनके संवेगों, भावों को नियंत्रित किया जा रहा था। कहना न होगा कि कुसुम अंसल के स्त्री जीवन के उन पहले नितांत निजी अनुभवों पर किसी भी अन्य आत्मकथाकार की तुलना में सबसे ज्यादा बंदिशें थीं। विवाह के बाद भी कुछ ऐसी ही वर्गीय स्थिति आजीवन उनका पीछा नहीं छोड़ती है।

स्त्री–जीवन के सम्बन्ध में आलोच्य आत्मकथाओं के अध्ययन क्रम में दूसरा उल्लेखनीय बिन्दु दाम्पत्य जीवन एवं इससे जुड़े वर्णन तथा विवाहेतर सम्बन्ध है। स्त्री–जीवन के सम्बन्ध में लगभग सभी आत्मकथाकारों ने विवाह संस्था, पति और पत्नी के सम्बन्धों की आदर्श एवं यथार्थ स्थिति तथा इससे ही जुड़ी अनेक परिस्थितियों एवं विवाहेतर सम्बन्धों को अपने लेखन में जगह दी है।

भारतीय जीवन संदर्भों में विवाह एवं पति–पत्नी के सम्बन्धों का महत्व बहुत ज्यादा है। यही वजह है कि कोई भी स्त्री–पुरुष सम्बन्ध इसी नजरिए से देखा और समझा जाता है। समाज में इस बात को लेकर प्रायः आम सहमति है कि पति और पत्नी के द्वारा इस संस्था के आदर्शों का किसी भी कीमत पर निर्वाह किया जाना चाहिए। यहाँ विवाह पूर्व प्रेम वैध नहीं माना जाता है। प्रेम का सार्वजनिक स्वीकार दाम्पत्य जीवन में ही किया जाता है। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आता है कि लगभग सभी आत्मकथाकार इस संस्था के आदर्शों का निर्वाह करने में असफल रहे हैं। राजेन्द्र यादव इसके अप्रतिम उदाहरण हैं। उन्होंने मन्नू भंडारी से प्रेम विवाह किया था। मीता के बारे में लिखते हुए राजेन्द्र यादव की ईमानदार स्वीकारोक्ति है, "यह सही है कि प्रेम मेरा उसी से रहा पर घर बसाने के लिए वह ठीक नहीं थी क्योंकि वह बहुत ही दबंग, अक्खड़ और डॉ. मिनेटिंग है।"[36] राजेन्द्र यादव की स्वीकारोक्ति पर टिप्पणी करते हुए मन्नू भंडारी लिखती हैं, "इन तीनों विशेषणों पर तो पुरुषों का एकाधिकार है...' ये ही तो उसके व्यक्तित्व में निखार लाते हैं पर इन्हीं विशेषताओं के चलते स्त्री तो साथ रहने लायक ही नहीं रहती। वाह रे स्त्री–विमर्श के पुरोधा!"[37] मन्नू भंडारी आगे लिखती हैं, "वैवाहिक सम्बन्ध की गरिमा का निर्वाह न कर पाने वाले व्यक्ति के लिए विवाह–संस्था के विरुद्ध झंडा उठाए फिरना वाजिब ही नहीं, अनिवार्य भी है। लेकिन फिर विवाह किया ही क्यों? यदि मीता ने विवाह से इनकार करके परिणीता बनकर रहना स्वीकार नहीं किया तो इतना आहत होने की जरूरत? बार–बार विवाह का आश्वासन देकर डिच करने पर अपराध–बोध से त्रस्त होने का औचित्य? सम्बन्ध तो चल ही रहे थे – बस, जिस विवाह में विश्वास नहीं, केवल वही तो नहीं किया था? जिसे घर हमेशा बंधन लगता रहा हो, उसे घर से मिलने वाली सारी सुविधाओं की अपेक्षा ही नहीं रही बल्कि उनका वह उपभोग भी करता रहा। लेखन के नाम पर हमेशा जिसके पास स्वतन्त्रता की एक लम्बी फेहरिस्त रही हो... अपनी जरूरत, सुख–सुविधा के हिसाब से जिसने उसका खुलकर उपभोग भी किया, वह कितनी सहजता से भूल जाता है कि उसकी पत्नी भी लेखिका है।"[38]

मन्नू भंडारी का यह पूछना बिलकुल वाजिब है कि अगर विवाह बंधन है तो राजेन्द्र यादव इस बंधन में क्यों बंधे? प्रभा खेतान ठीक इसी बिन्दु पर राजेन्द्र यादव से ज्यादा प्रगतिशील ठहरती हैं और विवाह संस्था में यकीन व चाह रखने के बावजूद दूसरी पत्नी बनना स्वीकार नहीं करती हैं। प्रेम पर एकाधिकार और अनन्यता दाम्पत्य जीवन का आधार है जो दूसरी पत्नी को सम्पूर्णता में कभी नहीं मिल सकती है। प्रभा खेतान लिखती हैं, "मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई : प्रियतमा, मिस्ट्रेस, शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी

तो मैं कभी नहीं बन सकती क्योंकि एक पत्नी पहले से मौजूद थी।... मैंरे स्वेच्छा से अपने इस अकेले जीवन का वरण भी किया।"[39] प्रभा खेतान ने अपने जीवन में पूरी अनन्यता के साथ जिस अकेलेपन का वरण किया था, वह उनका खुद का चुनाव था। प्रभा खेतान को यह पता था, "मुझे भी मालूम है कि वह पुरुष मुझसे शादी नहीं करेगा।"[40] असल में प्रभा खेतान उस व्यवस्था के आदर्श को चुनौती देती हैं जिसमें प्रेम विवाह ही एक अपराध था। प्रभा खेतान लिखती हैं, "माना वह क्षणों की कमजोरी थी, एक भूल थी मगर अपनी इस भूल को अपराध कैसे मान लूँ? क्या ऐसा कभी घटता नहीं? विवाहित व्यक्ति से एक कुँआरी लड़की कभी प्रेम नहीं करती।"[41] प्रभा खेतान ने यह अपराध किया था और उसकी सजा भी वह जीवनभर भुगतती हैं। आत्मकथा से यही पता चलता है कि जिसे वह प्रेम का आदर्श मान रही थीं, उसके लिए वह एकमात्र शरीर थीं जो सिर्फ भोगा जा रहा था। इनके प्रेम को सार्वजनिक जीवन में अवैध होने के नाम पर स्वीकार नहीं किया जा सकता था। बावजूद इसके प्रभा खेतान लिखती हैं, "सती को प्रणाम! सती माँ! तेरा आदर्श मेरे सामने हमेशा रहा, मैंने खुद को उसी परम्परा में ढ़ालने की कोशिश की। मेरे लिए सती का अर्थ था, पति की एकनिष्ठ भक्ति, सूचना समर्पण, किसी पराए मर्द की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना।"[42]

सही मायने में देखा जाए तो विवाहित न होकर भी प्रभा खेतान ने जीवन भर एक विवाहित स्त्री के आदर्शों को निभाया। जहाँ एक ओर प्रभा खेतान में एकनिष्ठता के बदले एकनिष्ठता की चाह नहीं थी, वहीं दूसरी ओर मन्नू भंडारी राजेन्द्र यादव से अंततः इसी कारण से अलग हो जाती हैं क्योंकि राजेन्द्र यादव दाम्पत्य जीवन में रहकर भी मीता के प्रति आजीवन आकर्षित रहे। कुसुम अंसल के वैवाहिक जीवन का अनुभव तुलनात्मक रूप से सबसे ज्यादा सफल कहा जा सकता है जिसमें एकनिष्ठता, समर्पण, स्वीकार और त्याग सब कुछ साथ–साथ चलता है।

महिला आत्मकथाकारों में कौसल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा पति और विवाह संस्था को लेकर लगभग समान विचार रखती हैं। अमृतराय से पत्राचार के प्रसंग में पति द्वारा गाली–गलौच करने पर चन्द्रकिरण अपने लेखकीय जीवन का निर्णय पति के हाथों सौंप देती हैं, वहीं सुशीला टाकभौरे लिखती हैं, "माँ – नानी की शिक्षा से यही सीखा था, माता–पिता जिसके साथ मेरा विवाह करेंगे, उसी से प्यार करना है और उसी का प्यार पाना है। अपने मन से किसी अनजान लड़के से प्रेम करना पाप है। प्रेम शादी के बाद पति से ही किया जाता है, यह संस्कार बचपन से मिला था। प्रेम के आदान–प्रदान की और मन की कोमल भावनाओं के फलने–फूलने की सम्पूर्ण अपेक्षा शादी के बाद पति से ही थी।"[43] दोनों के लिए ही अपने वैवाहिक जीवन को बचाए रखना ज्यादा महत्वपूर्ण

था। यदि पलभर के लिए वे इससे अलग होने की बात सोचती भी हैं तो यह प्रश्न उन्हें परेशान कर देता है कि उनके बच्चों का क्या होगा। इनके लिए पति धर्म के निर्वाह से ज्यादा महत्वपूर्ण संतान धर्म का निर्वाह करना हो जाता है ताकि इनके बच्चों को उनके पूरे अधिकार के साथ पिता का नाम मिल सके।

कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे के जीवन संदर्भों में सबसे बड़ी समानता यह है कि वे दलित स्त्री हैं। दोनों को ही अपने दाम्पत्य जीवन में हिंसा का सामना करना पड़ता है। दोनों ही दलित आत्मकथाकारों में स्त्री–जीवन जातीय एवं पति द्वारा शोषण की समानताओं से युक्त है और इसी रूप में इनका जीवन अन्य आत्मकथाकारों से अलग है।

कृष्णा अग्निहोत्री और पद्मा सचदेव अपने पति से प्रेम चाहती हैं। दोनों ही पहली बार असफल होती हैं लेकिन पद्मा सचदेव को अपने दूसरे पति में वह स्थिरता प्राप्त हो जाती है जो कृष्णा अग्निहोत्री को आजीवन नहीं मिलती है। कहना न होगा कि कुसुम अंसल को छोड़कर प्रायः सभी महिला आत्मकथाकारों ने अपने वैवाहिक जीवन में शारीरिक अथवा मानसिक हिंसा का अनुभव किया है। ये अनुभव इनके लेखन में दाम्पत्य जीवन के अन्तर्विरोधों के माध्यम से अनेक प्रसंगों में उजागर हुए हैं। दाम्पत्य जीवन में न होने के बावजूद प्रभा खेतान को भी इस अनुभव से रूबरू होना पड़ता है जब वे डॉ. सर्राफ से गर्भवती हो जाती हैं। डॉ. सर्राफ से पूछने पर प्रभा को यह उत्तर मिलता है, "क्योंकि तुम आधुनिका हो, पढ़ी–लिखी हो, फिर डॉक्टर होने के नाते मैं पहले दिन समझ गया था कि तुम कुँवारी नहीं हो।"[44] गोया आधुनिका होना, पढ़ा–लिखा होना और कुँवारी न होना सहज रूप से प्राप्य हो जाना है। जिस व्यक्ति से प्रभा खेतान ने इतनी अनन्यता दिखायी, उसने बदले में गर्भपात कराने की सलाह दे डाली। जहाँ सुशीला, कौसल्या, चन्द्रकिरण अपने बच्चों को पिता का नाम देने की एवज में शोषण को सहन करती जाती हैं वहीं प्रभा खेतान चाहने के बावजूद महज इसलिए माँ नहीं बन पातीं क्योंकि उनका विवाहित प्रेमी उनकी कोख को ही अवैध मानता है। यही प्रभा खेतान के जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उन्होंने जिस पर अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दिया, वही उनके आपसी रिश्तों को अवैध समझने लगता है।

अन्य स्त्री आत्मकथाकारों की ही तरह कृष्णा अग्निहोत्री भी यह मानती हैं, "जीवन की नई रेलयात्रा में अनजान यात्री के साथ जीवन सफर हेतु मैं चढ़ रही थी, एक नन्हीं उम्र, कल्पनाओं की परत, कोमल भावनाएं और संवरा हुआ यह विश्वास कि पति–पत्नी केवल एक–दूसरे के लिए ही होते हैं। पति पर पूरा

आधिपत्य पत्नी का है और वह उसका समर्थक, शायद पति का कोई और अर्थ समझ नहीं आता था।"[45] लेकिन कृष्णा अग्निहोत्री की इन कोमल कल्पनाओं को उनके पति की 'सेक्स विकृति' ने कुचलकर रख दिया और यह विकृति कई प्रसंगों में सामने आती है। विवाह के बाद अपने पति के साथ बिताए गए पहले प्रेम अनुभव को व्यक्त करते हुए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "मैं बातूनी हूँ, परंतु बात का अवसर नहीं मिला। उन्होंने बिना वार्तालाप, जान–पहचान या स्नेह के, मेरे साथ वह सबकुछ कर डाला, जो अच्छा नहीं लगा था। उसे सेक्स विकृति ही कहेंगे।"[46]

अपने जीवन में आगे भी कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी कल्पनाओं को साकार होते कभी नहीं देखा। कृष्णा को उनके पति ने केवल एक सैक्सुअल आब्जेक्ट के रूप में इस्तेमाल किया। कृष्णा का दाम्पत्य अनुभव जीवनभर एक दु:स्वप्न सा उनके पीछे लगा रहा। इस दु:स्वप्न में ससुराल द्वारा प्रताड़ना, पति की उपेक्षा, अकेलापन, तिरस्कार, अपमान, लांछन सबकुछ शामिल था।

पुरुष आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं में भी स्त्री आत्मकथाओं की ही तरह विवाह एवं दाम्पत्य के कई प्रसंग मौजूद हैं। इन सम्बन्धों का सबसे आदर्श निरूपण विष्णु प्रभाकर के पत्नी प्रसंगों में देखा जा सकता है। एक पति के रूप में विष्णु प्रभाकर अपनी पत्नी को उसकी एकनिष्ठता और अनन्यता का पूरा प्रतिदान करते हैं। दाम्पत्य जीवन की इसी स्थिति की चाह कृष्णा अग्निहोत्री, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा को भी थी जो उन्हें नहीं मिल सकी।

विष्णु प्रभाकर ने अपनी आत्मकथा के तीसरे खंड में लिखा है, "मैं बयालीस वर्षों के उस संघर्षमय जीवन में जिधर भी झाँकता हूँ उस साधारण लड़की की भाषा में मुझे वही असाधारण प्यार और वही अनिर्वचनीय माधुर्य परिलक्षित होता है। वह किसी मध्ययुगीन पतिव्रता का आत्मसमर्पण नहीं था बल्कि बीसवीं सदी की जाग्रत नारी की सही साहचर्य की कामना थी? और वह कामना उस प्रेम में से शक्ति पाती थी जो नर–नारी के सही सम्बन्धों का आधार है।"[47] उनका यह लिखना कि उनकी पत्नी मध्ययुगीन मूल्यों से युक्त नहीं थी। उनकी पत्नी के एक पत्र द्वारा प्रमाणित भी हो जाता है जब उनकी पत्नी उनको संबोधित एक पत्र में लिखती है – "पुरुष समझता है कि मैं शक्तिशाली हूँ समर्थ हूँ नारी से। इसलिए वह स्त्री जाति को सदैव दबाने की कोशिश करता है। नारी को वह अबला, अशक्त, कायर और न जाने क्या–क्या समझता है? वह किसी भी बात में नारी को शासन करते नहीं देख सकता। जहाँ उसने नारी में तनिक (भी) स्वतन्त्रता देखी कि एकदम अहम् भाव जागृत हो उठता है।"[48] नारी की स्वतन्त्रता और पुरुष के अहम् भाव को समझने वाली उनकी पत्नी निश्चय ही आधुनिक जीवन मूल्यों से युक्त है। विष्णु प्रभाकर के

अलावा (तुलसीराम को छोड़कर) अन्य पुरुष आत्मकथाकारों के यहाँ भी विवाह और दाम्पत्य सम्बन्धी कुछ प्रसंग मिलते हैं। लेकिन प्रायः सभी पुरुष आत्मकथाकारों ने अपनी पत्नी के प्रति अपनी अनन्यता को नहीं दर्शाया है। हालांकि दाम्पत्य जीवन से इतर सम्बन्धों के बारे में सभी ने खूब लिखा है। अशोक वाजपेयी और कमलेश्वर ने क्रमशः अपने साक्षात्कार और आत्मकथा में स्त्री की ऐन्द्रिकता को उसकी विशिष्टता के रूप में परिभाषित किया है। दाम्पत्य जीवन को लेकर स्त्री और पुरुष आत्मकथाकारों की दृष्टि का यह अंतर आत्मकथाओं के कई प्रसंगों में देखा जा सकता है।

कमलेश्वर ने अपनी विवाह पूर्व मनःस्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है, "अपने लेखन के अत्यन्त सर्जनात्मक वर्षों – दिनों से गुजरते हुए – अपने जीवन के एक रोमांटिक प्रसंग की परिसमाप्ति पर कुछ–कुछ उदास होते हुए और इलाहाबाद जैसे बंद शहर में देशी सेठ के प्रकरण का दमघोंटू धुआं भरते हुए वह इतना लाचार और अकेला हो गया था कि एक बार मना कर देने के बावजूद उसने शादी के लिए अंततः हाँ कर दी थी। यह सोच कर कि शादी सेक्स के लिए नहीं – एक साथी पा सकने के लिए अत्यन्त जरूरी हो गई है... क्या करेगी गायत्री? झगड़ेगी, उसे गलत समझेगी, कोसेगी अपने भाग्य पर लानत भेजेगी, सताएगी, दुख देगी... जीना हराम कर देगी – लेकिन जिन्दगी का एहसास तो देगी! उस सन्नाटे को तो तोड़ेगी ... खुद उससे लड़ेगी पर दुनिया से उसके लिए लड़ेगी ... और गायत्री ने अपने अपार धीरज के साथ शादी के बाद यही किया भी।"[49] इस प्रकरण में कमलेश्वर ने ईमानदारीपूर्वक उस मनःस्थिति का चित्रण किया है जिसका वे शादी से ठीक पहले के दिनों में सामना कर रहे थे। कमलेश्वर के दाम्पत्य जीवन से इतर बनाए गए स्त्री–सम्बन्धों और अनुभवजन्य संवेदनाओं में स्त्री–जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण कई प्रसंगों में जाहिर हुआ है। एक जगह तो उन्होंने यहां तक लिख दिया है कि उनके जीवन के बाद के दिनों में, "अब इससे बेहतर स्थिति क्या होगी कि मेरी प्रेमिकाओं का पूरा हिसाब रखने की जिम्मेदारी मेरी बेटी मानू पर थी। वह ही उनसे फोन पर बात करती थी, उन्हें मेरा कार्यक्रम बताती थी और जरूरत पड़ने पर मानू ही उनसे मिलती भी थी।"[50]

इस पंक्ति से तो यही जाहिर होता है कि कमलेश्वर की बेटी मानू को उनके विवाहेतर सम्बन्धों की जानकारी थी जिसे शायद मानू ने स्वीकार कर लिया था। मन्नू भंडारी के 'कितने कमलेश्वर' लेख से साफ पता चलता है कि कमलेश्वर की पत्नी गायत्री दूसरी स्त्रियों के साथ कमलेश्वर के सम्बन्धों को लेकर परेशान रहती थी जिसका जिक्र कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में कहीं नहीं किया है।

हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में स्त्री–जीवन के प्रसंगों में ईमानदारी बरतने की पूरी कोशिश की है और अपने सम्बन्धों के बारे में खुलकर लिखा भी है। लेकिन इन सबके दौरान उन्होंने अपनी पत्नी गायत्री की दुखद स्थिति का कहीं जिक्र नहीं किया है। जिसने आजीवन इनके सम्बन्धों की सच्चाई जानकर भी अपने वैवाहिक जीवन को बचाए रखा और इनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया। कमलेश्वर की ही तरह अशोक वाजपेयी ने भी अपने विवाह के शुरुआती दिनों में पत्नी के बारे में चर्चा करने के अलावा कहीं और कुछ भी नहीं लिखा है।

अशोक वाजपेयी ने अपनी आत्मकथा के एक प्रसंग में अपनी पत्नी के प्रति अपने भावों को जरूर दर्शाया है। "मसूरी में साल–भर प्रशिक्षण समाप्त होने के तुरन्त बाद पहला कविता संग्रह प्रकाशित हुआ जिसकी पहली प्रति मैंने 27 जून 1966 को अपनी पत्नी रश्मि को विवाह के उपहार के रूप में भेंट की।"[51]

आत्मकथा की अलक्षित भूमिका में पत्नी रश्मि पर प्रश्नोत्तर का जवाब देते हुए अशोक वाजपेयी ने अपने प्रेम विवाह होने की जानकारी दी है। साथ ही अपने परिवार को चलाते हुए और बच्चों के पालन–पोषण का सारा श्रेय उन्होंने अपनी पत्नी को दिया है – "बाद में जब भोपाल में अपनी पूर्णकालिक प्रशासनिक जिम्मेदारियों के साथ संस्कृति के क्षेत्र में मेरा बेहद सक्रिय और व्यस्त होना शुरू हुआ तो लगभग बीस बरस रश्मि ने ही परिवार चलाया और मुझे कभी उसके लिए परेशान नहीं होने दिया।"[52] इसके अतिरिक्त अशोक वाजपेयी ने अपनी पत्नी की एक विशेष कमी का जिक्र किया है "उसने बीच में कभी मेरा बौद्धिक साहचर्य छोड़ दिया।"[53] हालांकि साक्षात्कार के ज्यादातर प्रसंगों में उन्होंने अपनी पत्नी की खूब तारीफ की है – "रश्मि में एक अच्छी और सुघड़ पत्नी की सभी विशेषताएं हैं ... अव्वल तो मैं महान–वहान कुछ बन नहीं पाया, वैसी आकांक्षा भी नहीं रही। पर जो कुछ थोड़ा–बहुत कर पाया हूँ उसमें रश्मि की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है।"[54]

राजेन्द्र यादव अपनी आत्मकथा में अपने दाम्पत्य जीवन में कमलेश्वर एवं अशोक वाजपेयी से इतर खुद का मूल्यांकन करते नजर आते हैं। वह लिखते है, "आज लगता है कि मैं शायद अपने आप में ही इतना डूबा रहा हूँ कि न मन्नू को एक अच्छा पति दे पाया, न मीता को अच्छा प्रेमी या दीदी को अच्छा मित्र...।"[55] अपने जीवन में आई तीनों स्त्रियों के प्रति अपनी असफल भूमिकाओं का जिक्र करते हुए राजेन्द्र यादव ने इसे बड़ी बेबाकी के साथ स्वीकार किया है। हालांकि उन्होंने इसका कारण अपने लेखकीय जीवन को माना है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ राजेन्द्र यादव की आत्मकथा 2001 में प्रकाशित हुई थी, वहीं मन्नू भंडारी की

2008 में। जहां उन्होंने अपने जीवन में पत्नी के अलावा आयी स्त्रियों के सम्बन्धों को सार्वजनिक रूप से बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया है था, जिसको 7 साल बाद मन्नू भंडारी ने 'एक कहानी यह भी' लिखकर सार्वजनिक किया था। हम कह सकते हैं राजेन्द्र यादव अपने लेखन में अशोक वाजपेयी और कमलेश्वर की तुलना में ज्यादा विश्वसनीय हैं।

इस प्रकार हम स्त्री–पुरुष आत्मकथाकारों के अनुभव एवं संवेदना सम्बन्धी प्रसंगों में समानता एवं असमानता के कई बिन्दु देख सकते हैं। सभी आत्मकथाओं में प्रेम, विवाह, सेक्स, परिवार और नैतिकता, अनैतिकता के प्रश्नों को शामिल किया गया है। जहां स्त्री आत्मकथाकारों ने सर्वाधिक रुचि दाम्पत्य जीवन के वर्णन में दिखायी है वहीं अधिकांश पुरुष आत्मकथाकारों ने दाम्पत्य–जीवन की बजाए इससे बाहर रहते हुए बनाए गए सम्बन्धों को अपने लेखन में ज्यादा जगह दी है। स्त्री आत्मकथाकारों के दाम्पत्य चित्रण में जहां पति के साथ बिताए सुख–दुख के क्षणों सहित प्रेम, तिरस्कार और लांछन सबकुछ शामिल हैं, वहीं पुरुष आत्मकथाकारों के यहां आत्ममुग्ध विश्लेषण देखने को मिलता है जिसके दायरे में विवाहेतर सम्बन्ध, स्त्री–संसर्ग एवं अन्य प्रसंगों का चित्रण ज्यादा किया गया है।

(ख) दृष्टिगत भेद

भौतिक परिस्थितियाँ और परिवेश व्यक्ति की चेतना के विकास के प्रमुख आधार हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य के परिप्रेक्ष्य में ही विचारों का निर्माण और विकास होता है। बहुउद्धृत कथन है कि वाद–विवाद और संवाद (थीसिस → एन्टीथीसिस → सिंथीसिस) से होकर ही हमारी चेतना वह स्वरूप ले पाती है जिसे हम मुकम्मल समझते हैं। कोई भी लेखक उस कंडीशनिंग से मुक्त नहीं हो सकता है जो उसने अतीत में जिया है। पुरुषत्व और स्त्रीत्व इसी कंडीशनिंग के प्रोडक्ट हैं जो हमारी संपूर्ण जीवनदृष्टि को संचालित करते हैं। अनुभव निर्णयों से निकलते हैं जिन्हें परिस्थितियों के संदर्भ में सही और गलत समझा जाता है। इसी आधार पर विकसित विवेक एवं चेतना को दृष्टि का नाम दिया जाता है।

इस उप–अध्याय में आलोच्य आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री–जीवन सम्बन्धी प्रसंगों के माध्यम से ही स्त्री–पुरुष आत्मकथाकारों की दृष्टिगत समानता और असमानता को स्पष्ट किया जाएगा। एक–दो आत्मकथाकारों को छोड़कर किसी भी लेखक या लेखिका ने अपनी आत्मकथा में स्त्री–जीवन के संदर्भ में स्वतंत्र टिप्पणियां नहीं की हैं। आत्मकथा विधा में इसकी गुंजाइश भी कम ही होती है। पाठक को प्रसंगों और घटना विशेष के आधार पर ही आत्मकथाकार की स्त्री के प्रति दृष्टिकोण को समझना होता है। बचपन, युवावस्था, दाम्पत्य–जीवन, सेक्स और परस्पर विपरीत लिंग के साथ होने वाले अनुभवों, इनके परिणामों एवं इन सबको विश्लेषित करने की भाषा ही वह स्रोत होती है जिसके आधार पर सम्बन्धित आत्मकथाकार की स्त्री–दृष्टि के संदर्भ में मूल्य निर्णय दिया जा सकता है। हालांकि आत्मकथाओं को पढ़ने के क्रम में यह सैद्धांतिकी बहुत सफल नहीं रही। इसे इस रूप में देखा जा सकता है कि कुछ आत्मकथाकार अपने साक्षात्कार में तो बहुत बोल्ड दिखे लेकिन अपने लेखन मे सब छिपा ले गए। थोड़ा और विस्तार से समझाएं तो यही कहेंगे कि आत्मकथा में आत्म ज्यादा है दृष्टि कम। आत्म का ज्यादा होना आत्ममुग्ध होना ही है। यही दबाव सबकुछ साफ–साफ लिखने से रोकता है। हालांकि आत्मकथाओं के कई प्रसंगों में लेखक/लेखिका की स्त्री–दृष्टि अनायास ही स्पष्ट होती चली जाती है तो कई प्रसंगों में आत्ममुग्धता साफ दिखने लगती है। न चाहकर भी लेखक अपने आवरण को उतार फेंकता है।

तुलनात्मक रूप से देखने पर लगभग सभी स्त्री आत्मकथाकारों की दाम्पत्य–जीवन को लेकर आम सहमति है। सभी लेखिकाएं वैवाहिक जीवन का बेसब्री से इंतजार करती हैं और एक ऐसे पति की आशा करती हैं जो इनके प्रति

समर्पित और एकनिष्ठ रहे। पत्नी के प्रति पति की अनन्यता ही लगभग सभी लेखिकाओं के वैवाहिक जीवन का आदर्श है। वहीं दूसरी ओर पुरुष आत्मकथाकारों में विष्णु प्रभाकर के अलावा सभी लेखकों की आत्मकथाओं में इस आदर्श की पूरी उपेक्षा दिखती है। पुरुषों के जीवन में स्त्रियां कई भूमिकाओं से सहभागी होती हैं, इसमें सर्वाधिक भूमिका निश्चित रूप से पत्नी की ही होती है। समाज परिवार से ही बन सकता है, बाकी सारे सम्बन्ध इसी के सहवर्ती होते हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में यही भूमिका पति की होती है। सवाल यही उठता है क्या कारण है कि स्त्री आत्मकथाकारों ने तो परिवार, पति और दाम्पत्य के बारे में खूब लिखा है जबकि पुरुष आत्मकथाकारों ने मात्र औपचारिकता ही निभायी है? क्या कारण है कि मन्नू भंडारी, राजेन्द्र यादव की आत्मकथा में मीता से कम महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं? क्या कारण है कि पुरुष सहजप्राप्य पत्नी को ऐसी स्थिति समझता है जहाँ अशोक वाजपेयी के अनुसार जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है? पत्नी की केंद्रिकता और मादकता प्रेमिका की ऐंद्रिकता और मादकता से कैसे कम हो जाती है? ऐसा पुरुष आत्मकथाकारों के साथ ही क्यों हुआ है? कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहनदास नैमिशराय सभी अपनी पत्नी के प्रेम और उसके साथ बिताए गए अनुभवों को छोड़कर संपर्क में आने वाली दूसरी स्त्रियों और उनके साथ अपने सम्बन्धों का बड़ी रुचि से बखान करते हैं। असल में हमारे समाज का ताना–बाना और स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के आदर्शों की बुनियाद ही अंतर्विरोधों को जन्म देने वाली है। यहाँ प्रेम मुक्त नहीं करता बल्कि बाँधता है। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सच सामने आता दिखता है कि परायी स्त्री के साथ संसर्ग करना मानो पुरुषत्व का सबसे बड़ा पैमाना हो। ये आत्मकथाएं दर्शाती हैं कि पुरुष कितना योग्य है, यह इस बात से तय किया जाता है कि वह स्त्रियों में कितना लोकप्रिय है।

कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव दोनों ही अपनी–अपनी पत्नी को घर के दायरे तक सीमित करना चाहते हैं और सामाजिक जीवन में रासलीला रचते हैं। क्या कारण है कि सेक्स का सर्वाधिक वर्णन पुरुष आत्मकथाकारों के यहां ही किया गया है? और ये वर्णन पत्नी से सम्बन्धित नहीं हैं। स्त्री आत्मकथाकारों ने तो इस तरह के सम्बन्धों की ज्यादा चर्चा पति के प्रसंगों में ही की है। पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रियों के साथ सेक्स सम्बन्धों के प्रसंगों में इतना रमना और इसे अपनी आत्मकथा में साफ–साफ लिख देना निश्चय ही बड़ी ईमानदारी का काम है। यह लिखे गए को प्रामाणिक बनाती है लेकिन क्या इससे सम्बन्धित लेखक का मूल्यांकन करते समय सिर्फ उसकी ईमानदारी से किए गए लेखन के कारण उसे दोषमुक्त करना उचित होगा? स्त्री–जीवन एवं स्त्री–विमर्श इसकी इजाजत नहीं देता है। स्त्री एक

पत्नी और प्रेमिका से इतर एक व्यक्तित्व भी है। मातृत्व इस व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आदर्श है। पत्नी माँ के ठीक पहले की अवस्था है। आलोच्य आत्मकथाओं में कुछ स्त्री आत्मकथाकारों ने इसी मातृत्व के कारण अपने दाम्पत्य जीवन को बचाए रखा। उन्होंने मातृत्व को पत्नी या प्रेमिका से ज्यादा महत्वपूर्ण माना और अपने पति के साथ लंबे समय तक अपने सम्बन्धों को सिर्फ इसलिए बरकरार रखा क्योंकि उनके पति उनके बच्चों के पिता भी हैं। सुशीला टाकभौरे, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा, कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा इसी का उदाहरण है। सवाल यही है कि क्या एक भी पुरुष आत्मकथाकार ने पिता होने के आदर्श को निभाया? सभी पुरुष आत्मकथाकारों ने अपनी–अपनी पत्नियों को इस बात का श्रेय दिया है कि उनकी वजह से वे परिवार की चिंताओं से आजीवन मुक्त रहे। यह स्वीकारोक्ति पिता और पति दोनों ही भूमिकाओं को सही तरह से न निभा पाने की विफलता ही है। कहना न होगा कि एक स्त्री अपने जीवन में बहिन, बेटी, पत्नी, प्रेमिका और माँ जैसी महत्वपूर्ण भूमिकाओं का सफल निर्वाह करती है। लगभग सभी महिला आत्मकथाकारों ने कई प्रसंगों में इन भूमिकाओ को निभाने का जिक्र किया है। पत्नी की उपेक्षा आत्मकथा को अधूरा बनाती है और यह अधूरापन सभी पुरुष आत्मकथाकारों के यहां मौजूद है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "एक पति की कल्पना स्त्री के लिए किसी आशियाने मे बैठे प्यार से भींगे जीवनसाथी की ही होती है जिसकी प्रत्येक नस व अंग से जीवन अमृतधारा बहती हो, जो हल्की–सी ठोकर लगते ही सहलाता, थामता, दुलारता, संभालता साथ चलता हो। कैसा–कैसा स्पंदन होता है मन में।"[56] क्या पत्नी को लेकर एक भी पुरुष आत्मकथाकार ने ठीक इसी भाषा मे अपने भावों का वर्णन किया है? पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिलता है। कमलेश्वर के यहाँ बिल्कुल एक अलग तरह का वर्णन जरूर मिलता है। कमलेश्वर लिखते हैं, "पाप से परे सेक्स एक परम सत्य की प्रगाढ़ प्रतीति देता है ... सेक्स का क्षण स्वयं में स्वतंत्र है – समाजातीत, संस्कारातीत और वर्जनातीत। और वर्जित सेक्स का सबसे बड़ा सत्य यही है कि वह तमाम स्वीकृत सामाजिक सत्यों को लाँघ कर स्त्री–पुरुष के संवेदनाहीन आदिम सत्य को स्थापित करता है...।"[57] सेक्स को लेकर इस प्रकार की दृष्टि रखने वाले कमलेश्वर से स्त्री की संवेदना को समझने की क्या उम्मीद की जा सकती है? आत्मकथा में यह साफ तौर पर सामने आया है कि कमलेश्वर स्त्री के एकनिष्ठ बने रहने के आदर्श की महत्ता को ही नहीं समझ सके। सेक्स का संस्कार जिसके लिए सामाजिक संस्कारों और वर्जनाओं से परे हो, वह नैतिकता और अनैतिकता के बंधनों में आकण्ठ डूबी विवाह संस्था और दाम्पत्य–जीवन में जीवनभर एक ही स्त्री से सेक्स के अनुभव का आजीवन निर्वाह कतई नहीं कर सकता। स्त्री–जीवन के

लिए संरक्षण का जो अहसास मायने रखता है, उसे भला ऐसे आदर्शों वाला व्यक्ति कब निभा सकता। स्त्री जिस अनन्यता को अपने जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानती है, उस अनन्यता का सेक्स सम्बन्धी यह धारणा कदम–कदम पर तिरस्कार करती है। मन्नू भंडारी, कमलेश्वर द्वारा गायत्री के इसी तिरस्कार का जिक्र करती हैं। कमलेश्वर ने भी अपनी आत्मकथा में इसका प्रमाण दिया है, "उसका साबका अब ऐसी औरतों से बहुत बार पड़ता रहता था, जो इश्क का खेल सिर्फ जुए की तरह खेलती हैं। वे डैशिंग हैं दाँव लगाती हैं। दाँव लग गया तो इश्क, न लगा तो अफेयर। फ्री सेक्स कहीं भी टैबू नहीं है। वैसे सेक्स एक बेहद खर्चीला शगल है, पर यहाँ उसमें, ज्यादातर कोई जिम्मेदारियाँ आयद नहीं होतीं। जिम्मेदारी यदि होती है तो इतनी कि पार्टियों में आप जाहिर करें कि वह आपके साथ हैं और इस बात का एहसास लोगों को देते रहें कि आप शायद उसकी/उनकी ओर फिलहाल आकर्षित हैं। यदि आपके पीछे कोई पिछला रोमांस या स्कैण्डल है, तो आपका आकर्षण और बढ़ जाता है और आपकी नई मित्र खुद को ज्यादा महत्त्वपूर्ण महसूस करती है, वह एक औरत के साम्राज्य पर अपना साम्राज्य स्थापित करके अधिक संतुष्ट महसूस करती है। वह आदमी को जीतती नहीं, किसी औरत को हराती है। यहाँ हारी हुई औरतें आपके विरुद्ध हो जाती हैं और जब तक वे किसी और औरत को हरा नहीं लेतीं, तब तक चैन से नहीं बैठतीं।"[58]

इस प्रसंग को पढ़ने पर कमलेश्वर की उस दृष्टि का पता चलता है जो स्त्री को सिर्फ और सिर्फ सेक्सुअल आब्जेक्ट की तरह देखती है। इसे पढ़कर लगता है कि मानो कोई रेस चल रही है। कमलेश्वर यह भी स्वीकार करते हैं कि सेक्स एक खर्चीला शगल है पर यहां उसमें ज्यादातर जिम्मेदारियां आयद नहीं होतीं। जिम्मेदारी से क्या तात्पर्य है? क्या यह पत्नी पक्ष की अवहेलना नहीं है? गोया लेखक यह कहना चाह रहा है कि पत्नी के साथ सेक्स के बदले उसके प्रति कई जिम्मेदारियों का निर्वाह करना पड़ता है। ऐसे विमर्श से तो प्रेम का कोई लेना–देना ही नहीं है। यहाँ विशुद्ध सेक्स की बात की गयी है। कमलेश्वर ने इसे और भी स्पष्ट किया है, "वह अच्छी तरह महसूस करने लगा था कि वे दोनों एक खेल खेल रहे थे... एक ऐसा खेल जिसमें सेक्स के बन्धन तो कसते थे पर विश्वास और इच्छाओं के बन्धन टूटते जा रहे थे। इच्छा जागती ही नहीं थी ... और वह भी इस बात को समझने लगा था कि सेक्स के रिश्ते अरूप होते हैं, इनका कोई स्वरूप नहीं बनता।"[59] सेक्स के रिश्तों को अरूप कहना और यह मानना कि इनका कोई स्वरूप नहीं बनता भी इसी धारणा की पुष्टि करता है। कमलेश्वर ने इसी प्रसंग में आगे लिखा है 'मध्यवर्गीय चरित्र की कायरता बड़ी मुश्किल से मरती है।' 'मध्यवर्गीय कायरता' क्या है? जिस कंडीशनिंग का जिक्र पहले किया जा चुका है, इसका

सम्बन्ध उसी से है। असल में यह वह भाव है जो व्यक्ति को सेक्स के सम्बन्धों में स्वच्छन्द नहीं बनने देता है। नैतिकता और अनैतिकता के प्रश्नों द्वारा खुद को इस तरह के अनुभव में स्वच्छंद होने से रोकता है, यही 'मध्यवर्गीय कायरता' है। कमलेश्वर इसे ही तोड़ने की बात कर रहे हैं।

स्त्री सम्बन्धों को लेकर कमलेश्वर की दृष्टि अन्य सभी आत्मकथाकारों से बिलकुल अलहदा है। कमलेश्वर इस बात के लिए जरूर बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने एक बेहतरीन भाषा में व्यक्ति की सेक्स इच्छाओं के साथ–साथ उसकी परिवेशजन्य दुविधा का भी बड़ी खूबसूरती से चित्रण किया है। कमलेश्वर का सेक्स अनुभव उनके लिए वासना नहीं बल्कि स्त्री–पुरुष के आदिम सत्य का बोध कराने वाला बनकर सामने आता है। लेकिन यही सत्य उनकी पत्नी के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना भी है।

यूँ तो कृष्णा अग्निहोत्री भी सेक्स के सम्बन्ध में कमलेश्वर जैसी ही भाषा का प्रयोग करती हैं। वह लिखती हैं, "कई लोग स्त्री की सेक्स चाहत को अनैतिक कहते हैं परंतु प्रकृतिदत्त भावनाओं के प्रभाव को मनुष्य कैसे नकार सकता है...।"[60] कृष्णा अग्निहोत्री कमलेश्वर से इस बिन्दु पर आकर भिन्न हो जाती हैं जब वह कहती हैं, "मैं चाहती तो थी कि मुझे अच्छा, मेरी पसंद का पति, प्रेमी मिले, अब अग्निहोत्री से तो कुछ कहा नहीं जा सकता। भले ही कृष्णा उनके द्वारा भोगी गई, तड़पाई गई, नकारी गई और उसके वे वर्ष दफन हो गए। जिन्हें अब लौटाया नहीं जा सकता हाँ, श्रीकांतजी प्रेमी तो रहे परंतु कहीं न कहीं उनके भीतर चालाकी एवं षडयंत्र पलता रहा था। जो हावी होते ही कुत्ते–सा भौंकते लेकिन कुछ न कर पाने पर दुम भी दबा लेते।"[61]

इस बारे में राजेन्द्र यादव का स्वर कमलेश्वर और कृष्णा अग्निहोत्री दोनों से बिल्कुल अलग है। वह लिखते हैं, "... अपने आपसे पूछता हूँ कि क्या सचमुच मेरी लेखकीय जिन्दगी का 'स्वर्णकाल' सिर्फ मीता, स्नेहजी, दीदी, मन्नू या ऐसे ही दो–एक और सम्बन्धों के आसपास ही घूमता रहा है? क्या मेरे मानसिक क्षितिज पर केवल यही नारी, नक्षत्र जलते बुझते रहे हैं? कहीं और कुछ नहीं है? न जीवन और जीविका के संघर्ष, न पारिवारिक, सामाजिक और वैचारिक चिन्ताएँ, न लेखन और कला की समस्याएँ – आखिर वे सब भी तो थे ही। मगर क्या वे सिर्फ आनी–जानी मायाएँ थीं? केवल बौद्धिक छलाँगें? या इस सारी भटकन के लिए मानसिक जस्टीफिकेशन? मूल और स्थायी संचालक शक्तियाँ क्या यही चार–पाँच महिलाएँ हैं और इन्हीं के इशारों पर मैं मरकट की नाईं नाचता रहा हूँ।"[62] राजेन्द्र यादव का लेखन यहाँ हकला रहा है। 'खुलापन तो है मगर प्रचलित अर्थ में सेक्स बिलकुल

नहीं है।' यह राजेंद्र जी का बिलकुल भोला संवाद है। मरकट की तरह नाचने और संचालित होते जाने के पीछे का स्वार्थी ही यह सब कुछ कराता है।

गौरतलब यह है कि कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव दोनों ही आदिम पुरुषवृत्ति की बात करते हैं जबकि किसी भी स्त्री आत्मकथाकार ने आदिम स्त्रीवृत्ति की बात नहीं की है। कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव दोनों ही सेक्स अनुभव सम्बन्धी वर्णन में कई जगह दुविधाग्रस्त दिखते हैं। यद्यपि वे सेक्स को पूर्णता का उपकरण मानते हैं लेकिन पाठक को इन प्रसंगों में दोनों का ही अधूरापन साफ–साफ दिखता है। इस अधूरेपन के कारण की ओर कृष्णा अग्निहोत्री ने इशारा किया है। वह लिखती हैं, "पुरुष स्त्री के भीतर स्त्री ही नहीं एक बारबाला खोजता है पर क्या एक स्त्री सदा अपने भीतर बारबाला को स्थापित रख सकती है।"[63] एक पत्नी के लिए तो बारबाला बनना असंभव ही है क्योंकि उसके सम्बन्धों को सामाजिक स्वीकृति और मर्यादा चाहिए जो बारबाला को कभी नहीं मिल सकती है।

कमलेश्वर की दृष्टि उनके महानगरीय जीवन के अनुभवों से भी निर्मित हो रही थी जहां उन्होंने स्त्री–जीवन को अपनी पारम्परिक दृष्टि से बिलकुल भिन्न तरह से देखा था। कमलेश्वर लिखते हैं, "जिस समाज और सोसाइटी में वह मूव करता था, उसमें अधिकांश औरतें अभी–भी केवल अपनी सेक्स की ओर आकर्षित कर सकने की शक्ति के सहारे ही अपने व्यक्तित्व की सार्थकता खोज रही थीं ... स्पर्धा के इस फैशनेबल समाज में बिस्तर की शक्ति ही औरत की महाशक्ति थी!"[64] बम्बई की औरतों के बारे में लिखते हुए कमलेश्वर ने उनके सम्बन्ध में बिस्तर की शक्ति को उनकी महाशक्ति कहते हुए इसी के सहारे अपने व्यक्तित्व को खोजे जाने की बात कही है। यह महज संयोग नहीं है कि खतवाली के सम्बन्ध का जिक्र करते हुए भी कमलेश्वर ने लिखा है कि खतवाली के साथ उनके सम्बन्ध उसके लिए 'पूर्णता के अहसास' के साथ 'मुक्ति का अवलंब' भी थे।

हम कह सकते हैं कि राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर दोनों के लेखन में स्त्री–जीवन के संदर्भ में नैतिकता, अनैतिकता तथा मर्यादा आदि का जीवन मूल्यों के रूप में अधिकांशतः अस्वीकार दिखता है।

आलोच्य आत्मकथाओं में लगभग सभी आत्मकथाकारों ने स्त्री संदर्भों को लेकर प्रेम पर भी टिप्पणियां की हैं। इनमें स्त्री आत्मकथाकारों में जहां कृष्णा अग्निहोत्री और प्रभा खेतान ने दो अन्य लेखिकाओं की तुलना में प्रेम की अधिक चर्चा की है, वहीं पुरुष आत्मकथाकारों में राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर ने। राजेन्द्र यादव और प्रभा खेतान दोनों ही प्रेम की एकसमान परिपाटी से संचालित दिखते हैं। दोनों कई जगह एक जैसी भाषा बोलते हैं। प्रभा खेतान ने लिखा है, "प्रेम कभी देह

आधारित नहीं हुआ करता, देह की भूमिका गौण है। फ्रायड महाराज इसे चाहे जिस ग्रन्थि का नाम दें मगर मन एक है। जिसे चेतन – अचेतन में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। यह मन ही समर्पण की आज्ञा देता है।"[65] प्रभा खेतान यहां प्रेम और सेक्स को अलग–अलग नहीं देखती हैं। मन को समर्पण की आज्ञा देने वाला कहते हुए चेतन–अचेतन का नकार उनकी इसी दृष्टि को और मजबूत करता है। गौरतलब है कि आलेख संवाद पत्रिका के 'प्रेम विशेषांक' में दिए गए साक्षात्कार में राजेन्द्र यादव ने भी कहा – 'प्रेम का ही दूसरा नाम सेक्स है।' राजेन्द्र यादव के इस कथन और प्रभा खेतान द्वारा मन को चेतन–अचेतन रूप में न देखने के आग्रह का वैचारिक उत्स एक ही है। दोनों ही अपने प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में ग्रंथि जैसी किसी भी चीज को नकारते हैं।

प्रेम के विषय में विष्णु प्रभाकर का स्वर सबसे अलग दिखता है। विष्णु प्रभाकर की प्रेम सम्बन्धी अवधारणा कुछ इस प्रकार है, "मैं कहता हूँ जीवन और मरण क्यों, प्रेम तो भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच के अन्तर को भी नहीं पहचानता क्योंकि वह कालातीत है शब्दातीत है। वही कालातीत शब्दातीत प्रेम मेरा कवच है और रहेगा।"[66] प्रेम की यह अवधारणा राजेन्द्र यादव की अवधारणा से बिलकुल अलग है। विष्णु प्रभाकर प्रेम में स्थूलता के बरक्स सूक्ष्मता को तरजीह देते दिखते हैं। इनका प्रेम शरीर का शरीर से प्रेम नहीं, आत्मा का आत्मा से प्रेम है। विष्णु प्रभाकर का जीवन प्रेम की इसी अवधारणा से संचालित होता रहा। कोई इसे आदर्शवादी और कभी न पायी जाने वाली स्थिति कहकर भले ही व्यावहारिक धरातल पर इसे नकारने की कोशिश करे परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रेम को लेकर दुनियाभर के विचारकों की अपनी–अपनी मान्यताएं और व्याख्याएं हैं। प्रेम की अलग–अलग मान्यताएं अपनी–अपनी जगह ठोस तार्किक धरातल पर टिकी दिखती हैं। राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान या फिर विष्णु प्रभाकर की प्रेम सम्बन्धी अवधारणा नयी नहीं है। उनकी दृष्टि प्रेम की इन्हीं विभिन्न मान्यताओं और व्याख्याओं से ही निर्मित हुई है।

जहां एक ओर विष्णु प्रभाकर प्रेम को समय और शब्द से परे मानते हैं वहीं दूसरी ओर कमलेश्वर सेक्स को समाज, संस्कार और वर्जनाओं से परे परम सत्य की भांति देखते हैं। यह दृष्टि का ही फर्क है कि विष्णु प्रभाकर प्रेम को अपना जीवन कवच मानते हैं, वहीं कमलेश्वर सेक्स में अपने जीवन का अर्थ ढूँढते हैं।

स्त्री संदर्भों में अपनी प्रेम सम्बन्धी दृष्टि में तुलसीराम, विष्णु प्रभाकर के ज्यादा पास दिखते हैं। तुलसीराम के यहां भी प्रेम के संदर्भ में पुनर्जन्म और जीवन से परे संदर्भों का जिक्र हुआ है। उत्पलवर्णा ने तुलसीराम से कहा था कि हम अगले

जन्म में भी मिलेंगे और इसे उसने कई बार दोहराया भी था। उस समय तक कट्टर नास्तिक हो चुके तुलसीदास अचानक आस्तिक हो उठते हैं। "कुछ पल के लिए ऐसा लगा था, कि वह सच बोल रही थी। कोई हद से ज्यादा प्रिय व्यक्ति मस्तिष्क में बस जाए तो उसकी हर बात सच लगने लगती है।"[67]

कमलेश्वर के यहाँ उनकी प्रेम सम्बन्धी दृष्टि घटनाओं के ही संदर्भ में समझी जा सकती है। खतवाली और देशी के प्रसंग में कमलेश्वर ने इसे कई जगह उजागर भी किया है। कमलेश्वर का प्रेम सबकुछ का मिला–जुला रूप है। कमलेश्वर प्रेम को राजेन्द्र यादव की तरह न तो केवल सेक्स समझते हैं और न ही विष्णु प्रभाकर या तुलसीराम की तरह शाश्वत जीवन स्थिति। अपने अधिकांश सम्बन्धों मे उन्होंने अपने कृत्य का जिम्मेदार अपने जीवन में आयी स्त्रियों को ही ठहराया है। इसीलिए स्त्री–जीवन के प्रति कमलेश्वर की दृष्टि बड़ी व्यावहारिक दिखती है। व्यावहारिक कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों को ही सत्य माना, जिस रूप में उन्होंने इसे जिया था। अपनी आत्मकथा के पहले खण्ड का नाम 'जो मैंने जिया' देने के पीछे कमलेश्वर की शायद यही दृष्टि रही होगी। उनका जीवन ही उनका सत्य था और यह सत्य ही उनकी दृष्टि थी।

सेक्स और प्रेम के बाद आलोच्य आत्मकथाकारों ने कई प्रसंगों में अपनी वर्गीय दृष्टि का भी परिचय दिया है। इनमें भी कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और प्रभा खेतान का नाम ही प्रमुख है। प्रभा खेतान लिखती हैं, "रखैल का क्या अर्थ हुआ? वही जिसे रखा जाता है, जिसका भरण–पोषण पुरुष करता हो लेकिन डॉक्टर साहब तो मेरा भरण–पोषण नहीं करते, उनसे मैंने कभी कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। मैं तो खुद कमाती थी, स्वावलम्बी थी, एक आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी। हाँ, डॉक्टर साहब से प्यार जरूर करती थी।"[68] वहीं कमलेश्वर लिखते हैं, "महानगरों की महिलाओं का यह वर्ग आम भारतीय महिलावर्ग से बिलकुल अलग है, इस वर्ग की औरत को समझना और सहना भी एक नितान्त अलग अनुभव है। यह या ऐसी औरतें एक साथ औरत, मित्र, सहभागिनी, सहयोगिनी, अंकशायिनी, परम धूर्त, चरम अवधूत, विलासिनी, उन्मुक्त, चारूशीला, ललिता और वनिता के रूप में सब कुछ का मिला–जुला सम्मिश्रण होती हैं।"[69] कमलेश्वर की इन पंक्तियों में उन स्त्रियों को लेकर उनकी दृष्टि साफ झलकती है जिनका नारा 'माई बॉडी माई च्वाइस' का होता है। कमलेश्वर ने सेक्स को अपने जीवन का वह आदिम सत्य माना है जिसने उन्हें खुद को पहचानने का अवसर दिया था। क्या यह सत्य केवल पुरुषों के लिए है? क्या किसी स्त्री का सेक्स सम्बन्धी स्वच्छन्द व्यवहार उसकी

वर्गीय स्थिति के कारण इतनी संज्ञाओं का अधिकारी हो जाता है? प्रभा खेतान भी इसी वर्गीय स्थिति को अपनी आत्मकथा में उजागर करती हैं। पुरुषत्व के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक सी बात है कि वह चाहे जिस वर्गीय स्थिति में हो, अपनी स्वच्छन्दता का जश्न मनाता है और स्त्री के लिए उसके स्त्रीत्व की दुहाई देता हुआ कदम–कदम पर उसे मर्यादित करने का प्रयास भी करता है। रखैल भी इसी मानसिकता की उपज है। प्रभा खेतान इसी मानसिकता की ओर संकेत करती है कि अपनी वर्गीय स्थिति के कारण वह रखैल नहीं कहा जा सकतीं। लेकिन कमलेश्वर द्वारा दी गई संज्ञा इनके जैसी वर्गीय स्थिति वाली महिलाओं पर पुरुष समाज द्वारा सहज ही आरोपित की जा सकती है। जैसे कि विलासिनी उन्मुक्त आदि।

कमलेश्वर की स्त्री–जीवन के प्रति दृष्टि को लेकर एक प्रसंग में भारी अन्तर्विरोध दिखता है, जब वह आत्मकथा के तीसरे खण्ड 'जलती हुई नदी' में खतवाली का जिक्र करते हैं। कमलेश्वर फिल्मी संस्कृति और आम भारतीय पारिवारिक स्त्रियों की तुलना करते दिखते हैं। इसे निम्न दो उद्धरणों के माध्यम से समझा जा सकता है –

"क्योंकि फिल्मी संस्कृति में इस तरह के जीवन को नैतिक या अनैतिक दृष्टि से नहीं देखा जाता। वहाँ, जब तक जो चलता है तब तक सब नैतिक है। वहाँ कोई औरत पराई नहीं होती – वह तभी तक पराई रहती है, जब तक चाहती है। इस मामले में फिल्मी संस्कृति औरत को उसकी भरपूर आजादी देती है और मौका भी। खुशनुमा बात यह भी है कि फिल्मों में अधिकांश खूबसूरत औरतें आती हैं। वे अपनी खूबसूरती का इस्तेमाल करती हैं और जानती भी हैं कि वे उसका क्या इस्तेमाल कर रही हैं ... उठते–बैठते, मिलते–जुलते कहीं भी औरत निषिद्ध या वर्जित नहीं होती। वह निरन्तर एक प्रतिस्पर्धा में लिप्त होती है दूसरी औरतों से प्रतिस्पर्धा में भी और स्वयं से भी। यह औरतों का एक अलग वर्ग है, जहाँ सम्बन्धों और संवेगों की अपनी अलग जरूरतें हैं। इस दुनिया में औरत की वंशावली, खानदान उसके रिश्तों–नातों को नहीं पूछा जाता। यह एक अनवरत चलनेवाली जश्न की जिन्दगी है। इसके पैमाने ही अलग हैं। अगर सोचा जाए तो भारतीय स्त्री–पुरुष और उसके परिवार की एक अलग ही तस्वीर उभरती है। अपने मूल रूप में भारतीय समाज ने आदमी और औरत को बहुत शमित कर लिया है ... उसके जीवन की जंगली वृत्तियों को सुसंस्कृत बनाकर उसे सम्बन्धों की निरन्तरता की परम्परा दी है ... उसे संस्कार के कपड़े पहनाकर एक घर दिया है। घर में एक चूल्हा दिया है ... धुआँ और रोटी दी है। सम्बन्धों

का एक करघा दिया है ... अंधेरे में जलाने के लिए दीये दिए हैं। जिन्दगी को फटकते रहने के लिए सूप और छलनी दी है ... घर को साफ रखने के लिए झाड़ू और बुहारी दी है। और इसी के साथ जोड़ दिया है जीने का फलसफा–दिन–प्रतिदिन जीवन को सुन्दर–से–सुन्दर बनाने के छोटे–छोटे क्षण...लगाव, आस्था और विश्वास के सतरंगी इन्द्रधनुष ... कुरूपता और विरूपता को झेलने के लिए आँसू ... कुछ कह सकने के लिए खामोश क्षण ... रो सकने और चीख सकने के लिए एक ईश्वर्! यह इसी सभ्यता में है कि ईश्वर गालियाँ भी सह लेता है ... भय और नियतिवाद की मजबूती से आदमी और औरत के रिश्तों को स्वीकार की शक्ति देता है... और अपने से आगे का भविष्य भी प्रदान करता है।"[70]

दूसरा उद्धरण है – "इस फिल्मी संस्कृति की तीन आधारभूत धारणाएँ हैं – पैसा, मुनाफा और मूल्यहीनता। यही धारणाएँ जब स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों पर फैलती हैं तो पैदा होती है – पैसे पर निर्भरता, सम्बन्धों का मुनाफा और मुनाफे के सम्बन्धों की सतत् तलाश। ... इस माहौल में जी रही औरतें ब्यूटी पॉर्लर्स में अपना समय गुजारती हैं। इनके किचिन घरों में नहीं, पाँच सितारा होटलों में चलते हैं। इनमे गजब का सन्तुलन और आत्मविश्वास होता है। और खुद को तरह–तरह से ढ़ाल लेने की अद्‌भुत क्षमता। पुरुष को पुरुष के मुकाबले में खड़ी कर देने की गूढ़ तांत्रिक कला!"[71]

यहाँ कमलेश्वर फिल्मी दुनिया की स्त्रियों पर बड़ा आरोप लगाते हैं। कमलेश्वर के अनुसार फिल्मी संस्कृति की औरतें आम भारतीय स्त्रियों से बिलकुल भिन्न होती हैं कमलेश्वर शायद यह नहीं जानते कि एक स्त्री के लिए किसी पुरुष के साथ किसी भी सम्बन्ध में प्रवेश करना बहुत मुश्किल होता है हर व्यक्ति का अपना–अपना अनुभव होता है। व्यक्ति के मन में एक निजी कोना होता है जिसमें हमेशा एक द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है। एक स्त्री के लिए यह द्वंद्व पुरुष से कहीं ज्यादा होता है। ऊपर के उद्धरणों में कमलेश्वर स्त्री मन की इन्हीं गाठों को समझने में असफल दिखते हैं। ये गाठें रसोई और बिस्तर की गणित से परे है। कमलेश्वर जिस सेक्स को स्त्री की स्वच्छंदता कहते रहे हैं, उसको लेकर इतिहास में पुरुषजाति ही सबसे ज्यादा असहाय दिखती रही है। पुरुष के समर्पण और इसी असहाय स्थिति को देखकर ही कोई स्त्री उसके प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करने को तैयार हो जाती है। कमलेश्वर जिस प्रकार से स्त्रियों के बारे में लिखते हैं, वह एक पुरुष का नजरिया है। और कई बार दूसरी स्त्रियां भी इस तरह का नजरिया विकसित करने में मदद करती हैं। कुछ चीजों को लेकर समाज के स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों में आम सहमति होती है। हालांकि ऐसी दृष्टि को विकसित करने का

काम पुरुष वर्ग ही ज्यादा करता है। फिल्मी दुनिया की स्त्रियों को लेकर कमलेश्वर की इस दृष्टि को देखा जा सकता है।

स्त्री के प्रति कमलेश्वर की दृष्टि खुद उनकी माँ की दृष्टि से भिन्न है। कमलेश्वर की माँ का कहना था, "औरत और अग्नि हमेशा पवित्र होते हैं... पुजारी अग्नि को अपवित्र नहीं कर सकता, पुरुष औरत को अपवित्र नहीं कर सकता... क्योंकि जैसे अग्नि सृष्टि को समाप्त कर सकती हे वैसे ही औरत नई सृष्टि की रचना कर सकती है... औरत और आदमी के बीच के प्रलोभन, प्रति आकर्षण और संसर्ग तो मात्र सांसारिक सत्य हैं। पुरुष केवल निमित्त मात्र है...। इससे बड़ा आध्यात्मिक सत्य है – सृष्टि! चुम्बक पत्थर तो चिनगारी उत्पन्न करने के काम आते हैं... चिनगारी सत्य है... घर्षण और आकर्षण नहीं!"[72]

पुरुष को निमित्त मात्र मानते हुए सेक्स के सांसारिक सत्य से स्त्री के सृष्टिकर्ता के शाश्वत सत्य को बहुत बड़ा बताया गया है। कमलेश्वर यह समझने में शायद असफल ही दिखते हैं कि स्त्री की नियति उसके जीवन के अधिकांश प्रसंगों में ज्यादातर पुरुषों द्वारा ही तय की गई है। इसलिए यदि उसका किचन घर के बजाए फाइवस्टार होटल में होटल में चलता है तो इसके लिए पुरुष भी उतना ही जिम्मेदार है जितना कि स्त्री।

अकारण नहीं है कि पुरुष के जिस समर्पण और स्त्री के मन की गांठों की चर्चा की गयी है, उसे कृष्णा अग्निहोत्री ने बिलकुल सटीक शब्दों में वर्णित किया है। "परंतु इस नंगे सत्य से इनकार नहीं कर सकती कि भीतर बैठी औरत को सदा एक ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा रही, जो उसे प्रेमी–सा सहलाए और उसे आलिंगनबद्ध कर इतना व्याकुल कर दे कि मेरी औरत समर्पण के लिए बाध्य हो जाए। मेरी यह एक तरफा चाहत रही, यही सत्य भी है। ऐसा पुरुष मुझे कभी नहीं मिला। इसलिए जब कभी भी मेरी औरत एक आदिम पुरुष के लिए तड़पी तो मन सामनेवाले के व्यवहार से इतना बुझ जाता कि वह अपनी हत्या ही कर देती।"[73] जिस सच्चे प्रेम की तलाश स्त्री को रहती है जिसमें शरीर और मन दोनों जुड़ जाते हों, वह नहीं मिलने पर स्त्री इसकी जीवनभर तलाश करती है। इसी क्रम में वह कई पुरुषों के उस पुरुष रूप से परिचित होती है जो स्त्री द्वारा देह का समर्पण तो चाहता है परन्तु उसके मन के समर्पण के बदले अपने मन के समर्पण का प्रतिदान नहीं करता। मन्नू भंडारी ने राजेन्द्र यादव के प्रसंग में इसे ही 'छलात्कार' कहा है। मन्नू भंडारी ने लिखा है, "राजेन्द्र के छलात्कार का नया शिकार बनी (बलात्कार जैसा जघन्य काम तो राजेन्द्र कभी कर ही नहीं सकते) मित्र के मन में अपने भावनात्मक लगाव का (जो कभी था ही नहीं) विश्वास जमाने के लिए जब राजेन्द्र ने उसके

सामने अपने मन को उँडेलना शुरू किया तो यह प्रसंग तो आना ही था – पहला प्रेम और सबसे गहरा प्रेम तो मीता से जा उसने छूटते ही पूछा, "फिर आपने मन्नू जी से शादी क्यों की?" फिर वही ईमानदार स्वीकारोक्ति, "यह सही है कि प्रेम मेरा उसी से रहा पर घर बसाने के लिए वह ठीक नहीं थी क्योंकि वह बहुत ही दबंग, अक्खड़ और डॉमिनेटिंग है।" (इन तीनों विशेषणों पर तो पुरुषों का एकाधिकार है... ये ही तो उसके व्यक्तित्व में निखार लाते हैं, पर इन्हीं विशेषताओं के चलते स्त्री तो साथ रहने लायक ही नहीं रहती। वाह रे स्त्री विमर्श के पुरोधा!) लगाए गए इन तीनों विशेषणों में से एक भी मेरा नहीं है क्योंकि आश्चर्यजनक चाहे जितना लगे पर है तो यह सच्चाई ही कि मोहभंग होने के बाद राजेन्द्र की उस मित्र को अपना दुखड़ा रोने के लिए मेरी ही गोद मिली थीं रो–रोकर उसने जहाँ बहुत कुछ बताया था ... यह बात भी बताई थी।"[74]

बकौल मन्नू भंडारी पुरुष विश्वास जमाने के लिए छल का प्रयोग करता है। सवाल यही है कि वह व्यक्ति जो राजेन्द्र यादव के इस नितान्त निजी प्रसंग को नहीं जानता होगा, वह राजेन्द्र यादव और उस लड़की का मूल्यांकन किस रूप में करेगा? निश्चय ही उस लड़की को ही चरित्रहीन ठहराया जाएगा जो एक पत्नी और एक प्रेमिका वाले पुरुष के यहाँ आश्रय ढूँढ रही है क्योंकि यहां पुरुष एक बड़ा लेखक है और लड़की एक संघर्षरत लेखिका।

कहना न होगा कि आलोच्य आत्मकथाकारों की दृष्टि में समानता और असमानता के बिन्दु इनके जीवन के अनुभवों, घटनाओं और प्रसंगों से ही तलाशे गए हैं। स्त्री और पुरुष आत्मकथाओं में दृष्टिगत भेद का जो सबसे बड़ा अंतर है वह यह कि स्त्री आत्मकथाकार जहां वैवाहिक जीवन के ज्यादातर प्रसंगों में ही स्त्री–जीवन की सार्थकता की तलाश करते हैं, वहीं पुरुष आत्मकथाकारों का लेखन ऐसी किसी सीमा को स्वीकार करता नहीं दिखता है।

(ग) भाषिक भिन्नता

व्यक्ति का परिवेश और जीवन के अच्छे–बुरे अनुभव दोनों मिलकर उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं। अपने–अपने विशिष्ट भावों के कारण ही कोई भी लेखक अपनी शिल्प एवं संवेदना में दूसरे लेखकों से भिन्न होता है। व्यक्ति अपने विशिष्ट स्वभावों के कारण ही जीवन के प्रति अपनी खास दृष्टि विकसित कर पाता है। भाषा ही इस दृष्टि को वह तथाकथित खासियत प्रदान करती है। इसी आधार पर हम स्त्री–पुरुष और दलित आत्मकथाकारों की रचनागत विशिष्टता को पहचान पाते हैं। जहां दलित और स्त्री आत्मकथाकारों की भाषा में अपने विशिष्ट जीवन अनुभवों के कारण संवेदना और आक्रोश के साथ बार–बार अतीत की ओर लौटने का भाव होता है, वहीं एक गैर दलित या पुरुष आत्मकथाकार की भाषा उसके वर्तमान में ही ज्यादा रमती है। इसमें एक और अंतर जो सबसे प्रमुख होता है, वह यही कि एक पुरुष या गैर दलित आत्मकथाकार की भाषा में लाख पश्चातापों के बावजूद एक सुकून होता है। जबकि स्त्री और दलित आत्मकथाकार अपने शब्दों से बेचैनी का भाव जगाते हैं।

अगर इस बात को कमलेश्वर और राजेंद्र यादव पर लागू करें तो हमें सहज ही इस प्रवृत्ति का परिचय मिल जाता है। दोनों के ही लेखन में वह बेचैनी और खीझ का भाव लगभग नदारद है जो कृष्णा अग्निहोत्री और प्रभा खेतान के लेखन में सर्वत्र मौजूद है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्त्री और पुरुष जीवन में साथ–साथ चलते हुए भी अपने भावों और मूल प्रवृतियों में आजीवन अलग–अलग विशिष्टताओं के साथ जीवन जीते हैं। यह बात लगभग सभी परिस्थितियों में लागू होती है। बचपन से लेकर जीवन के बहुत बाद के दिनों तक अपने–अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिवेश में किए जाने वाले अनुभव ही इन सभी लेखकों के लेखन की भाषा के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

यूँ तो आत्मकथा में लगभग सभी साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अतीत के जीवन का ज्यादा दखल होता है फिर भी लेखकों के भाषायी संदर्भ और प्रयोग उनके वर्तमान के संदभों से ही पैदा होते हैं।

कहना न होगा तमाम समानताओं के बावजूद स्त्री–जीवन के संदर्भों में जहां इन लेखकों में कई समानताएं हैं तो कई असमानताएं भी हैं। आत्मकथा लेखक की सच्ची कथा होती है और इस कथा में यथार्थ उसी रुप में व्यक्त किया जाता है जिस रूप में वह जिया गया था। ऐसे में सबसे बड़ा सवाल यही है कि भाषा के स्तर पर भी यथार्थवादी दृष्टि रखने के आदर्श को कहां तक निभाया जाना चाहिए।

अपने–अपने निहायत ही व्यक्तिगत क्रियाकलापों और अनुभवों में हम जिस अपरिष्कृत भाषा को बोलते और सुनते हैं, क्या उसे उसी रुप में लिखकर सार्वजनिक कर सकते हैं जैसा कि सूरजपाल चौहान और मोहनदास नैमिशराय ने अपनी–अपनी आत्मकथाओं में किया है। पाठक के सामने अपने लेखन का बचाव करते हुए सूरजपाल चौहान ने लिखा है "उन सब बातों को लिखने के लिए मेरे पास शब्द तक नहीं हैं। अगर मैं वह लिखने बैठ जाऊं तो वह सब एक किस्म का पोर्नो लिटरेचर बन जाएगा, पर यह पोर्नो लिटरेचर मेरी जिंदगी का वीभत्स सच है।"[75] सवाल यही है सच है तो लिखा क्यों नहीं जा सकता और जो लिखा है वह क्या पोर्नो लिटरेचर से कम है? "उस दिन भी ताई ने मुझे रोज की तरह अपने पास बुलाया। आज उसने मुझसे अपने सिर में तेल लगवाकर सिर की मालिश करवाई थी। घर में और कोई था ही नहीं। उसका बेटा फगुनी दिहाड़ी करने प्रगति मैदान जा चुका था। मैं सन्तो ताई के सिर को सहलाने में लगा हुआ था कि तभी उसने मुझे अपनी दोनों बाजुओं से आगे की ओर खींचकर गोद में भर लिया। फिर अपने ब्लाउज को ऊपर खींचते हुए अपने वक्ष–स्थल को मेरे मुंह से अड़ाने लगी।"[76] "मर्द तो बस उसी समय अच्छा लगे है..., ठंडा होते ही हरामी के सीने पर लात मारकर दूर करने को जी करे।[77] ... "वह रूसी मैम निर्वस्त्र अब मेरे सामने खड़ी थी। मैं मारे डर के थर–थर कांप रहा था। मुझे सन्तो ताई वाली घटना याद हो आई थी। लेकिन संन्तो ताई मेरे सामने निर्वस्त्र नहीं हुई थी। कितनी भयानक लग रही थी रूसी मैम उस समय। ...कुर्सी पर बैठते हुए अब मुझसे अपने शरीर की मालिश करने को कहा। मेरे हाथ–पांव तो डर के मारे पहले ही कांप रहे थे।... उसने जगह–जगह अपने शरीर के अंगों पर मालिश का तेल लगाकर मालिश करवाई थी।"[78]

क्या आत्मकथा के नाम पर भाषा का यह नंगापन उचित है? दलित या आत्मकथा लेखन होने के नाम पर यह छूट कहां तक ली जा सकती है। तुलसीराम भी एक दलित आत्मकथाकार हैं। शब्दों की जिस मर्यादा का निर्वाह स्त्री जीवन के प्रसंगों में तुलसीराम ने किया है, वह किसी भी आलोच्य दलित आत्मकथाकार के यहां नहीं दिखता। स्त्री प्रसंगों में शब्दों की मर्यादा बरतना उसकी संवेदनाओं को सही रूप में देखना और स्वीकार करना भी है। स्त्री प्रसंगों में इतनी छूट अश्लीलता भी कही जा सकती है। हालांकि यह चर्चा के लिए साहित्य जगत में अभी भी एक खुला विषय है कि लेखन की साहित्यकता को बचाए रखने के नाम पर भाषा को उसी रूप में लिखा जाना उचित है अथवा अनुचित जिस रूप में इसका अनुभव किया जाता है? कमलेश्वर ने भी इस तरह के अनुभवों के बारे में लिखा है और उनके लेखन में यथार्थ साहित्यिकता के साथ मौजूद है। हालांकि कुछ प्रसंगों में

कमलेश्वर पर भी इसका असर है। वह खतवाली के संबंध में लिखते हुए सूरजपाल चौहान की भाषा के लगभग नजदीक पहुंच जाते हैं। शोभना के प्रसंग में कमलेश्वर ने लिखा है "उसने शोभना को देखा – एक लगभग सुंदर औरत सामने थी। घने बालों पर उसका चश्मा मेढ़क की तरह टिका हुआ था। आंखों में गहरा काजल था... हाथ में एक नोटबुक और डॉटपेन... ब्लाउज लगभग गले तक था पर उसके दो हुक लापरवाही से खुले हुए थे।"[79] इस प्रसंग में निश्चित ही यथार्थ और भाषा का वह निभ नहीं पाया है जिसकी अपेक्षा किसी पुरुष लेखक से की जाती है। अपनी कल्पनाओं को इसी प्रकार की भाषा के द्वारा उस मुलम्मे के रूप में इस्तेमाल किया जाता है जो यथार्थ को अश्लीलता का रंग दे देता है।

स्त्री जीवन से संबंधित वर्णनों में तुलसीराम और विष्णु प्रभाकर को छोड़कर अन्य सभी पुरुष आत्मकथाकारों के लेखन में यह रंगीनियत दिखती है। क्या यह पूछना वाजिब नहीं कि स्त्री आत्मकथाकारों की भाषा में यथार्थ इतने खुलेपन के साथ कहीं भी मौजूद क्यों नहीं है? वहां केवल अनुभव और समर्पण की तीव्रता है, भावनाओं का उद्रेक है, भावों की निर्बाध अभिव्यक्ति है। जहां पुरुष आत्मकथाकारों की भाषा आसानी से समझे जाने योग्य है वहीं स्त्री लेखिकाओं की भाषा में संकेत हैं, व्यंजना है और रहस्यों का एक संसार है। हालांकि ऐसी भाषा इनके वैचारिक द्वंद्व को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह सफल रही है। द्वंद्व पुरुष आत्मकथाकारों की भाषा की भी विशेषता है लेकिन यह ज्यादातर उनकी स्वतंत्र टिप्पणियों में है, उनके जीवन–प्रसंगों में नहीं। जबकि स्त्री आत्मकथाकारों का द्वंद्व उनके जीवन प्रसंगों की भाषा में ही अभिव्यक्त हुआ है। कहना न होगा पुरुष आत्मकथाकारों का द्वंद जान–बूझकर पैदा किया गया है जबकि स्त्री आत्मकथाकारों का द्वंद्व उनके जीवन प्रसंगों से निःसृत हुआ है।

राजेंद्र यादव ने लिखा है, "आज लगता है कि शायद मैं अपने आप में ही इतना डूबा रहा हूं कि न मन्नू को एक अच्छा पति दे पाया, न मीता को अच्छा प्रेमी या दीदी को अच्छा मित्र। बेटी को एक अच्छा बाप या बहनों को भाई भी कहां मिला? लगता है किसी से मेरा कोई संवाद ही नहीं है, सिर्फ औपचारिकता है। मगर अपने आप को भी मैंने क्या दिया। रातों की नींद, आंखों की रोशनी और दिमागी शांति सब कुछ तो कुछ अमूर्तन में ही होता रहा। शरीर और व्यक्ति को सिर्फ माध्यम बनाकर पानी पर लकीरें खींचता और संतोष निचोड़ता रहा कि कुछ विशिष्ट हो रहा है। यह कौन सा फितूर है कि अपने आप को और दूसरों को आप सिर्फ इस्तेमाल करें और इस प्रक्रिया को ही रचना प्रक्रिया की अनिवार्य आवश्यकता मान लें।"[80] जबकि प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा के अंत में लिखती हैं, "उनकी स्मरण सभा में

उन्हें कई रूपों में संबोधित और याद किया गया। कलकत्ते के वरिष्ठ नागरिक, समाजसेवी, सफल डॉक्टर... पीछे पत्नी और बच्चों को छोड़कर गए हैं। प्रभा खेतान नामक स्त्री का कहीं भी जिक्र नहीं था।"[81]

उपरोक्त दोनों उद्धरणों की तुलना करने पर देखा जा सकता है कि जहां राजेंद्र यादव का द्वंद्व स्वतंत्र चिंतन के रूप में आया है, वहीं प्रभा खेतान का द्वंद्व उनके जीवन के प्रसंगों से जुड़ता हुआ दिखता है। दोनों की ही भाषा दो भिन्न–भिन्न भंगिमाओं को दर्शाती है। जहां राजेंद्र यादव की भाषा में खुद को जस्टिफाई करने का आग्रह दिखता है वही प्रभा खेतान की भाषा उनके अपने भावों के रूप में ज्यादा संबद्ध दिखती है और इन भावों का उनके जीवन प्रसंगों से अनिवार्य जुड़ाव भी दिखता है।

एक और प्रसंग में कृष्णा अग्निहोत्री और कमलेश्वर के लेखन में हम स्त्री और पुरुष की भाषा में अंतर देख सकते हैं। कमलेश्वर ने लिखा है कि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे सौंदर्य की नग्नता नहीं चाहिए। वह सौंदर्य फिर चाहे प्रकृति का, सृष्टि का या संवेगों का, स्त्री या पुरुष का।' जबकि कृष्णा अग्निहोत्री पुरुषों की नग्नता ढूंढने वाली इसी दृष्टि से जीवनभर देखी जाती हैं और अपने लेखन में इसे अपने पहले और दूसरे दोनों पतियों की दृष्टि की सीमा मानती हैं। सौंदर्य में नग्नता शब्द संकुचित दृष्टि का बोध कराता है। अधखुला सौंदर्य इसीलिए दुनिया भर के साहित्यकारों को ज्यादा आकर्षित कर पाया। यह वासना और समर्पण के फर्क को अस्पष्ट कर देना भी है कि सौंदर्य को अनिवार्यतः भोगे जाने की वस्तु के रूप में समझा जाए। प्राय सभी महिला आत्मकथाकारों ने अपने पुरुष प्रसंगों में सौंदर्य के इसी वासना पक्ष की उपेक्षा की है और नग्नता का निषेध किया है।

इसीलिए पुरुष प्रसंगों में प्रभा खेतान की भाषा ऐसे शब्दों का चयन करती है जो उनके कथ्य को कुछ विशेष भावों से भर देती है जहां शब्द मानो संवेदना के अंतिम धरातल से निकलकर सामने आ रहे हैं। "उनकी वह पहली छुअन भीतर तक सहला गई। पहली बार किसी पुरुष ने प्यार से मुझे अपनी हथेलियों में भरा और पहली बार कोई पुरुष मुझसे कह रहा था कि 'तुम कितनी आकर्षक हो' पहली बार किसी की बाहों में मैंने खुद को सुरक्षित महसूस किया।"[82] शब्दों के चयन में भी स्त्री और पुरुष आत्मकथाकारों के लेखन में महत्वपूर्ण अंतर मौजूद है। दरअसल भाषा समाज की व्यवस्थाओं और संरचनाओं के प्रतिनिधि विचारों की ही वाहक होती है। अकारण नहीं है कि राजेंद्र यादव लिखते हैं, "मुझे लगता है कि अपने निजी मुहावरों के बावजूद स्त्री की अपनी कोई भाषा नहीं होती। वह भी मर्द की ही होती है जो स्त्री को शक्ति संपन्न होने का स्थायी भ्रम देती है। चूंकि, भाषा में शक्ति–सत्ता के

सारे मुहावरे और शब्द मर्दवादी होते हैं और जो स्त्री को दी जाने वाली गालियों या अपमानजनक वक्तव्यों तक जाते हैं, सभी उन्हें ही अपनी भाषा बना लेती हैं।"[83]

सवाल यही है कि क्या राजेंद्र यादव की यह धारणा स्त्री आत्मकथाकारों को संपूर्णता में पढ़ने पर मिथ्या साबित नहीं हो जाती? यह बात गलत नहीं है कि निश्चित ही समाज की भाषा पुरुषप्रधान संदर्भों से युक्त होती है, लेकिन क्या स्त्री लेखन की संपूर्णता अपने लेखन से एक नई भाषा का सृजन करती नहीं दिखती? क्या कारण है कि स्त्री आत्मकथाकारों का कथ्य और इसे कहने का ढंग पुरुष आत्मकथाकारों से कई मायनों में अलग है? यह अलगाव उनके निजी मुहावरों और भिन्न भावभूमि पर स्थित होने के कारण ही है। कहना न होगा स्त्री आत्मकथाकारों का लेखन राजेंद्र यादव की इस धारणा को गलत सिद्ध करता है। सारा का सारा स्त्री लेखन समानांतर रुप से सृजन की इस प्रक्रिया में शामिल है।

मजरूह सुल्तानपुरी ने फिल्म उमरावजान अदा के लिए कभी एक गीत लिखा था –

जुस्तजू जिसकी थी उसको तो न पाया हमने
इस बहाने से मगर, देख ली दुनिया हमने
तुझको रुसवा न किया, खुद भी पशेमां न हुए
इश्क की रस्म को, इस तरह निभाया हमने

इसी फिल्म का एक और गीत है –

'ये क्या जगह है दोस्तों, ये कौन सा दयार है
हद–ए–निगाह तक जहां, गुबार ही गुबार है।'

इन गीतों के शब्दों में मौजूद अधूरापन लगभग सभी स्त्री आत्मकथाकारों के लेखन की भाषा में देखा जा सकता है। प्रभा खेतान भी अपनी भाषा में इसी मूड में लिखती हैं। दोनों गीतों में इश्क की रस्म को निभाने और अपने जीवन में शामिल हो गए गुबार और धुंधलके को ऐसी ही भाषा में बयां किया जा सकता था। इन स्त्री आत्मकथाकारों की भाषा लगातार अपने–अपने जीवन में उपजे अधूरेपन और कसक को साधने की कोशिश करती है और इसी क्रम में पुरुष आत्मकथाकारों से भिन्न होती जाती है। भाषा का यह अंतर जीवन के प्रति भिन्न दृष्टि कोण से ही आता है जो जिए गए अनुभव पर आधारित होती है।

पुरुष आत्मकथाकार के लेखन की भाषा इन्हीं मायनों में स्त्री की भाषा से भिन्न होती है। मोहनदास नैमिशराय की भाषा में इस अंतर को देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा है, "मैं तो उसके लिए बस नर्म गोश्त का टुकड़ा भर था। उस रात

उसने मुझे मर्द बना दिया था।"[84] उल्लेखनीय है कि किसी भी स्त्री आत्मकथाकार की भाषा में इस तरह की अभिव्यक्ति देखने को नहीं मिली है। असल में एक स्त्री पर शब्दों की नैतिकता बरतने का दबाव ही उसे ऐसी भाषा लिखने से रोकता है। जबकि एक पुरुष के लिए इस तरह के शब्दों का प्रयोग आसान होता है, वह इसी बात से साबित होता है कि अधिकांश पुरुष आत्मकथाकारों ने ऐसे प्रसंगों में लिखने का यही तरीका अपनाया है।

कमलेश्वर की भाषा अन्य पुरुष आत्मकथाकारों की तुलना में अलग किस्म की शैली लिए हुए दिखती है। उन्होंने लिखा है, "पाठ की परिपाटीबद्ध वर्जनाओं में आबद्ध परिभाषाओं की परिधि को तोड़ कर भी सेक्स एक स्रोत की तरह फूटता है और पलभर के परम सत्य की प्रगाढ़ प्रतीति देता है ... सेक्स का क्षण स्वयं में स्वतंत्र है...।"[85] यहां स्त्री–पुरुष संबंधों की नैसर्गिक प्रक्रिया के बारे में ही लिखा गया है। इस अभिव्यक्ति की खासियत इसकी भाषा की विशिष्टता ही है। कमलेश्वर ने अपने स्त्री प्रसंगों में एक और जगह लिखा है, "और उससे भी बड़ा उसका दमित सत्य यह था कि वह मदमाती, चिंतामुक्त दिखती, उफनाती और महकती औरतों को नकारने की वर्जना से मुक्त हो चुका था।"[86] इस प्रकार का लेखन स्व को अन्य रूप में समझते हुए लिखा गया है। इस प्रसंग में औरतों के लिए कमलेश्वर ने 'मदमाती', 'चिंतामुक्त दिखती', 'उफनाती' और 'महकती' विशेषणों का प्रयोग किया है। ये विशेषण एक पुरुष के दिमाग की ही उपज हो सकते हैं। गौरतलब है पुरुषों के लिए किसी भी स्त्री आत्मकथाकार ने ऐसे विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है।

राजेंद्र यादव ने 'आदमी की निगाह में औरत' पुस्तक में स्वीकार किया है, "हिंसा सिर्फ शरीर की नहीं होती, उससे पहले भाषा की होती है।"[87] 'उफनाती स्त्री' क्या होती है? 'चिंतामुक्त दिखती' लिखने का क्या अभिप्राय है? निश्चित ही यह भाषा स्त्रीत्व की गरिमा के विरुद्ध है। व्यक्ति के कर्म उसकी सोच से ही तय होते हैं। इसीलिए भावनाओं के इजहार में आंगिक और वाचिक दोनों पक्ष शामिल होते हैं। यह बात किसी भी तरह के अनुभव पर लागू की जा सकती है। असल में भाषा का व्याकरण लिंगभेद पर भी टिका हुआ है। किसी भी भाषा के व्याकरण में इस भेद के अनेक सूत्र बड़ी आसानी से पहचाने जा सकते हैं। 'उफनाती' और 'चिंतामुक्त दिखती' कहकर अपनी स्वच्छन्दता को जस्टिफाई करना आसान हो जाता है। पहले इस तरह की भाषा, कहो फिर उस स्त्री के शरीर को सहजप्राप्य बना दो और उसकी सहमति भी इस इस तरह के लेखन द्वारा पूर्व प्राप्त दिखा दो। हालांकि कोई भी क्षण और अनुभव अपने आप में पूर्ण सत्य भी होता है। भाषा की एक सीमा होती है क्योंकि भाषा नैतिकता, अनैतिकता, मर्यादा और व्यवस्था जैसी नियामक शक्तियों

से ही नियंत्रित होती है। अनुभव को जब शब्द दिए जाते हैं तो कई बार भाषा की मर्यादा का निर्वाह करना मुश्किल होता है क्योंकि लेखक का मूल उद्देश्य अपने ऐन उन्हीं अनुभवों को बताना होता है जो उसने किसी खास प्रसंग में समझा और महसूस किया था।

ऊपर भाषा के जिस लिंग आधारित व्याकरण की चर्चा की गई है, वह अपने पूरेपन के साथ स्त्री आत्मकथाकारों के लेखन में मौजूद है। यही कारण है कि इनकी भाषा नैतिकता, अनैतिकता और मर्यादा की नियामक शक्तियों से संचालित होती है। स्त्री आत्मकथाकारों के लेखन में लगभग सभी के यहां एक और खास पैटर्न दिखता है। यह पैटर्न भाषा का वह रूप है जिसमें स्त्री खुद को तभी सार्थक समझती है जब उसकी सार्थकता पुरुषों द्वारा प्रमाणित की गई हो। सार्थकता की इस अवधारणा में रूप, यौवन एवं गुण सभी शामिल हैं। पुरुषत्व के बरक्स ही स्त्रीत्व की सार्थकता की इस अवधारणा को देखा और समझा जा सकता है। ऐसा क्यों है कि स्त्री आत्मकथाकारों के लेखन में सर्वत्र पुरुषत्व का आश्रय प्राप्त करने की लालसा दिखती है? और लालसा के इस दिखने में लगभग सभी स्त्री आत्मकथाकारों के आत्म की कथा कहने का ढंग लगभग एक जैसा क्यों हो गया है? कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं, "नारी की शारीरिक तुष्टि उसी पुरुष से होती है, जिससे प्रेम हो, जो उसे सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन में सम्मान व सुरक्षा प्रदान करे। इस तथ्य को अग्निहोत्रीजी कभी नहीं समझ पाए।"[88] प्रभा खेतान ने भी लिखा है, "मैं प्रभा खेतान... मैं कौन हूं? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं... क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं... क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलम्बी हूँ, अपना भरण–पोषण खुद करती हूं। स्वेच्छा से एक जीवन का वर्णन किया है। तब मैं क्या हूं?"[89] खुद की सार्थकता की तलाश में भाषा कितने कोण बदलती है, प्रभा खेतान का लेखन इस बात को दर्शाता है। 'मैं प्रभा खेतान' से 'तब मैं क्या हूं' तक की यात्रा में भाषा में जिए गए द्वन्द्व को बड़ी आसानी से परखा जा सकता है। कृष्णा अग्निहोत्री की भाषा में भी यही भाव रचा–बसा है। दोनों के लिए ही पुरुष उनकी भाषा में 'बरगद की छांव' की उपमा पा जाता है। प्रभा खेतान ने तो लिखा भी है, "इस मन के सूनेपन का क्या करती? डॉक्टर साहब के अलावा और किसी से मैं क्यों नहीं जुड़ पाती।"[90]

पुरुष आत्मकथाकारों में भाषा का यह भाव सिर्फ तुलसीराम के यहाँ दिखता है। उत्पलवर्णा प्रसंग में किसी स्त्री को 'फूलों से लदे गट्ठर' की उपमा से नवाजना तथा उसके लिए 'मनोवैज्ञानिक आवश्यकता' जैसे शब्दों का प्रयोग करना भाषा का

वही भाव है। लेखक द्वारा शब्दों का चयन कैसे उसके भावों और दृष्टि से जुड़ा होता है, कमलेश्वर, प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री और तुलसीराम के उपरोक्त प्रसंग इस बात के उदाहरण हैं।

कहना न होगा किसी भी भाषा का एक–एक शब्द बोलने वालों के जीवनमूल्यों और परिस्थितियों से ही निर्मित होता है। इस निर्मिति में समाज के सभी विमर्श अंकुरित होते हैं और इनके अर्थ तय किए जाते हैं तथा 'स्त्री की भाषा' और 'पुरुष की भाषा' जैसी धारणाएं पनपती हैं। भाषा सिर्फ भाषा होती है लेकिन इस आदर्श को इसके पूरे लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ कोई भी समाज अब तक प्राप्त नहीं कर पाया है क्योंकि समानता और सह–अस्तित्व जैसे मूल्यों को स्थापित करके ही भेदरहित भाषा के आदर्श को पाया जा सकता है। चूंकि समाज द्वारा यह आदर्श अब तक नहीं पाया गया है इसीलिए स्त्री और पुरुष आत्मकथाकारों के लेखन की भाषा में एक निश्चित भिन्नता दिखती है।

कहना न होगा यह भिन्नता ही स्त्रियों और पुरुषों के लेखन को विशिष्ट बनाती है और ऐसा अवसर प्रदान करती है जिसमें भाषा के उस समतामूलक आदर्श को पाने की जद्दोजहद दिखती है। आलोच्य आत्मकथाएं इसका उदाहरण हैं।

सन्दर्भ सूची

1 सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 29–30
2 कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 32
3 वही, पृ. 52
4 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 73, 94
5 कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 47
6 वही, पृ. 28
7 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 85
8 वही, पृ. 242
9 वही, पृ. 8–9
10 वही, पृ. 9
11 वही, पृ. 86
12 वही, पृ. 287
13 विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 157–158
14 वही, पृ. 158–159
15 वही, पृ. 160
16 वही, पृ. 161
17 वही, पृ. 161
18 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–1, पृ. 111
19 वही, पृ. 138
20 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 7
21 कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 139–140
22 वही, पृ. 140
23 अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 30
24 वही, पृ. 19–20
25 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 66
26 वही, पृ. 66
27 कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 139
28 वही, पृ. 140
29 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 190
30 वही, पृ. 193
31 कमलेश्वर – जो मैंने जिया, पृ. 139
32 राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 114
33 चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 140
34 वही, पृ. 141
35 अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 13
36 मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 218

37 वही, पृ. 218
38 वही, पृ. 226
39 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 8–9
40 वही, पृ. 9
41 वही, पृ. 9
42 वही, पृ. 5
43 सुशीला टाकभौरे – शिंकजे का दर्द, पृ. 127
44 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 93
45 कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 94
46 वही, पृ. 95
47 विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 191
48 विष्णु प्रभाकर – पंखहीन, पृ. 161–162
49 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 177–178
50 कमलेश्वर – यादों के चिराग, पृ. 141
51 अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 27
52 वही, पृ. 205
53 वही, पृ. 286
54 वही, पृ. 286
55 राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 130
56 कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 100
57 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 83
58 वही, पृ. 36
59 वही, पृ. 141
60 कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 140
61 वही, पृ. 141
62 राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 151
63 कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 143
64 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 45
65 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 253
66 विष्णु प्रभाकर – और पंछी उड़ गया, पृ. 199
67 तुलसीराम – मणिकर्णिका, पृ. 195
68 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 9
69 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 138
70 वही, पृ. 115–116
71 वही, पृ. 117
72 वही, पृ. 65
73 कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत, पृ. 140
74 मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 218–219

75 सूरजपाल चौहान – संतप्त, पृ. 30
76 वही, पृ. 29–30
77 वही, पृ. 31
78 वही, पृ. 36
79 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 57
80 राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़के देखता हूँ, पृ. 130
81 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 287
82 वही, पृ. 66
83 राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 254
84 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, भाग–2, पृ. 88
85 कमलेश्वर – जलती हुई नदी, पृ. 83
86 वही, पृ. 84
87 राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 105
88 कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 201
89 प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या, पृ. 12
90 वही, पृ. 14

उपसंहार

उपसंहार

आत्मकथा अपने सच्चे अर्थों में जीवन की आलोचना है। आत्मकथा व्यक्ति के जीवन के साथ ही उसके परिवेश की व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया को भी सामने लाती है। जीवन और वास्तविकता का गहरा संबंध है। यही कारण है कि आत्मकथा लेखन व्यक्तिगत इतिहास के रूप में जीवन को खास औचित्य और अर्थ प्रदान करने की पद्धति है। आमकथा लेखन की प्रक्रिया में आत्म के बहाने समय और समाज के विकास–क्रम को भी चित्रित किया जाता है। यह एक प्रकार से व्यक्ति के इतिहास का वैचारिक सिंहावलोकन है। आत्मकथा लेखन सिर्फ यथार्थ वर्णन ही नहीं होता क्योंकि कोरा यथार्थ एक प्रकार से अखबारी लेखन के समान होता है। आत्मकथा में वे परिस्थितियाँ, घटनाएं भी महत्त्वपूर्ण होती हैं जो व्यक्ति को बनाती या बिगाड़ती हैं। आत्मकथा एक प्रकार से जीवन का पुनर्निर्माण है जो स्मृति और विस्मृति के परस्पर द्वंद्व से पैदा होता है। आत्मकथा लेखन के लिए यह आवश्यक है कि आत्म से एक दूरी कायम करते हुए व्यष्टि और समष्टि के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश की जाए। वही आत्मकथाएं महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें समाज में फैले पाखंड को उजागर करने के साथ ही अपने जीवन की पोल खोलने का साहस किया गया हो।

आत्मकथा एक प्रकार से व्यक्ति के उन संघर्षों का इतिहास है जो उसे रचनात्मक शक्ति देते हैं। चूँकि आत्मकथा व्यक्ति के भोगे हुए जीवन की यात्रा होती है, अतः इसमें घटनाओं से जीवन नहीं बल्कि जीवन से घटनाएं जन्म लेती हैं। आत्मकथा लेखन एक प्रकार से सार्वजनिक चौराहे पर खड़ा होने जैसा है।

आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसमें आत्म की अभिव्यक्ति ही सर्वप्रमुख है। आत्मकथा के विकसित और पनपने के लिए ऐसे परिवेश और संस्कृति की आवश्यकता पड़ती है जहाँ वैयक्तिकता को पर्याप्त महत्त्व दिया गया हो। भारतीय संस्कृति चूँकि आत्मविसर्जन का पाठ पढ़ाती है इसलिए यहाँ आत्मकथा की समृद्ध परंपरा का प्रायः अभाव मिलता है। आत्मकथा की संस्कृति के अभाव का एक कारण आत्मप्रतिष्ठा के प्रति बेहद लगाव और सब कुछ को सार्वजनिक न कर पाने के साहस का अभाव भी है। 'रहिमन निज मन की ब्यथा, मन ही राखो गोय' एक प्रकार से आन्तरिक सच पर पर्दा डालने जैसा है। समय के साथ–साथ मूल्यों में बदलाव आया और नए विचारों ने आकार लेना आरम्भ किया। शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और

नए जीवनमूल्यों के कारण अस्तित्व में आयी नई वैज्ञानिक चेतना के फलस्वरूप आधुनिक काल में आत्मकथा–लेखन के लिए परिस्थितियां निर्मित हुईं। आधुनिक काल में आत्मकथा लेखन की व्यवस्थित शुरुआत के साथ ही धीरे–धीरे आत्मकथा साहित्य की एक प्रमुख विधा बन गई है। आत्मकथा लेखन की विकास यात्रा में स्त्रियों और दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं आत्मकथा की संस्कृति में बदलाव लाने का काम करती हैं। आज अस्मितावादी विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में है यही कारण है कि आत्मकथा लेखन विपुल मात्रा में हो रहा है। चूंकि आत्मकथा आज की एक प्रमुख विधा बन गई है इसलिए उसका मूल्यांकन समकालीन साहित्य को समझने के लिए उपयोगी ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है।

दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं आत्मकथा लेखन को एक नए विमर्श से जोड़ती हैं। ये आत्मकथाएं भारतीय समाज में रचे–बसे सांस्कृतिक मूल्यों, मानवीय अस्मिता, जातिगत भेदभाव, मनुष्यगत अधिकारों के यथार्थ को सामने लाती हैं। ये आत्मकथाएं आत्मकथा लेखन की संस्कृति का विस्तार करती हैं। दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएं मात्र आत्म की कथा न होकर अपने समुदाय के शोषण, दमन और जीवन संघर्ष की कथा बनकर हमारे सामने आती हैं। दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आक्रोश, पीड़ा के साथ अस्मिता और स्वाधीनता की झलक भी देखने को मिलती है।

समाज और परिवार में झूठी मर्यादाओं और नैतिकताओं के दबाव में जीती स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन एक प्रकार से प्रतिरोध के साथ ही बदलाव की संस्कृति के निर्माण का कार्य करता है। आत्मकथा लेखन जहाँ एक ओर स्त्री को यथार्थ से टकराने का हौसला देता है वहीं दूसरी ओर बदलते समय और परिवेश में अपने स्वत्व और अपनी अस्मिता को प्रमाणित करने की ताकत भी। स्त्रियों के लिए आत्मकथा लेखन मान्यताओं की संस्कृति के बरक्स जीवनमूल्यों की संस्कृति के निर्माण का कार्य करता है।

आत्मकथा व्यक्ति के जीवन की ऐसी कथा होती है जिसमें सच का होना अनिवार्य शर्त है। संघर्ष करते और जूझते हुए जीवन से जब हमारा सामना होता है तो अनेक निष्कर्ष और संकल्प हमारे हाथ में होते हैं। जीवन सत्यों के साथ ही आत्मकथाएं अनुभवों के साक्षात्कार की कथाएं भी होती हैं। एक स्त्री के जीवन को हम विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं और जीवनमूल्यों की समग्रता में देख सकते हैं। यथार्थवादी विधा होने के कारण आत्मकथा में स्त्री के जीवन की खोज साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक प्रामाणिक है। पुरुष रचनाकारें द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में हम स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैये की खोज वास्तविक धरातल पर कर पाते हैं।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में हम पाते हैं कि वहाँ लेखक के सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों का तो वर्णन है लेकिन 'पत्नी' नामक स्त्री लगभग गायब सी है या महज सूचना भर के लिए उपस्थित है। यह आश्चर्य का विषय है कि 'अर्द्धांगिनी' कही जाने वाली स्त्री के साथ अपनी आधी उम्र व्यतीत करने के बावजूद लेखक उसके वर्णन में हिचकिचाता है। 'माँ' के रूप में स्त्री का वर्णन हम कुछ आत्मकथाओं में पाते हैं लेकिन कुछ आत्मकथाओं में 'माँ' भी मात्र सूचना के लिए उपस्थित है। बहिन, पुत्री, बहू... नामक स्त्रियों में पुत्री का वर्णन कहीं–कहीं मिलता है लेकिन 'बहिन' और 'बहू' लगभग पूरी तरह से गायब हैं या अनावश्यक सूचना की तरह उपस्थित हैं। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि पुरुष आत्मकथाकार अपनी आत्मकथा में परिवार की स्त्रियों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना स्त्री अपनी आत्मकथा में पुरुष को महत्त्व और पर्याप्त स्थान देती है। जीवन देने वाली स्त्री से लेकर उनको संभालने और भरपूर ख्याल रखने वाली स्त्री पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में लगभग गायब सी हो जाती है।

लेखक से यह आशा की जाती है कि वह समाज के सच को सामने लाए। स्त्री भी उसी समाज का हिस्सा है। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पितृसत्ता द्वारा उपेक्षित स्त्री की अवहेलना की एक धुंधली झलक मिलती है लेकिन उस अवहेलना के कारणों को जानने, परखने और उनसे मुक्ति दिलाने की कोशिशें बहुत कम हुई हैं। जिस व्यवस्था के कारण स्त्री को कदम–कदम पर अपमानित किया जाता है और उसके जीवन को बेड़ियों में बांधा जाता है, उस व्यवस्था का कड़ा प्रतिरोध हमें पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में नहीं मिलता है। जीवन भर पितृसत्ता को ढ़ोने वाली स्त्रियों के अस्तित्व को तलाशने की कोशिश किसी भी पुरुष आत्मकथाकार ने नहीं की है। वास्तविकता यह है कि पुरुष स्त्री को दया, तरस और सुरक्षा तो दे सकता है लेकिन बराबरी का दर्जा नहीं। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में यह पूरी तरह से सामने आया है कि स्त्री प्रेम है, विश्वास है, शक्ति है लेकिन स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं।

पुरुष आत्मकथाकारों ने अपने जीवनक्रम के वर्णन में न तो स्त्री की स्थिति को साफतौर पर दिखाया है और न ही उनके जीवन को। पत्नी के रूप में शील और संयम की देवियाँ आत्मकथाओं में उपस्थित हैं। अनेक जगह आत्मकथाकार ने स्वयं को दाम्पत्य जीवन के तनाव में पिसते हुए दर्ज किया है। पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक मूल्यों को ढ़ोती पत्नियां मौजूद हैं।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में प्रेम और विवाहेतर सम्बन्धों के प्रसंग में

स्त्री की मांसलता का खूब बखान किया गया है। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि कई बार आत्मकथाकार शारीरिक प्रलोभन के चलते प्रेम की झूठी दलीलें देते हैं। शारीरिक मांसलता में सौन्दर्य की तलाश करने वाले प्रेम को क्या निःस्वार्थ और सच्चे प्रेम की कोटि में रखा जाएगा? प्रेम के मामले में पुरुषों की दृष्टि को उजागर करती ये आत्मकथाएं 'प्रेम' और 'वासना' में फर्क भी सिखाती हैं।

दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं ने न केवल सवर्ण और दलित के बीच मौजूद असमानता, भेदभाव को लेकर महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए हैं बल्कि स्त्री–जीवन से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण पहलुओं – हिंसा, यौन हिंसा, उत्पीड़न, पितृसत्ता द्वारा निर्धारित मापदण्डों को भी उठाया है। दलितों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि शिक्षा जैसे मूलभूत अधिकार से लेकर अपने अस्तित्व तक का प्रश्न स्त्री के लिए परंपराओं और मर्यादाओं के घेरे में कैद है। दलित आत्मकथाओं के माध्यम से पीड़ा और उत्पीड़न के दोहरे अभिशाप में जीने को मजबूर दलित स्त्रियों द्वारा अपने अस्तित्व के लिए किया गया संघर्ष भी सामने आया है।

स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन एक जोखिम भरा कार्य है। स्त्री आत्मकथाकार जब अपनी कथा को समाज के सामने रखती है तो उसके सामने कुछ नैतिक और सामाजिक मर्यादा के दबाव भी होते हैं। भारतीय समाज में लोग अभी भी एक लेखिका की सहज स्वीकारोक्ति और जीवन के सच को ईमानदार अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकने की स्थिति में नहीं हैं। ऐसे में अनेक प्रसंगों के यथार्थ चित्रण ने लेखिका के सामाजिक सम्बन्धों और जीवन में असुविधा पैदा करने तक का काम किया है। कुछ स्त्री आत्मकथाकारों पर अश्लीलता तक के आरोप लगा दिए गए हैं। सवाल यह उठता है कि जीवन के जिन बीहड़ों से एक स्त्री का स्वत्व टकराया हो, वह आत्मकथा में अनुपस्थित कैसे रह सकता है? समाज यदि स्त्री के सामने अश्लीलता परोसेगा तो जाहिर है कि स्त्री उसे अपने जीवन में दर्ज करेगी ही। स्त्री आत्मकथाएं सम्बन्धों की नग्न सच्चाई को हमारे सामने रखती हैं। अपने स्वत्व के लिए संघर्ष करती हुई ये आत्माभिव्यक्तियां समाज को स्त्री को मनुष्य समझने का संदेश भी देती हैं। आत्मकथा के माध्यम से स्त्री अपने जीवन के अनछुए पहलुओं को सामने लाने के साथ ही स्त्री के अनकहे इतिहास को भी हमारे सामने रखती है।

स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि स्त्री का जीवन उसकी अपनी इच्छा से नहीं बल्कि पितृसत्ता द्वारा निर्धारित और संचालित किया जाता है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि स्त्री भी पितृसत्ता की

संरक्षक बन बैठती है। एक माँ अपनी बेटी को शोषण के प्रतिरोध की नहीं बल्कि सहने की सीख देने लगती है। एक माँ ही बेटी की अबोधता और सहजता को जिम्मेदारियों के निर्वहन में बाँधने का काम करने लगती है। नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाली माँ बेटी को विवाह के महत्त्व की सीख भी देने लगती है। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि घर–परिवार के दिए गए संस्कार स्त्री को पति के इर्द–गिर्द अपने जीवन को जीने की सीख देते हैं। लाल घाघरे का महत्त्व लगभग सभी लेखिकाओं को बताया गया है। मर्यादा, नैतिकता ने स्त्री को इस कदर प्रभावित किया है कि पति को ही स्त्री अपने जीवन का आधार मानने लगती है। लगभग सभी पुरुष और स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि स्त्री अपने पति से जिस विश्वास को पाने के लिए पूरे जीवनभर अपनी उपेक्षाओं को भी अपना कर्त्तव्य मानने लगती है, वही विश्वास उनके जीवन का एक बड़ा कलंक साबित होता है। जहाँ एक ओर स्त्री एक संबंध को जीने में विश्वास रखती है, वहीं दूसरी ओर पुरुष अनेक संबंधों के साथ जीने को अपना अधिकार मानता है। मन्नू भंडारी की आकांक्षा भी कमोबेश यही थी। उनकी आकांक्षा थी कि राजेन्द्र यादव केवल उनके प्रति एकनिष्ठ होकर रहें लेकिन राजेन्द्र यादव को मन्नू का विश्वास नहीं बल्कि कई मीताओं का साथ चाहिए था।

आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि पुरुष स्त्री को जिस सांचे में ढ़ालने के लिए तमाम तरह के दाव–पेंचों का इस्तेमाल करता है, स्त्री भी उस सांचे में फिट बैठने के लिए तमाम तरह के यत्न करने लगती है। फिर चाहे वह पति को खुश करने के लिए कृष्णा अग्निहोत्री द्वारा नृत्य सीखने या शराब पीने का प्रसंग हो अथवा चन्द्रकिरण सौनरेक्शा द्वारा पति की प्रसन्नता के लिए मांस–मछली बनाने को अपना धर्म मानने का प्रसंग हो। स्त्री को बंदिशों में कैद करने के लिए पुरुषों ने उसके सौन्दर्य को मुख्य पैमाना बनाया है। आश्चर्य इस बात में नहीं है कि पुरुष स्त्री को उसकी योग्यता से नहीं सुन्दरता से परिभाषित करता है। यह सदियों का सच है कि पुरुष स्त्री के सौन्दर्य का उपासक रहा है। आश्चर्य तो तब होता है जब स्त्री सदियों के उस सच को अपना जीवन सत्य मान बैठती है। लगभग सभी लेखिकाएं खुद को सुन्दरता के पैमाने पर न केवल कसती हैं बल्कि पति/प्रेमी की प्रसन्नता के लिए अनेक जत्न भी करती हैं।

पुरुष स्त्री को सुन्दरता की देवी कहकर उसके जीवन को अपने नियंत्रण में करने की कोशिश करता है। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि स्त्री भी उस कोशिश को अपना गुण मानने लगती है। कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, प्रभा खेतान, चन्द्रकिरण सौनरेक्शा, मन्नू भंडारी सभी ने अपनी सुन्दरता,

काले–गोरे होने का जिक्र अपनी आत्मकथा में किया है। कृष्णा अग्निहोत्री तो खुद पर इतना रीझ जाती हैं कि पति द्वारा 'प्रथम दिवस की कमसिन कुंवारी' कहना उन्हें अपने सौन्दर्य का सर्टिफिकेट मिलने जैसा लगने लगता है। किसी भी पुरुष आत्मकथाकार ने अपने सौन्दर्य का न तो कहीं बखान किया है और न ही सुन्दरता को अपने जीवन का पैमाना माना है। स्त्री अपने शरीर को ही सुन्दरता और बदसूरती के पैमानों पर कसने लगती है। पितृसत्ता ने स्त्री को इस कदर बांधा है कि प्रभा खेतान जो अपने जीवन में सफलता की बुलंदियों को छूती हैं, उन्हें भी यह कमी खटकती है कि वह गोरे रंग की सुन्दर महिला न होकर सांवले रंग की सामान्य महिला हैं। शायद इसी कुंठा को वह प्रेमी द्वारा 'कमसिन सुंदरी' कहने में अपने जीवन की सार्थकता तलाशने लगती हैं।

आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि पुरुषों ने स्त्री को उसके अस्तित्व से परे मूल्यों से जोड़कर देखा है। मूल्य वे जो सीता को अग्नि–परीक्षा में खड़ा करते हैं, मूल्य वे जो गांधारी को धृतराष्ट्र के लिए आंखों पर पट्टी बांधने की सीख देते हैं। सवाल यह नहीं है कि राम ने सीता को किन कर्त्तव्यों के लिए अग्निपरीक्षा में उतारा। सवाल यह है कि गांधारी ने किन कर्त्तव्यों के पालन के लिए अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली? पुरुष तो स्त्री से समर्पण की कामना रखता ही है और यदि स्त्री भी उस समर्पण पर खरी उतरने लगे तो उसके जीवन की गति और दिशा का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है। कमलेश्वर जीवनभर अपने तमाम सम्बन्धों के बावजूद जिस एकनिष्ठता और समर्पण की माँग अपनी पत्नी से करते रहे, उसी समर्पण को चन्द्रकिरण सौनरेक्शा अपना कर्त्तव्य मान बैठती हैं। पति के अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्धों के बावजूद उनके प्रति एकनिष्ठता को चन्द्रकिरण सौनरेक्शा अपना जीवनलक्ष्य मानती हैं।

जहाँ एक ओर पुरुष आत्मकथाकारों ने स्त्री के जीवन को परंपरा, समाज, संस्कृति द्वारा निर्धारित नैतिकता और मर्यादा में बांधने की कोशिश की है, वहीं दूसरी ओर स्त्री आत्मकथाकारों ने घर, परिवार की जिम्मेदारी, दायित्वों को निभाते हुए अपने स्वत्व और अस्तित्व में अपने जीवन की तलाश की है। लेकिन यह स्वत्व पितृसत्तात्मक मूल्यों और संस्कारों से काफी हद तक जुड़ा हुआ है। घर की जिम्मेदारी को निभाते हुए स्त्री अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता की तलाश करती है। पुरुष स्त्री की उस निर्भरता में सहयोगी नहीं बल्कि विरोधी बनकर सामने आता है। वह यदि सहयोगी बनता भी है तो अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर। आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि स्त्री यदि लेखन और नौकरी में अपने अस्तित्व की तलाश करती है तो उसके लिए घर के काम करने की अनिवार्यता सबसे पहले निर्धारित की जाती है। लेकिन यदि पुरुष नौकरी न भी करे तब भी उसके

लिए यह अनिवार्यता नहीं। लगभग सभी लेखिकाएं घर की तमाम जिम्मेदारियों की व्यस्तता में अपने कैरियर और लेखन के लिए मुश्किल से समय निकाल पाती हैं।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं को पढ़ते हुए जिस एक बात पर मेरी दृष्टि गई, वह यह कि या तो पुरुषों ने स्त्री को शील–संयम की देवी माना है, या फिर स्त्री को चरित्रहीन कहते हुए उसके जीवन को ही आचरण की शुद्धता पर कस दिया है। इन दोनों ही दृष्टियों को क्रमशः विष्णु प्रभाकर और सूरजपाल चौहान के यहां देखा जा सकता है। एक ओर विष्णु प्रभाकर अपनी पत्नी को देवी कहकर संबोधित करते हैं। वहीं दूसरी ओर सूरजपाल चौहान अपनी पत्नी का वर्णन करते समय अश्लीलता की सारी हदें पार कर जाते हैं। स्त्री की मर्यादा को भी सूरजपाल चौहान ने अश्लील बनाकर पेश किया है। साहित्य की प्रामाणिकता के नाम पर मनुष्यता की सीमाएं लांघना ऐसे अश्लील वर्णन को न तो प्रामाणिक बनाता है और न ही समाज को समझने की दृष्टि देता है। साहित्य की सार्थकता की प्रथम शर्त है – समाज को समझने की दृष्टि देना। सम्बन्धों के नाम पर स्त्री की नग्नता का चित्रण न तो साहित्य की कोटि में आता है और न ही स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को समझने की दृष्टि देता है।

आत्म के नाम पर सबकुछ का बखान कर देना आत्मकथा लेखन नहीं है। आत्मकथा लेखन कोर्ट का वह कठघरा नहीं है जहाँ व्यक्ति केवल और केवल अपने को निर्दोष साबित करने की भरपूर कोशिश करता है। आत्मकथा वह मंच है जहाँ आत्मकथाकार के लिए समस्त गुण–दोषों और अच्छे–बुरे पक्षों के साथ अपने जीवन को सामने रखने की अनिवार्यता होती है। सूरजपाल चौहान और मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में स्त्री सम्बन्धी जिन प्रसंगों का वर्णन किया है, वे प्रसंग स्त्री के प्रति लेखक की दृष्टि को साफतौर पर दर्शाते हैं। ये प्रसंग स्त्री के प्रति लेखक की कुंठा को पूरी तरह उजागर कर देते हैं। स्त्री के शरीर का इस प्रकार वर्णन लेखक के मन की कई पर्तों को उघाड़ता है। इन प्रसंगों को पढ़कर लगता है मानो लेखक जीवनभर झेले गए जातिगत भेदभावों का बदला स्त्री से ले रहा है।

एक ओर जहां सूरजपाल चौहान का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण अतियथार्थवाद के नाम पर नग्नता का चित्रण अधिक लगता है, वहीं दूसरी ओर तुलसीराम का स्त्री के प्रति नजरिया साथी भाव और ठेठ जीवन के साहचर्य से जुड़ा है। तुलसीराम की दृष्टि इस मायने में भी उदात्त है कि उसमें स्त्री को जैविक इयत्ता और देह से आगे जाकर एक ठेठ मानुषी के रूप में चित्रित किया गया है। स्त्री दृष्टि से जीवन का एक यथार्थ तुलसीराम के यहां है और दूसरा मोहनदास नैमिशराय व सूरजपाल

चौहान के यहां। ये तीनों आत्मकथाकार दलित हैं और बचपन की स्मृतियों में ब्राह्मणवादी व्यवस्था का दंश किसी ने कम नहीं झेला है।

पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं के माध्यम से यह सामने आया है कि परायी स्त्री के साथ संसर्ग करना मानो पुरुषत्व का सबसे बड़ा पैमाना हो। पत्नी जिस एकनिष्ठता और अनन्यता के साथ पति के साथ अपने जीवन तक को बांध देती है, उस एकनिष्ठता और अनन्यता का प्रतिदान विष्णु प्रभाकर को छोड़कर किसी भी पुरुष आत्मकथाकार के यहां नहीं मिलता है। जिस मर्यादा, नैतिकता को पुरुष स्त्री के लिए बेहद आवश्यक मानता है, उसी मर्यादा, नैतिकता को वह अपने लिए बंधन मानता है। स्त्री आत्मकथाकार जहां वैवाहिक जीवन के ज्यादातर प्रसंगों में स्त्री–जीवन की सार्थकता तलाश करती है वहीं पुरुष आत्मकथाकारों का लेखन ऐसी किसी सीमा को स्वीकार करता नहीं दिखता है। स्त्री आत्मकथाकारों के दाम्पत्य चित्रण में जहां पति के साथ बिताए सुख–दुख के क्षणों सहित प्रेम, तिरस्कार और लांछन सबकुछ शामिल है, वहीं पुरुष आत्मकथाकारों के यहां आत्ममुग्ध विश्लेषण देखने को मिलता है जिसके दायरे में विवाहेतर सम्बन्ध, स्त्री–संसर्ग एवं अन्य प्रसंगों का चित्रण ज्यादा है।

परिशिष्ट

साक्षात्कार

साक्षात्कार

- कुसुम अंसल
- कृष्णा अग्निहोत्री
- अशोक वाजपेयी
- सूरजपाल चौहान
- मैत्रेयी पुष्पा
- मन्नू भंडारी
- सुशीला टाकभौरे

आत्मकथा व्यक्ति के जीवन की कथा होती है। जाहिर है कि उस जीवन को वास्तविक धरातल पर जानने के क्रम में साक्षात्कार के माध्यम से न केवल आत्मकथाकार की जीवनदृष्टि सामने आती है बल्कि वे अनुभव भी सामने आते हैं जो उसके जीवन को गति और दिशा देते हैं। वास्तविक धरातल पर आत्मकथाकारों के जीवन की गति और दिशा जानने के लिए मैंने साक्षात्कार को अपने शोध प्रबंध का हिस्सा बनाया है। मैंने साक्षात्कार में उन सभी आत्मकथाकारों को शामिल किया है जिनकी आत्मकथाएं मेरे शोधप्रबंध का आधार हैं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा मेरे शोध के आधार ग्रंथों में शामिल नहीं है। इसका कारण है कि मैं मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा पर लघु शोध प्रबंध लिख चुकी हूँ इसलिए उनकी आत्मकथा को शोध प्रबंध में शामिल करना उन्हीं बिंदुओं को दोहराने जैसा था। मैत्रेयी पुष्पा से साक्षात्कार लेना मुझे महत्त्वपूर्ण इसलिए लगा क्योंकि उनका जीवन स्त्री–जीवन को समझने की सार्थक दृष्टि देता है।

साक्षात्कार लेने के क्रम में मैंने कुछ प्रश्नों को सभी आत्मकथाकारों के लिए समान रखा और कुछ प्रश्न आत्मकथाकारों के विशेष संदर्भ को ध्यान में रखकर तैयार किया। साक्षात्कार के माध्यम से न केवल स्त्री–जीवन के विविध पक्ष बल्कि आत्मकथाकार के जीवन के अनेक अनछुए पहलू भी सामने आए। आत्मकथाकार से साक्षात्कार लेने के क्रम में मैंने पाया कि आत्मकथाकारों ने कुछ बिन्दुओं पर अपने वास्तविक यथार्थ को और अधिक खुलकर सामने रखा। कुछ ऐसे प्रसंग भी सामने आए जिनका आत्मकथा में कहीं उल्लेख नहीं था। सामाजिक मर्यादा का प्रश्न व्यक्ति को हमेशा घेरे रहता है। इसी मर्यादा के चलते कुछ आत्मकथाकार अपने बेहद निजी प्रसंगों को आत्मकथा में उजागर करने की हिम्मत नहीं कर पाए। नितांत निजी प्रसंग साक्षात्कार के प्रश्नों, उत्तरों और बातचीत के क्रम में उभरकर सामने आते गए। इन प्रसंगों ने आत्मकथा में अभिव्यक्त वर्णनों, घटनाओं को पूरी वास्तविकता में समझने की आधारभूमि तैयार की। आत्मकथा में वर्णित जीवन और साक्षात्कार के माध्यम से सामने आया यथार्थ कुल मिलकर स्त्री जीवन को समग्रता और सम्पूर्णता में समझने की दृष्टि देता है।

यहाँ आत्मकथाकारों से मेरे द्वारा लिए गए साक्षात्कार उसी रूप में ज्यों का त्यों प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यहाँ कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, अशोक वाजपेयी, सूरजपाल चौहान, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नू भंडारी और सुशीला टाकभौरे से लिया गया साक्षात्कार शामिल है। सभी साक्षात्कार स्त्री–जीवन को समझने की वह सार्थक

दृष्टि प्रदान करते हैं जहां हम यथार्थ पर खड़े होकर वास्तविक जीवन के पहलुओं से अवगत होते हैं।

कुसुम अंसल से लिया गया साक्षात्कार जहां एक धनाढ्य वर्ग की स्त्री के यथार्थ को सामने रखता है, वहीं सुशीला टाकभौरे से लिया गया साक्षात्कार एक दलित स्त्री के जीवन की त्रासदी को सामने रखकर सोचने को मजबूर कर देता है। अशोक वाजपेयी से लिया गया साक्षात्कार इस मायने में महत्त्वपूर्ण है कि यह साक्षात्कार स्त्री के प्रति पुरुषवादी दृष्टिकोण को सामने लाता है। सूरजपाल चौहान से लिया गया साक्षात्कार स्त्री के प्रति दलित पुरुष के दृष्टिकोण को सामने लाता है। अशोक वाजपेयी और सूरजपाल चौहान से लिया गया साक्षात्कार स्त्री के प्रति सवर्ण और दलित पुरुष के दृष्टिकोण में भेद और अभेद के बिन्दुओं को भी उजागर करता है। मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा और कृष्णा अग्निहोत्री से लिया गया साक्षात्कार विभिन्न वर्गों और परिस्थितियों में रह रही स्त्रियों के जीवन, जीवन–संघर्ष और स्त्री के प्रति उनकी सोच के अनेक बिन्दुओं को उजागर करता है।

साक्षात्कार के माध्यम से यह सामने आया है कि स्त्री के प्रति एक स्त्री का दृष्टिकोण किस प्रकार समानता और असमानता के द्वंद्व में घिरा रहता है। अनेक बिन्दुओं पर एक स्त्री आत्मकथाकार दूसरी स्त्री आत्मकथाकार से अपना पृथक दृष्टिकोण रखती है। कुछ बिन्दुओं पर पुरुष आत्मकथाकार स्त्री–जीवन के प्रश्नों पर स्त्री आत्मकथाकारों से वैचारिक समानता रखते प्रतीत होते हैं और कुछ बिन्दुओं पर असमानता। वैचारिक समानता और असमानता के बिंदुओं को स्पष्ट करते हुए सभी साक्षाकार स्त्री–जीवन को यथार्थ में समझने की सार्थक और मुकम्मल दृष्टि प्रदान करते हैं

कुसुम अंसल

स्वीटी : आत्मकथा से आपका क्या तात्पर्य है?

कु.अं. : आत्मकथा आपके जीवन का वृत्तांत होती है। आत्मकथा में आप कल्पना नहीं कर सकते हैं। इसमें आप काल्पनिक तत्वों को नहीं मिला सकते हैं। आत्मकथा में आपको वही कहना पड़ता है जो जीवन आप जी चुके होते हैं। आपकी आत्मचेतना में जो बसा रह गया है वह सब आत्मकथा के माध्यम से सामने आता है। आत्मकथा एक प्रकार से दर्पण के सामने अपने आप को देखने की प्रक्रिया है। इसमें आप झूठ नहीं लिख सकते हैं। आत्मकथा लिखने से पहले आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि जो कहूँगी सच कहूँगी। इसलिए मैंने अपनी आत्मकथा में सब कुछ सत्य कहा है, कहीं कुछ झूठ नहीं दिखाया है।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा में भी अंततः कहा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा के दोनों खंडों में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

कु.अं. : सारा कुछ आत्म है लेकिन उसे लिखने की प्रक्रिया को कथा का रुप देना पड़ा ताकि पाठकों की रुचि बनी रहे। मेरा बचपन, विवाह, बच्चों का पालन–पोषण, अलीगढ़ में बीता समय, मित्रों के विषय में वर्णन सभी कुछ सत्य है। लिखने की शैली अवश्य कथा की है।

स्वीटी : आपको आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

कु.अं. : प्रेरणा मुझे कहीं से नहीं मिली। किसी पत्रिका ने मुझे अपने अंक के लिए आत्मकथ्य लिखने के लिए कहा तो मैंने 'घर से घर तक' नाम से आत्मकथ्य लिखा। एक गोष्ठी में उस आत्मकथा का वाचन करते समय लोगों ने उसे बहुत सराहा और आगे लिखने के लिए कहा। इस प्रकार अपने बारे में लिखने का एक सिलसिला बनता गया।

स्वीटी : स्त्री विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं।

कु.अं. : मुझे समझ नहीं आता कि यह स्त्री–विमर्श का मुहावरा किसने उठाया है? लेखन, लेखन होता है फिर चाहे वह स्त्री का हो या पुरुष का। मैं स्त्री–विमर्श में जरा भी विश्वास नहीं करती हूँ।

स्वीटी : पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा कौन सी है?

कु.अं. : सभी आत्मकथाकारों ने अपने–अपने जीवन के बारे में लिखा है। किसी

एक को मैं प्रिय या पसंदीदा नहीं कह सकती। हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा मुझे अच्छी लगती है। अन्य आत्मकथाएं मुझे उतनी प्रभावित नहीं कर सकीं।

स्वीटी : आपके संघर्ष का मुख्य केंद्र बिंदु क्या है?

कु.अं. : मानसिक संघर्ष के कारण मन की उथल–पुथल मुझे बहुत अधिक प्रेरित करती रही है। मुझे धनाभाव कभी तकलीफदेह नहीं लगता। मानसिक संघर्ष के कारण ही मैं अपने आप को महसूस कर पाती हूँ। इसलिए मुझे मानसिक संघर्ष अधिक प्रेरणादायी लगता है।

स्वीटी : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों की समस्याओं को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं।

कु.अं. : सभी स्त्रियों के जीवन के अपने–अपने संघर्ष होते हैं। कोई महिला जो गली में रहती है उसका अपना संघर्ष होता है और जो कॉलेज में काम करती है उसका अपना संघर्ष होता है। सभी के संघर्ष की परिभाषा मैं नहीं दे सकती। संघर्ष सभी की अपनी–अपनी परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

स्वीटी : हिंदी में स्त्री–विमर्श बहुत हद तक प्रतिक्रियावादी रहा है, इस परिप्रेक्ष्य में आप अपनी आत्मकथा को कैसे देखती हैं?

कु.अं. : मैं स्त्री–विमर्श को मानती ही नहीं हूँ।

स्वीटी : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

कु.अं. : मुझे जहाँ तक ध्यान है, मैने काफी कुछ आत्मकथा में उल्लेख कर दिया है। 'जो कहा नहीं गया' लिखे हुए लगभग बीस साल हो गए हैं। जिसके बाद मैंने जो जीवन जिया है उसे मैं आत्मकथा के दूसरे भाग में लिखूंगी। अभी मैं एक उपन्यास पर काम कर रही हूँ। जल्द ही आत्मकथा का दूसरा भाग सामने आएगा। कभी–कभी लगता है कि आत्मकथा के पहले भाग में मैंने कुछ चीजों का विस्तार से वर्णन नहीं किया है जबकि मुझे करना चाहिए था। अगले खंड में मैं उनका फ्लैशबैक में विस्तार से वर्णन करूंगी।

स्वीटी : आज हिंदुस्तान में कौन–कौन से महत्त्वपूर्ण महिला आंदोलन चल रहे हैं जिन्हें और अधिक मजबूती प्रदान करने की जरूरत है।

कु.अं. : मैं तो आंदोलनों से दूर ही रहती हूँ। मैं लेखिका हूँ। मेरा मतलब किसी आंदोलन से नहीं है।

स्वीटी : अस्मितावादी विमर्श में आत्मकथा लेखन का दौर अब लगता है थम–सा गया है। अब इसके आगे क्या लिखा जाना है?

कु.अं. : उपन्यास, कहानी, कविता आदि में कल्पना का मिश्रण कर नए तरीके से आप उसे लिख सकते हैं। सभी विधाओं, संस्मरण, लघुकथा, यात्रा–वृत्तांत, कहानी, उपन्यास, कविता आदि में लगभग लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। अब आज के समय में डिजिटल युग होने के कारण इसी के माध्यम से लोग अपनी बातों को रखेंगे और रख भी रहे हैं। फेसबुक, ट्विटर पर लोग अपने जीवन, विचारों को सामने रख रहे हैं।

स्वीटी : सभी सरकारें महिलाओं के कल्याण की योजनाएं बनाती हैं फिर भी महिलाओं की हालत में सुधार नहीं दिखता है? इसके पीछे क्या कारण हैं?

कु.अं. : वाकई में स्त्री की हालत में अभी तक सुधार नहीं हुआ है। निर्भया की तरह हर रोज ऐसी खबरों से अखबार भरा होता है जिसमें स्त्री पर अत्याचार की बातें होती हैं। पुलिस स्त्री के उत्पीड़न को सुना–अनसुना कर देती है। कानून भी महिलाओं की हालत में सुधार के लिए प्रयासरत नहीं दिखता है। सिनेमा भी स्त्री को उधाड़कर दिखाता है। मैंने स्त्री की स्थिति पर कई कविताएं लिखी हैं। महिला भले ही प्रधानमंत्री बन जाए, मंत्री बन जाए लेकिन उसकी स्थिति में सुधार नहीं दिखता। सब अपना–अपना मतलब साधते हैं। इसलिए स्त्री की हालत में कोई सुधार नहीं होगा बल्कि और अधिक पतन आएगा।

स्वीटी : कुछ धार्मिक और राजनीतिक हिंदू नेता हिंदू स्त्रियों को ज्यादा बच्चे पैदा करने की सलाह देते हैं तथा मुस्लिम धर्म के नेता महिलाओं को पर्दे और तलाक से स्वतंत्रत करने को राजी नहीं हैं। क्या आज स्त्री–विमर्श में इन समस्याओं को प्रमुखता से दर्ज किया जा रहा है।

कु.अं. : दर्ज तो करते ही हैं। बच्चे हिंदू से अधिक मुसलमान पैदा करते हैं। इसके पीछे उनकी मानसिकता अधिक बच्चे, अधिक आमदनी की होती है। यह समस्या राजनीतिक अधिक है। इसके बारे में लेखक केवल प्रयास कर सकता है। कानून लाना सरकार का काम है, लेखक का नहीं। आज के लेखन में इन समस्याओं को दर्ज किया जाना चाहिए और किया भी जा

रहा है। आज समलैंगिक संबंध जैसे मुद्दों पर भी लिखा जा रहा है।

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख्य कारण माना जाता है किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका, जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की नियति है।

कु.अं. : अब समय बदल रहा है। आज स्त्रियाँ अपने उत्पीड़न से ऊपर भी उठ रही हैं। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर स्त्री अपने साथ होने वाले अत्याचार से भली भांति सामना कर सकती है। आज जो नई पीढ़ी आयी है, वह काफी ऊंचे पदों पर भी है और खूब मेहनत से काम भी कर रही है। अब स्त्री घर में नहीं बैठ रही है, बल्कि बाहर जाकर खूब काम कर रही है। मुझे बहुत अधिक खुशी है और ऐसी पीढ़ी को मैं सलाम करती हूँ। आज अगर कोई स्त्री विधवा हो जाती है तो वह घर नहीं बैठती है बल्कि दूसरा विवाह भी कर सकती है और आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए बाहर जाकर काम भी करती है। जैसे–जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, यह बदलाव और अधिक तेजी से होगा।

स्वीटी : क्या कारण है कि पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्रियाँ उतनी जगह नहीं पातीं जितनी की स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पुरुष?

कु.अं. : भारत एक पुरुष प्रधान देश है। पहले पिता, फिर पति और बेटा स्त्री के जीवन पर हावी रहते हैं। पुरुष वर्ग ही यहां स्त्री के दायरे सुनिश्चित करता है। इसलिए स्त्रियाँ उस पुरुष वर्ग का जिक्र करती हैं क्योंकि यह वर्ग पूरे जीवन भर उनके जीवन के मापदंड निर्धारित करता रहता है। धीरे–धीरे यह खत्म होगा लेकिन अभी समय लगेगा। पुरुष तो कुछ भी कर सकता है। समाज उसे दोष नहीं देता है। समाज केवल और केवल स्त्री को दोषी मानता है। स्त्रियों के लिए जो प्रथाएं बनी हैं, वे सब पुरुषों ने बनाई हैं। एक विधवा स्त्री के लिए तमाम तरह के नियम कानून जबकि एक विधुर पुरुष के लिए कोई नियम नहीं। वह अपने जीवन को पहले की तरह अपने तरीके से जी सकता है किंतु स्त्री के लिए ऐसा नहीं है। शायद इसीलिए स्त्रियों के जीवन पर पुरुष सत्ता के हावी होने के कारण आत्मकथाओं में पुरुषों का अधिक वर्णन आया है। जबकि पुरुष स्त्री को अपने से कमतर समझता है इसलिए वह उसका वर्णन क्यों करेगा?

स्वीटी : विवाह और प्रेम के संबंध में आपके क्या विचार हैं? एक पुरुष के प्रेम और एक स्त्री के प्रेम को आप किस नजरिए से देखती हैं?

कु.अं. : प्रेम किया नहीं जाता है, हो जाता है। अरेंज मैरिज में विवाह के बाद प्रेम होता है। मेरे जीवन में भी ऐसा हुआ है। मेरा विवाह मेरे माँ–बाप ने तय किया था। विवाह के बाद मैंने अपने पति को जाना। मैं आत्मा से जुड़ाव में विश्वास करती हूँ। प्रेम मानसिक, एक प्रकार से आत्मिक भावना है। मैं अपने पति को 'सोलमेट' (**Soulmate**) कहती हूँ। प्रेम तो एक भावना है वह किसी के प्रति भी हो सकती है। हम अपने बड़े–बूढ़ों, बच्चों से भी प्रेम करते हैं। हाँ यह अवश्य है कि हम बच्चों के प्रति प्रेम को 'ममत्व' की संज्ञा देते हैं। प्रेम, प्रेम है इसलिए स्त्री–पुरुष के प्रेम में मुझे कोई भेद नजर नहीं आता। प्रेम सबका समान होता है फिर चाहे वह स्त्री का हो या पुरुष का।

स्वीटी : स्त्री–जीवन से आपका क्या तात्पर्य है? समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं?

कु.अं. : मैथिलीशरण गुप्त की एक पंक्ति है – 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आंखों में पानी।' लेकिन अब स्त्री इस परिभाषा से बाहर आ गई है। अब स्त्री आंखों में पानी वाली छवि से बहुत ऊपर उठ चुकी है। अब स्त्री ने बंदिशें भी तोड़ दी हैं। पहले स्त्री को पढ़ाया नहीं जाता था लेकिन आज स्त्री पढ़कर आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर होने के साथ ही घर गृहस्थी को संभाल रही है, बच्चों की परवरिश भी कर रही है। आज समय बहुत बदल गया है। 'बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ' का अभियान प्रशंसनीय है। स्त्री के आगे बढ़ने से ही देश का विकास होगा। स्त्री को जितने संस्कार दिए जा सकते हैं, दिए जाएं। आज स्त्री अबला नहीं है बल्कि सबल है। शिक्षा स्त्री के लिए बहुत जरूरी है। स्त्रियाँ काम करके आगे बढ़कर अपने जीवन को विकास के रास्ते पर ले जा सकती हैं। एक माँ अपने बेटा–बेटी का भविष्य निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। इसलिए आज स्त्रियों का शिक्षित होना बहुत जरुरी हो गया है।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसे देखती हैं? कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

कु.अं. : आज स्त्री अपने अधिकार के लिए लड़ रही है। स्त्री लड़कर अपने अधिकार हासिल कर लेगी। अब समय बदल गया है।

स्वीटी : और अंत में, इस देश की स्त्रियों को आप क्या संदेश देना चाहती हैं?

कु.अं. : मेरा इस देश की स्त्रियों को यही संदेश है कि अपने पैरों पर खड़ा होकर आत्मनिर्भर बनो, खूब उन्नति करो और अपने देश का नाम रोशन करो। स्त्रियाँ ऐसा कर भी रही हैं, यह मेरे लिए बहुत अधिक प्रसन्नता का विषय है।

कृष्णा अग्निहोत्री

स्वीटी : आत्मकथा से आपका क्या तात्पर्य है?

कृ.अ. : आत्मकथा जीवन का सत्य जो जीवन के उतार–चढ़ाव, संघर्ष से संबंधित होता है। आत्मकथा का संबंध सामाजिक सरोकारों से भी है।

स्वीटी : स्त्री विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं।

कृ.अ. : मात्र स्त्री–विमर्श हेतु आत्मकथा नहीं लिखी जाती, क्योंकि वह पक्षपात व एक दृष्टिकोण से संबंधित होगी। लिखने के बाद यदि उन मनःस्थितियों व अन्य घटनाओं से अपने आप स्त्री–विमर्श दिखता है तो उसे समझा व उल्लेखित किया जा सकता है।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा के दोनों खंडों में कितना प्रतिशत आत्म है और कितना प्रतिशत कथा?

कृ.अ. : आत्मकथा में अभिव्यक्त कथा में यथार्थ होता है, वह काल्पनिक घटनाओं व व्यक्तियों से अभिव्यक्त नहीं होती है। आत्मकथा भोगे हुए यथार्थ से ही संबंधित होती है। मेरी आत्मकथा के दोनों खंड पूर्ण रूपेण मेरे ही अनुभव व भोगे हुए सत्य हैं व प्रामाणिक भी हैं।

स्वीटी : आपको आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

कृ.अ. : जब दिल्ली में अनुभवों की गठरी उठाना कठिन हो गया तब मेरे अच्छे मित्र डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना ने सलाह दी कि अब आप अपनी आत्मकथा लिख डालें। यह हिंदी की प्रथम स्त्री आत्मकथा होगी और आत्मकथा लिखने का मेरा मन बन गया क्योंकि आसपास के वातावरण में शोषण, पीड़ा व चुनौतियां बहुत अधिक थीं।

स्वीटी : स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा और क्यों?

कृ.अ. : कोई भी पसंद नहीं क्योंकि नाटकीयता और असत्य मुझे पसंद नहीं है।

स्वीटी : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं?

कृ.अ. : बहुत सीमा तक सफल। मैं अपने लेखन कार्य में अग्रसर हूँ हालांकि अवार्ड व अन्य अवसरों से वंचित कर मुझे प्रतिबंधित करने की चेष्टा आज भी जारी है।

स्वीटी : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

कृ.अ. : आत्मकथा के दो खंड तो हो गए। शेष कुछ अनुभवों को मैंने डायरी में लिखा है। जब तक सांस है तब तक अनुभव होते रहेंगे पर अब लिखने की फिलहाल इच्छा तो नहीं।

स्वीटी : 'स्त्री–जीवन' से आपका क्या तात्पर्य है? समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं क्या हैं?

कृ.अ. : जब बच्चा पैदा होता है तो समाज व परिवार उसे लड़की या लड़का घोषित करता है। जब हमारे यहां मुस्लिम शासन था, उस समय राजस्थान, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में कन्या जन्म बुरा मानकर बहुधा गला दबाकर या पलंग की पाटी तले कुचलकर मार दिया जाता था। सीमोन द बोउवार के शब्दानुसार लड़की को यही संस्कार दिया जाता था कि वो पिता, भाई के बाद पति, पुत्र के अधीनस्थ जीवन जिएगी, उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं, वो गृहणी है, माँ है और पति की अनुगामिनी है, यही उसका जीवन है।

स्वीटी : एक स्त्री के कई रुप होते हैं – माँ, बहिन, पत्नी, प्रेमिका, बेटी और बहू आदि..., इन रूपों में आपको स्त्री का कौन सा रूप अच्छा लगता है? और क्यों?

कृ.अ. : स्त्री रूप अपनी–अपनी जगह अच्छे हैं क्योंकि नारी पत्नी होकर भी माँ, बेटी, प्रेयसी के रूप निभाती है। जैसा टैगोर कहते हैं उसके सभी रूप अनिवार्य व आवश्यक हैं।

स्वीटी : पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा? और क्यों?

कृ.अ. : मैंने अधिक आत्मकथाएं नहीं पढ़ी हैं। बच्चन जी की आत्मकथा पढ़ी, वो बहुत अच्छी लगी।

स्वीटी : स्त्री–विमर्श की किन–किन पुस्तकों से आप प्रभावित हैं?

कृ.अ. : स्त्रीविमर्श को आधार बनाकर लिखना अलग है और रचनाओं से सत्य स्वयं प्रवाहित होकर बाहर आए तो वो बात ही विशिष्ट है। आठवें दशक की सभी लेखिकाओं की रचना में वह स्पष्ट है।

स्वीटी : हिंदी साहित्य में आज स्त्री–विमर्श आपको किस मुकाम पर दिखाई देता है?

कृ.अ. : नारों और बहसों तक।

स्वीटी : एक सवर्ण स्त्री और एक दलित स्त्री के जीवन–संघर्ष को आप किस प्रकार देखती हैं?

कृ.अ. : दलित स्त्री का जीवन शराबी पति के अत्याचार व अर्थ के अभाव जैसी समस्याओं से ग्रस्त है। अशिक्षित होने से अज्ञानतावश दुख झेलना उसकी नियति है। सवर्ण स्त्री की समस्या दूसरी है। रूढ़िबद्ध होना, संस्कारों का मुखौटा और पति की ऐय्याशी व बाजारवाद की समस्याओं से उत्पन्न स्थितियां उसके जीवन की प्रमुख चुनौतियां हैं।

स्वीटी : अस्मितावादी विमर्श में आत्मकथा लेखन का दौर अब लगता है थम–सा गया है। अब इसके आगे क्या लिखा जाना है?

कृ.अ. : लेखन का दौर नहीं होता, विकास होता है। आत्मकथाएं अब लिखने की किसी की स्थिति नहीं होगी, जबरदस्ती तो लिखा नहीं जाएगा। आजकल युवा पीढ़ी का ध्यान नए गीतों की तरह जल्दी–जल्दी साहित्य लिखने की ओर है। हो सकता है कुशवाहा कांत जैसा हो या प्रेमचंद जैसा हो, यह समय का प्रस्ताव होगा।

स्वीटी : आज हमारे देश में लोकतंत्र का दायरा बहुत तेजी से सिमटता जा रहा है। राष्ट्रवाद और हिंदुत्व के आतंक में लोकतांत्रिक आवाजों का निर्मम दमन हो रहा है। स्त्री–लेखन में इसका कितना प्रतिरोध दर्ज हो रहा है?

कृ.अ. : राजनीति के विषय में मैं किसी दल, पार्टी के नियमों, नीतियों के विषयों से अलग हूँ। अभी तक भारत की पुरानी पीढ़ी के बाद नई पीढ़ी राजनीति व देश के भविष्य के बारे में कोई मनन नहीं कर पाती है। उसे सही मार्गदर्शन भी नहीं मिलता है। स्त्री इस प्रतिरोध पर क्या लिखेगी? वह क्यों मूसल व ओखली में सर डालेगी क्योंकि उसने तो अभी तक स्वयं ही स्वयं का साथ देना नहीं सीखा है।

स्वीटी : सभी सरकारें महिलाओं के कल्याण की योजनाएं बनाती हैं फिर भी महिलाओं की हालत में सुधार नहीं दिखता है? इसके पीछे क्या कारण है।

कृ.अ. : पुरुष समाज का देह व भोग्या रूप से स्त्री को देखने का विचार अब भी है। वही सामंतवादी रूख होने के कारण स्त्री शोषण कम होता नहीं दिख रहा है। अब तो दुष्कर्म के लिए नए हथकंडों का भी सहारा लिया जाता

है। इन दुष्कर्मों पर महिला आयोग भी 'एक्शन' देर से लेते हैं या कई बार नहीं भी लेते हैं। कल्याण योजनाएं केवल विचार मात्र हैं। प्रमुख है कि महिलाएं ही पब, होटलों छुपी जगहों में महिलाओं का शोषण करवाती हैं। जब महिला ही महिला का पक्ष नहीं लेती तो उसे कौन बचाएगा?

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना जाता है किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

कृ.अ. : स्त्री–पुरुष जीवनसंगी बनकर विवाह कर साथ रहते हैं ताकि बच्चे व परिवार सुखी रहें। दोष विवाह संस्था का नहीं हमारे प्रकृतिगत स्वभाव का है। दोनों ओर से निष्ठा, प्यार, समर्थन, सहयोग व समझौता होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो संस्था टूटेगी ही। इसके अभाव में स्त्री–पुरुष अन्य किसी और संबंध में भी सुखी नहीं रहेंगे।

स्वीटी : स्त्री–विमर्श के तहत आमतौर पर पत्नी या प्रेमिका का पक्ष ही ज्यादा आता है किंतु उसी की तुलना में पति की माँ–बहनों (सास ननद) का पक्ष या तो कम आता है या नकारात्मक भूमिका में आता है। ऐसा क्यों है? क्या वे महिलाएं पुरुष–पक्ष से संबंधित हैं इसलिए उत्पीड़िक मान ली गई है या वे स्त्री–विमर्श के दायरे से बाहर हैं?

कृ.अ. : क्यों नहीं। पारिवारिक उपन्यासों में उनका भी विमर्श अंकित हुआ है। सास– ननद मात्र पुरुष से संबंधित होने के कारण विमर्श उत्पन्न नहीं करती। उनके विचार, रहन–सहन व अर्थ आदि समस्याएं भी उनमें पैदा किए विमर्श का कारण है

स्वीटी : महिलाओं में भी ग्रामीण स्त्रियों और किसान–मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष ज्यादा विकट हैं, जबकि हिंदी के स्त्री–लेखन में इन पर बहुत कम लिखा गया है। ऐसे में हिंदी के स्त्री–विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है?

कृ.अ. : लेखक के लेखन की सीमा होती है। यदि किसी को अनुभव नहीं है तो वह कैसे लिख सकता है? मेरे 'नीलोफर' में गाँव है। अब मेरा आंचलिक उपन्यास आदिवासियों पर आने वाला है। वहाँ गरीब, मजदूर महिलाएं हैं,

उनकी समस्याएं हैं। यदि लेखक के पास अनुभव नहीं तो वह क्यों लिखें? क्योंकि लेखन अब यथार्थ के धरातल पर टिका है।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती हैं। कहने का आशय है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

कृ.अ. : स्त्री अधिकार स्वयं ले लेगी। स्त्री के भविष्य की बात करें तो उसका भविष्य अज्ञात है।

स्वीटी : और अंत में, इस देश की स्त्रियों को आप क्या संदेश देना चाहती हैं?

कृ.अ. : स्त्री को पुरुष के विरुद्ध देखने के बजाए उसे साथी, मित्र व सहयोगी के रुप में देखना चाहिए। यदि परिवार बनाएं तो संभालें, वरना न बनाएं। जीवन–दृष्टि, विचार विकसित कर महिला शृंखलाएं स्थापित कर स्वयं की मदद करें।

अशोक वाजपेयी

स्वीटी : माना तो यही जाता है कि अपनी रचनाओं में रचनाकार हर बार स्वयं को ही लिखता है, फिर अलग से आत्मकथा की क्या आवश्यकता है? क्या आपकी कविताओं में आपका जीवन नहीं है?

अ.वा. : यह सही है कि रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने समय, अपने समाज, अपनी उत्सुकताओं और विडंबनाओं, अपनी आकांक्षाओं और प्रभावों में, अपने को ही लिखता है, पर अक्सर वे सीधे–सीधे अपने जीवन के बारे में नहीं होतीं। पाठक और दूसरे लेखक, रचनाकार के जीवन के बारे में सीधे जानना चाहते हैं। अक्सर यही मांग या दबाव आत्मकथा लिखवाता है।

स्वीटी : एक कवि की आत्मकथा और एक कथाकार की आत्मकथा को क्या अलग किया जा सकता है?

अ.वा. : आत्मकथा मूलतः कथा होती है और उसमें कोई कवि या कथाकार नहीं होता। उसके लिए आत्मकथा लिखना बहुत कठिन होता है। हिंदी में किसी बड़े कवि ने आत्मकथा नहीं लिखी, बच्चन ही अपवाद हैं।

स्वीटी : अस्मितावादी विमर्श के उत्थान के बाद से आत्मकथाएं ज्यादा लिखी जाने लगी हैं। क्या रचनाकार अपनी अस्मिता को अपनी रचनाओं में मुकम्मल नहीं देख पाते?

अ.वा. : यों तो आत्मकथा भी एक तरह की रचना ही है। अधिकांश अस्मितावादी लेखकों ने अपनी रचनाओं में, औरों के मुकाबले सीधे–सीधे आत्मकथा ही लिखी है।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा में भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

अ.वा. : अव्वल तो 'पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज' एक पुस्तक के रूप में न तो कल्पित की गई थी, न ही उस रूप में लिखित। वह तो सीधे आत्मपरक रचनाओं का, एक तरह से अपने आप बन गया संचयन है। उसमें कथा कम ही होगी क्योंकि मैं कभी कथाकार नहीं रहा – आत्मवृत्त कितना है यह कहना कठिन है। पर उसमें आत्मवृत्त है, यह सही है।

स्वीटी : 'पावभर जीरे में ब्रह्मभोज' को आप अपनी कविताओं से किस रूप में अलग पाते हैं?

अ.वा. : गद्य जितना कविता से अलग होता है उतना तो स्पष्ट ही है। फिर उस पुस्तक का अधिकांश विभिन्न अवसरों पर आलोचनात्मक ढंग से लिखी गई सामग्री है। दूसरे, उसमें ऐसा बहुत कुछ है जो कविताओं में नहीं है, या नहीं आ पाया, या कि कविता में बेमेल होता। एक अर्थ में वह मेरी कविता और आलोचना का पूरक है।

स्वीटी : क्या कारण है कि पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्रियां उतनी जगह नहीं पाती जितनी कि स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पुरुष?

अ.वा. : कम से कम इन दिनों, सौभाग्य से स्त्रियां अपने लेखन में अधिक निर्भीक और बेबाक होती हैं। अपने वर्चस्व के बावजूद पुरुष या तो बड़बोले हैं या इस अर्थ में वाग्भीरू।

स्वीटी : स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा?

अ.वा. : प्रभा खेतान और मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथाएं।

स्वीटी : स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में प्रतिरोध की संस्कृति के रुप में देखना कहां तक उचित है? और क्यों?

अ.वा. : हमारी सामाजिक–राजनीतिक परिस्थिति को स्त्री का लिखना मात्र अपने आप में प्रतिरोध का एक संस्करण होता है क्योंकि वे सदियों से चुप रही हैं। साहित्य से लगभग बाहर।

स्वीटी : स्त्री के जीवन को आप किस प्रकार से देखते हैं? 'स्त्री–जीवन' से आपका क्या तात्पर्य है? समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं?

अ.वा. : किसी भी स्त्री का जीवन अपने सभी अर्थों में मानवीय और मूल्यवान जीवन है, उतना ही जितना किसी पुरुष का। उसके संघर्ष हमारे समाज में अधिक दुर्घट हैं। वे हमारे व्यापक सामाजिक संघर्ष का बहुत महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य हिस्सा भी होते हैं। स्त्री की सभी भूमिकाएं समाज निर्धारित नहीं करता, न कर सकता है। वह स्वयं अपनी भूमिका चुनती भी है।

स्वीटी : पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री : धर्म, परंपरा समाज और संस्कृति द्वारा निर्धारित स्त्री की छवि के विषय में आपके क्या विचार हैं?

अ.वा. : पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जो दुर्भाग्य से अब तक हमारे यहां लोकतांत्रिक व्यवस्था में परिणत नहीं हो पायी है, प्रायः सभी धर्म स्त्री विरोधी रहे हैं

और आज तक स्त्री–पुरुष समता को स्वीकार नहीं कर पाए हैं। परंपरा में स्त्री की जगह है और कई बार उसे हाशिये पर रखने का चतुर निर्लज्ज जतन भी। आधुनिक समाज कई बार स्त्री की समानता पर इसरार से विचलित होता दिखता है। सभी दल मिलकर संसद में अपने वेतन–भत्ते बढ़ाने के लिए एकमत हो जाते हैं लेकिन आज तक स्त्रियों के लिए संसद में उनके वास्तविक 50% के बरक्स कुल 33% सीटें आरक्षित करने पर सहमत नहीं हो पाए हैं। संस्कृति में एक ओर स्त्री–महिमा का गुणगान होता रहता है और दूसरी ओर उसके साथ अन्याय और अत्याचार को बढ़ावा भी। ये सब बातें स्त्री संघर्ष को अधिक जटिल और कई स्तरों पर कठिन बनाती हैं।

स्वीटी : स्त्री के विभिन्न रूपों – मां, पत्नी, प्रेमिका, पुत्री, बहिन, बहू... की समाज द्वारा निर्धारित भूमिकाएं क्या हैं? इन भूमिकाओं पर खरा उतरना एक स्त्री के लिए आवश्यक क्यों माना जाता है?

अ.वा. : ये भूमिकाएं है और उन पर खरा उतरना स्त्री के लिए आवश्यक तो है ही। वैसी ही भूमिकाओं में पुरुष से भी अपेक्षा होती है कि वह पिता, पति, पुत्र, भाई, दामाद आदि के रूप में खरा उतरे। अलबत्ता स्त्रियां अधिक दबाव महसूस करती हैं, पुरुष कम।

स्वीटी : विवाह और प्रेम के संबंध में आपके क्या विचार हैं? एक स्त्री के प्रेम और एक पुरुष के प्रेम को आप किस नजरिए से देखते हैं?

अ.वा. : यों तो दोनों ही सदियों से मानव जीवन में अनिवार्य रहे हैं। पर अब दोनों की अनिवार्यता प्रश्नांकित की जाने लगी है। प्रेम तो फिर भी जरूरी है, विवाह नहीं। स्त्री बिना विवाह के आत्मनिर्भर और स्वायत्त जीवन बिता सकती है। ऐसा कर सकने वालों की संख्या बढ़ गई है। अभी तक सामाजिक जहनियत ज्यादातर ऐसी बनी हुई हैं कि वह पुरुष के प्रेम और विवाहेतर संबंधों को सहन करती है, जबकि स्त्री के मामले में उन्हें असह्य पाती हैं। यह विषमता समता और न्याय के सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

स्वीटी : दलित साहित्य में समानांतर रुप से आलोचना भी विकसित होती रही है। स्त्री विमर्श में आलोचना का स्वतंत्र विकास उस तरह से क्यों नहीं हो सका?

अ.वा. : दोनों विमर्श अपने मूल में आलोचनात्मक हैं। ये वर्चस्व का प्रतिरोध करती विधाएं हैं। पर यह भी सही है कि दलित विमर्श हमारे यहां देर से

आया और मुख्यतः पुरुषों द्वारा ही चलाया बरता गया है। जबकि स्त्री विमर्श ज्यादातर स्त्रियों द्वारा। आलोचना में बहुत कम स्त्रियां सक्रिय रही हैं और इधर उनमें कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। कारण ठीक से नहीं बता सकता।

स्वीटी : उदारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में, जब बाजार और पूंजी से ऊपर कोई सत्ता नहीं है, साहित्य के संदर्भ में आप कौन–कौन सी चुनौतियां देखते हैं?

अ.वा. : साहित्य के सामने यों तो हमेशा ही चुनौतियां रहती हैं पर इस दौर में वे अधिक प्रबल, आक्रामक और आतंककारी हैं। पहली चुनौती है हर हाल में साहित्य बने रहने की और लेखकों तथा पाठकों में, साहित्य में भरोसा बनाए रहने की। दूसरी है सफलता के मोहक छलावों के बरक्स सार्थकता की खोज जारी रखने की। तीसरी है अपने प्रश्नांकन, असहमति, प्रतिरोध की परंपरा को सशक्त और सक्रिय रखने की। चौथी है भाषा के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझने की। एकात्मकता के विरुद्ध बहुलता और विविधता की भारतीय परंपरा पर इसरार और उसे चरितार्थ करते रहने की। पांचवी है बाज़ार सत्ता और उनके विस्तार, गठबंधन और मनुष्य–विरोधी आचरण पर नजर रखने, उजागर करने और प्रश्नांकित करने की।

स्वीटी : समकालीन विमर्शों, जैसे राष्ट्रवाद, देशभक्ति और धर्मनिरपेक्षता को समकालीन हिंदी कविता में कितना स्थान मिल पा रहा है?

अ.वा. : राष्ट्रवाद और देशभक्ति कोई वास्तविक विमर्श नहीं है और दूसरों को डराने–धमकाने–प्रताड़ित करने की बेशर्म हिकमते हैं। जो लोग इस राष्ट्र से असंतुष्ट है या उसकी किसी नीति से असहमत हैं या उनकी निंदा करते हैं उन्हें ऐसा करने का संवैधानिक हक है। लोकतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार की आलोचना और निंदा करना भी इसी हक में शामिल है। यह सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया है। ऐसा करने वाले इस कारण देशद्रोही नहीं हो जाते। धर्म निरपेक्षता अपने मूल धर्म में वांछनीय वृत्ति है और प्रायः सारा आधुनिक हिंदी साहित्य धर्मनिरपेक्ष रहा है। उसमें धर्मों से ऊपर उठकर देखने, समझने और सब धर्मों के प्रति समभाव रखने की वृत्तियां शामिल हैं।

स्वीटी : आपकी कविताओं में सभ्यता और संस्कृति की चिंताएं प्रमुखता से दर्ज हुई हैं? आज आप उन चिंताओं को किस शक्ल में पाते हैं?

अ.वा. : मुझे लगता है कि आज भारतीय सभ्यता और संस्कृति दोनों ही नई समाज नीति और आर्थिकी, बढ़ती धार्मिक हिंसा और सांप्रदायिक विद्वेष, जातिवाद तथा बाजारूपन के कारण संकट में हैं। कविता इस ह्रास के विरुद्ध प्रतिरोध हो सकती है। उम्मीद करता हूं कि जो है और वैसे पढ़ी समझी जायेगी।

स्वीटी : आज हमारे देश में लोकतंत्र का दायरा बहुत तेजी से सिमटता जा रहा है। राष्ट्रवाद और हिंदुत्व के आतंक में लोकतांत्रिक आवाजों का निर्मम दमन हो रहा है। एक चिंतक के तौर पर राजनीति में आप क्या विकल्प देखते हैं?

अ.वा. : लोकतांत्रिक ढंग से सत्ता में आई सरकार को आसानी से जनविरोधी नहीं करार दिया जा सकता। उनमें से हरेक कुछ न कुछ जनधर्मी में काम करने के लिए विवश भी होती हैं। पर जो सरकार हमारे समाज में दूसरों की मौजूदगी को असह्य बनाये, उन्हें तरह–तरह से धमकाये, डराये और असहमति का असम्मान करे, असहिष्णुता को बाकायदा बढ़ाये–पोसे, जो कि वर्तमान केंद्र सरकार दिनदहाड़े कर रही है उसे जरूर जन विरोधी ही नहीं भारत विरोधी भी कहा जाना चाहिए। विकल्प आसानी से नजर नहीं आता। वामपंथी अप्रासंगिक होते जाते हैं और अन्य शक्तियां सक्षम नहीं रह गई हैं। वैश्विक समाज लगातार भ्रष्ट और पतित हो रहा है। विकल्प की कल्पना और स्वप्न बनाये रखना जरूरी है पर, फिलहाल वह स्पष्ट नहीं है।

स्वीटी : सभी सरकारें महिलाओं के कल्याण की योजनाएं बनाती हैं, फिर भी महिलाओं की हालत में सुधार नहीं दिखता है? इसके पीछे क्या कारण हैं?

अ.वा. : महिला कल्याण की सभी योजनाएं विफल नहीं करार दी जा सकतीं। उनमें से कई सफल भी हुई हैं। लोकतंत्र में महिलाओं की स्थिति और अधिकारों में सुधार जरूर हुआ है। आखिर स्त्री विमर्श इसी लोकतंत्र में संभव हुआ है भले ही वह स्त्रियों का अपनी स्थिति और अधिकार पर इसरार करने का नतीजा है, किसी महिला कल्याण योजना का नहीं।

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना जाता है, किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

अ.वा. : शोषण मानवमात्र की अनिवार्यता नहीं है, स्त्री की भी कदापि नहीं। विवाह का कोई सर्वमान्य विकल्प नहीं उभरा है, यह सही है पर 'लिव इन' आदि की मान्यता बढ़ रही है। स्त्री का शोषण के विरुद्ध संकल्प भी बहुत दृश्य है।

स्वीटी : हिंदी साहित्य में स्त्री–विमर्श आपको किस मुकाम पर दिखाई देता है?

अ.वा. : मुझे लगता है कि वह सब अधिक समावेशी हो रहा है। स्त्री की अपनी कमजोरियां हैं और सीमाएं भी। उनका स्वीकार बढ़ रहा है और शायद आत्मकेंद्रित होना भी कम हो रही है। मुझे उसकी अपार संभावनाओं पर अभी भरोसा है।

स्वीटी : महिलाओं में भी ग्रामीण स्त्रियों और किसान मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष ज्यादा विकट है, जबकि हिंदी में स्त्री–लेखन में इन पर बहुत कम लिखा गया है। ऐसे में हिंदी के स्त्री–विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है?

अ.वा. : जीवन हमेशा साहित्य से अधिक विशाल, अधिक जटिल, अधिक विविध होता है। साहित्य किसी भी समय में पूरे जीवन को समेट–सहेज नहीं पाता। इसीलिए साहित्य हमेशा एक अपूर्ण, अधूरा, निर्माणाधीन प्रोजेक्ट कहा जा सकता है। स्त्री विमर्श, जैसा कि कोई भी दूसरे विमर्श, कभी पूरी तरह से प्रतिनिधि या पर्याय नहीं होते, न कहे जा सकते हैं।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखते हैं? कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

अ.वा. : कब तक...? भविष्यवक्ता न होने के कारण मैं कह नहीं सकता। संसार में कहीं भी ऐसे अधिकार पूरी तरह से हासिल नहीं हो पाए हैं। रास्ता लंबा है पर देर सबेर पूरा होगा।

स्वीटी : एक रचनाकार का बेहतर प्रतिरोध लिखना हो सकता है या सरकारी सम्मानों का बहिष्कार? आप इसे किस तरह देखते हैं?

अ.वा. : लिखना ही असली लेखकीय प्रतिरोध है। सम्मानों आदि का बहिष्कार अवांतर है। वह भी कभी–कभी जरूरी हो जाता है, नैतिकता और ध्यानाकर्षण के लिए।

स्वीटी : पुरुषों और स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में अनुभव, जीवनगत वर्णनों एवं संवेदना के स्तर पर प्रमुख समानताएं एवं असमानताएं क्या हैं?

अ.वा. : मुझे अपने सीमित अनुभव के अनुसार यह लगता है कि स्त्री की आत्मकथा अधिक दुस्साहसी और निर्भीक रही है पर पुरुषों की अत्यधिक आत्मग्रस्त। दलित आत्मकथाएं अलबत्ता इसका अपवाद हैं।

स्वीटी : दलित लेखकों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा?

अ.वा. : तुलसीराम और ओमप्रकाश वाल्मीकि की।

सूरजपाल चौहान

स्वीटी : 'आत्मकथा' से आपका क्या तात्पर्य है? आत्मकथा विधा की शुरुआत आप कब से मानते हैं?

सू.चौ. : भारत में साहित्य लेखन हमेशा से कविता में होता रहा है। यहाँ कथालेखन यूरोप से आया है। जब कथालेखन ही विदेशों से आया है तो आत्मकथा लेखन भी विदेशों से आया है। इस देश के लेखकों ने कथालेखन के वर्षों बाद आत्मकथा लेखन शुरू किया है। लेखन भी ऐसा है कि बस पूछो मत। आत्मकथा लेखन के नाम पर यहाँ के गैर–दलित लेखकों ने अपना गौरव–गान ही किया है।

देश की दलित आत्मकथाओं ने ही शर्म की परतें खोली हैं। आत्मकथा को सीधे शब्दों में 'कन्फेशन' कहा जा सकता है। आत्मकथा एक व्यक्ति की कथा न होकर पूरे समाज की कथा होती है।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि 'तिरस्कृत' एवं 'संतप्त' में कितना प्रतिशत आत्म है और कितना प्रतिशत कथा?

सू.चौ. : आत्मकथा भोगे हुए सच और जीवन के अनुभवों का दस्तावेजीकरण है। आत्मकथा दूसरी विधाओं से भिन्न है। चूंकि ये सत्य अनुभवों पर आधारित होते हैं, इसमें परिस्थितियां बनायी नहीं जाती बल्कि परिस्थितियों का दस्तावेजीकरण होता है, जिनमें स्वतः निष्कर्ष निकलते हैं। कहानी में कथाकार कथा विधा को गढ़ता है जबकि आत्मकथा में जीवन के सत्य को दर्ज किया जाता है। 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' में शत–प्रतिशत आत्म है।

स्वीटी : माना तो यही जाता है कि अपनी रचनाओं में रचनाकार हर बार स्वयं को ही लिखता है, फिर अलग से आत्मकथा की आवश्यकता क्या है। क्या आपकी अन्य रचनाओं में आपका जीवन नहीं है?

सू.चौ. : आपने यह ठीक बात कही है कि रचनाकार हर बार स्वयं को ही लिखता है। लेखक की बहुत सी कहानियों में उसका ही जीवन होता है, फिर भी ऐसी रचनाएँ आत्मकथा का रुप नहीं ले पाती, कारण वही आत्मकथा में परिस्थितियां बनायी नहीं जाती, बल्कि परिस्थितियों का दस्तावेजीकरण होता है। कहानी विधा भी परिस्थितियों से संचालित होती है लेकिन उनमें कल्पना और चाहना दोनों शामिल होते हैं।

स्वीटी : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

सू.चौ. : जी हाँ, मेरे जीवन के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग दो–दो आत्मकथाओं 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' के बावजूद भी लिखने से छूट गए हैं। या तो मैं लिखने की हिम्मत नहीं दिखा पाया या फिर कलम स्वतः ही रुक गई। जीवन में कभी–कभी ऐसा घट जाता है कि आप उसे कहना तो दूर कलमबद्ध भी नहीं कर सकते। यह मेरे अकेले की कमजोरी नहीं है, कई बड़े–बड़े लेखकों ने इस बात को स्वीकार किया है। कुछ वर्ष पहले सोचा था कि इन प्रसंगों को अपनी तीसरी आत्मकथा में पाठकों के सम्मुख रखूंगा, लेकिन अब निर्णय किया है कि इन प्रसंगों को कहानियों के रूप में ही रखना उचित रहेगा।

स्वीटी : दलित–विमर्श से आपका क्या तात्पर्य है? दलित–विमर्श की किन–किन पुस्तकों से आप प्रभावित हैं?

सू.चौ. : आप भी दूसरे गैर–दलितों की तरह दलित लेखन के स्थान पर 'दलित विमर्श' शब्द का प्रयोग कर रही हैं, जो दलित–साहित्य या दलित लेखन को गुमराह करने के लिए गढ़ा गया शब्द है। इस बात को मैंने कई बार स्पष्ट किया है कि दलित विमर्श नहीं हमें दलित लेखन की बातें करनी चाहिए। खैर, आपकी ही बात को मानते हुए मैं कहना चाहूंगा कि दलित–लेखन होगा तो दलित–विमर्श भी होगा। दलित साहित्य आंदोलन एक दरिया के समान है। यह सभी प्रकार के अवरोधों को पार करता हुआ अपनी मंजिल पर पहुंच रहा है। दलित साहित्य आज की जरूरत बन गया है। गैर–दलितों द्वारा लिखा साहित्य दलित साहित्य के सामने फीका और झूठा साबित हो चुका है।

दलित साहित्य के लेखन में मैं डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर के लेखन से प्रभावित रहा हूं। यदि बाबा साहेब साहित्य सृजन न करते तो मैं आज किसी बामन या ठाकुर के घर पर बेगारी कर रहा होता।

स्वीटी : क्या कारण है कि पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्रियाँ उतनी जगह नहीं पाती जितनी कि स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पुरुष?

सू.चौ. : यह सवाल कहीं से भी उचित नहीं जान पड़ता। इस सवाल का साहित्य से कोई संबंध नहीं है। आपने ऐसी किसी भी आत्मकथा का जिक्र नहीं किया जो पुरुष द्वारा लिखी गई हो और उसमें स्त्री का चित्रण न हो। ऐसे सवालों से बचकर रहना चाहिए।

स्वीटी : स्त्रियों द्वारा लिखी आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा कौन–सी है और क्यों?

सू.चौ. : अनेक दलित एवं गैर–दलित महिलाओं ने अपनी–अपनी आत्मकथाएं लिखी हैं। लेकिन जो मुझे सबसे अच्छी और प्रिय हैं उनमें आदरणीय मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', रमणिका गुप्ता द्वारा लिखित 'आपहुदरी' और चर्चित दलित लेखिका डॉ. सुशीला टाकभौरे जी की 'शिकंजे का दर्द' प्रमुख हैं। 'बोल्डनैस' के मामले में 'आपहुदरी' आत्मकथा के सामने किसी और महिला आत्मकथाकार की आत्मकथा कहीं नहीं ठहरती।

स्वीटी : एक स्त्री जीवन को आप किस प्रकार से देखते हैं? 'स्त्री–जीवन' से आपका क्या तात्पर्य है?

सू.चौ. : मैंने पहले भी कहा है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। दलित समाज में जो अधिकार पुरुषों को प्राप्त हैं वही अधिकार एक स्त्री को भी प्राप्त हैं। मैं गैर–दलित समाज की महिलाओं की बात नहीं कर रहा हूं जहाँ बेटी (महिलाओं) को न पिता के घर और न ही पति के घर बराबरी का सम्मान है। गैर–दलितों में स्त्री को शुरू से यही बताया और समझाया जाता है कि जिस घर में तेरी डोली जा रही है वहां अब तेरी अर्थी ही निकलेगी। यदि वह विधवा हो गई तो जीवन–भर उसे वहीं घुट–घुट कर जीना होगा और जीवन–भर उसका शोषण होता रहेगा। वहीं दूसरी ओर दलितों में यदि स्त्री विधवा हो जाती है तो उसके देवर या जेठ द्वारा चादर डालकर उसे अपना लिया जाता है अर्थात् उसे दोबारा से सम्मान प्राप्त हो जाता है। अतः दलितों में पुनर्विवाह का चलन है। दलित समाज में शुरू से ही स्त्री जीवन को बराबर का स्थान प्राप्त है जबकि गैर–दलित में ऐसा नहीं है।

स्वीटी : यह कहना कि एक स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैया समान रहता है फिर चाहे वह पुरुष सवर्ण हो या दलित? कहाँ तक न्याय संगत है?

सू.चौ. : इस सवाल का उत्तर मैं पहले के सवाल में दे चुका हूं। दलित और सवर्ण, इस देश में दो अलग–अलग संस्कृतियां हैं। आप जबरदस्ती दलितों को सवर्णों की संस्कृति में रखकर बार–बार यह सवाल क्यों पूछ रही हैं? सवर्णों में स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैया असमानता का रहा है, वहीं दलितों में स्त्री को बराबर का अधिकार पहले से ही मिला हुआ है। सवर्णों द्वारा बनायी गई मनु की व्यवस्था के डंडे से आप दलित पुरुषों को पीटने का प्रयास न करें।

स्वीटी : सभी सरकारें महिलाओं के कल्याण की योजनाएं बनाती हैं, फिर भी महिलाओं की हालत में सुधार नहीं दिखता है? इसके पीछे क्या कारण हैं?

सू.चौ. : इसके पीछे पुरुषवादी या कहें सवर्ण मानसिकता ही है। सवर्ण पुरुष कतई नहीं चाहता कि इस देश में महिलाओं और दलितों को बराबर का हक प्राप्त हो। जब तक इस देश में भेदभाव, ऊंच–नीच और छुआछूत रहेगा, इस देश में ऐसा ही चलता रहेगा।

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना जाता है, किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

सू.चौ. : आपने ठीक कहा कि इस देश में हिंदू विवाह प्रणाली ही स्त्री उत्पीड़न की मुख्य वजह है। आप जानती होंगी कि बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर जी का अथक प्रयास भी यहाँ की मनुवादी व्यवस्था ने सफल नहीं होने दिया। इस प्रकरण को लेकर आखिरकार उन्होंने विधि–मंत्री के पद से अपना त्यागपत्र दे दिया था। मैं फिर कह रहा हूं कि जब तक इस देश में मनुवादी व्यवस्था कायम रहेगी तब तक दलितों और महिलाओं का शोषण जारी रहेगा।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखते हैं? कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

सू.चौ. : देश में स्त्री का भविष्य अंधकार में है। जब तक इस देश में मनुवादी व्यवस्था कायम रहेगी तब तक स्त्री को उसके अधिकारों का मिलना असंभव ही है। कहने को तो इस देश में प्रजातंत्र है, लेकिन सही मायनों में यहाँ आज भी मनुवादी व्यवस्था अपना काम करती है।

मैत्रेयी पुष्पा

स्वीटी : आत्मकथा से आपका क्या तात्पर्य है?

मै.पु. : आत्मकथा जैसा इसका शीर्षक है, आत्म अर्थात् अपनी और कथा अर्थात कहानी। अपनी ही कहानी कहना एक प्रकार से आत्मकथा है। जैसे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'अपनी खबर' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। अगर इसका गूढ़ अर्थ लें तो आत्मालोचन ही आत्मकथा है। कथा में केवल अपने गुण का ही बखान नहीं होता बल्कि अपने अवगुणों का भी बखान होता है। आत्मकथा में केवल अपनी नेकियां ही नहीं होती, बदियां भी होती हैं। अपने को तौलकर कि हम हैं क्या और अपनी कमियों को उजागर करना आत्मकथा के लिए आवश्यक है। एक साधारण व्यक्ति की आत्मकथा भी बहुत ऊंची हो सकती है बशर्ते आपने उसमें पूरी ईमानदारी बरती हो।

स्वीटी : स्त्री–विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं?

मै.पु. : जब तक स्त्रियों की आत्मकथाएं नहीं आएंगी तब तक पता कैसे चलेगा कि स्त्रियों की क्या स्थिति है? और हम विमर्श किस बात का करेंगे? स्त्री अब तक अपने बारे में कुछ नहीं कहती रही है। उसके बारे में लोगों ने ही कहा इसलिए आज स्त्रियों की आत्मकथाएं बहुत आवश्यक हो गई हैं। लोगों ने स्त्री का दो प्रकार से वर्गीकरण किया। या तो वह सती–सावित्री है या फिर वेश्या। स्त्री ने प्रतिरोध क्यों नहीं किया? क्या पुरुष का कभी वर्गीकरण हुआ है? नहीं न। स्त्री–विमर्श को मजबूती देने के लिए आज स्त्रियों की आत्मकथाएं बहुत जरुरी हैं ताकि स्त्रियों की आवाज सामने आ सके। स्त्री क्या चाहती है, स्त्री अपने बारे में क्या अच्छा और क्या बुरा कह रही है, उसको पढ़ने से लगता है कि इस धरातल पर खड़ा होकर हम स्त्री–विमर्श कर सकते हैं, उसके पूरे परिदृश्य को देख सकते हैं।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा में भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा के दोनों खण्डों में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

मै.पु. : कथा एक लिखने का ढंग होता है। कथा को लोग ज्यादा रुचि से पढ़ते हैं। आत्मकथा में आत्मकथाकार स्वयं भी कथा का एक पात्र होता है। आत्मकथा मनुष्य की कथा होती है, कोई खबर नहीं। मैंने अपनी पहली

आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' को अवश्य आत्मकथात्मक उपन्यास कहा है क्योंकि उसमें वर्णित कुछ प्रसंग मेरे जन्म से पहले के थे जिन्हें मैंने सुना था, अपनी आंखों से देखा नहीं था। आत्मकथा को कथा की शैली में लिखने का कारण पाठकों की रुचि को बनाए रखना है। उपन्यास में हम कथा को गढ़ते हैं जबकि आत्मकथा में कथा को गढ़ते नहीं बल्कि इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं ताकि पढ़ने वाला उसे आत्मसात करता चला जाए।

स्वीटी : आपको आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

मै.पु. : मैंने आत्मकथा प्रेरित होकर नहीं लिखी है। एक मौका बनता चला गया। पत्रिका के लिए कई खण्डों में अपने अनुभव लिखती गई। पाठकों की जिज्ञासा और माँग के कारण उन खण्डों को मैं आगे भी लिखती गई। पाठकों की रुचि के कारण मेरी गोपनीय बातें धीरे–धीरे सार्वजनिक होती चली गईं।

स्वीटी : स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा और क्यों?

मै.पु. : इस्मत चुगताई की 'कागजी है पैरहन' मेरी प्रिय आत्मकथा है जिसे मैंने हिंदी में पढ़ा है। मुझे हिंदी में अभी तक कोई मुकम्मल आत्मकथा नहीं दिखाई दी है। मैत्रेयी देवी की 'न हन्यते' मुझे बहुत प्रेरणा देती है। अपने प्रेम को इतने साहस के साथ किसने लिखा है? किसी ने नहीं। इस्मत चुगताई ने जिस बेबाकी के साथ लिखा है, हिंदी में ऐसा किसी लेखक या लेखिका ने नहीं लिखा है। हिंदी में अगर किसी ने बेबाकी से लिखने की कोशिश भी की तो ऐसी बेबाकी जिससे पाठक को वितृष्णा पैदा हो जाए। आत्मकथा लिखना न तो मनोरंजन करना है और न ही पाठक के अंदर वितृष्णा, जुगुप्सा पैदा करना। अपने जीवन को सामने रखना आत्मकथा लिखने का उद्देश्य होना चाहिए।

स्वीटी : आपके संघर्ष का मुख्य केंद्रबिंदु क्या है?

मै.पु. : स्त्री के जीवन में संघर्ष के अनेंक बिंदु आते हैं। अगर वह आगे आने की जिद कर ले तो उसका जीवन ही संघर्ष है। अपनी राह बनाना बहुत कठिन है। मेरे मामले में शायद ऐसा ही हुआ। पढ़ाई के साधन नहीं थे फिर भी पढ़ाई की। शादी के बाद पति की बातों को भी मैंने स्वीकार नहीं किया, अपनी असहमति को भी दर्ज किया। संघर्ष के ये बिंदु छोटे नहीं थे। इनसे परिवार भी टूट सकता था। संघर्ष की राह पर चलना और

अपनी मंजिल पा लेना स्त्री के लिए बहुत कठिन है। समाज उसे धर्म और कर्म की दलीलें देता है। मनुष्य की तरह यदि स्त्री को कुछ करना है तो उसे समाज द्वारा निर्धारित दायरे तोड़ने क्या, बदलने पड़ेंगे।

स्वीटी : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं?

मै.पु. : ऐसा सोचा नहीं था कि मेरा संघर्ष सार्थक हो जाएगा। वाकई आज जब पलटकर देखती हूँ तो लगता है कि मेरा जीवन एक संघर्ष था। आज की लेखिकाओं के सुविधाभोगी जीवन को देखते हुए लगता है कि कितना कठिन था वह जीवन। रुकावटों से भरपूर जीवन में साहस के कारण ही मैं आगे बढ़ती गई। साहस के साथ सहनशक्ति भी थी जिससे अपनी जमीन पर रहकर मैंने संघर्ष किया। तोड़ना बहुत आसान होता है लेकिन साहस के साथ मुकाबला करना बहुत कठिन। मैथिलीशरण गुप्त की पंक्ति है, 'जितने कष्ट संकटों में है जिनका जीवन सुमन खिला। गौरव ग्रंथों में उतना ही यत्र–तत्र सर्वत्र मिला।' ऐसा नहीं है कि हमारे संघर्ष व्यर्थ चले जाते हैं, उनका भी समय आता है। उन वृक्षों पर भी फल लगते हैं जो बीहड़ में खड़े रहते हैं। मेरा जीवन भी कुछ ऐसे ही संघर्षों से भरपूर रहा। शायद इसीलिए आज मैं अपने संघर्ष को सार्थक मानती हूँ।

स्वीटी : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

मै.पु. : कुछ प्रसंग अभी हाल में ही आयी मेरी पुस्तक 'वह सफर था कि मुकाम था' (मेरी नजर में राजेंद्र यादव) में आ गए हैं। जो–जो घटित होता है, मैं उसे लिखती जाती हूँ। इसीलिए संभव है कि मेरी आत्मकथा का तीसरा भाग भी आए। अभी मैंने 'खिल्ली' गाँव के ऊपर अपने जीवन से संबंधित कुछ संस्मरण भी लिखे हैं। उस गाँव की भाभियों के प्रेम और स्नेह को मैं कहाँ रखूं और कहाँ उठाऊँ? इस प्रेम को जिस–जिसने पढ़ा, वह रोया। वह प्रेम ही हमें धनवान बनाता है। करोड़ों रुपए और हीरे–मोती व्यक्ति को धनवान नहीं बना सकते। गुड़िया भीतर गुड़िया लिखने के बाद अनेक प्रसंग जीवन में आए जिन्हें मैं दर्ज करती जाती हूँ। 'खिल्ली' गाँव जो उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में है। वहाँ जाते समय फोरलाइन बन जाने के कारण बीच में आने वाले कस्बों से कटाव और उन कस्बों में रहने वाले मित्रों से रास्ते में न मिल पाने की दुविधा के कारण मैं बेचैन हो उठी।

इसी प्रसंग को मैंने 'फोरलाइन रोड, गाँव और भौजाइयां' शीर्षक से संस्मरण लिखा। और भी प्रसंग हैं जिन्हें मैं आगे लिखूंगी।

स्वीटी : 'स्त्री–जीवन' से आपका क्या तात्पर्य है? समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं क्या है।

मै.पु. : 'स्त्री–जीवन' से मेरा तात्पर्य मनुष्य–जीवन से है। मनुष्य के ही दो रूप हैं – एक पुरुष और दूसरा स्त्री। लेकिन समाज ने जो भूमिकाएं निर्धारित की हैं वह स्त्री के पक्ष में ज्यादा नहीं आतीं। समाज ने स्त्री के लिए कई बंदिशें निर्धारित की हैं। जब तक स्त्री अपनी बेड़ियां नहीं तोड़ेगी तब तक उसकी स्थिति में सुधार नहीं होगा। अभी भी हमारा समाज नहीं बदला है। पुरुषों की ऐसी मानसिकता को देखते हुए, जो आज भी सती प्रथा और जौहर को सही मानती हैं, स्त्री जीवन के विषय में क्या कहा जा सकता है? स्त्री अपने कारागार को जब तक स्वयं नहीं तोड़ेगी उसकी स्थिति में सुधार नहीं होगा।

स्वीटी : धर्म, परंपरा और संस्कृति द्वारा निर्धारित स्त्री की छवि क्या है?

मै.पु. : स्त्री धर्म क्या है? पतिव्रता होना और जो पितृसत्ता कहे, उसे सिर झुकाकर मानना। समाज ने स्त्री के लिए अलग धर्म निर्धारित किया है। पुरुष वाला धर्म स्त्री के लिए नहीं है। संस्कृति भी उन्ही संस्कारों की अनुमति देती है जो परंपरा से चले आ रहे हैं। संस्कृति, धर्म, परंपरा को आज बदलने की जरूरत है। मैं यह नहीं कहती कि तोड़ दो बल्कि मेरा मानना है कि आज स्त्री की स्थिति में सुधार के लिए इनमें बदलाव की आवश्यकता है। यह बदलाव अचानक नहीं धीरे–धीरे होगा।

स्वीटी : एक स्त्री के कई रुप होते हैं – माँ, बहिन, पत्नी, प्रेमिका, बेटी और बहू आदि। इन रूपों में आपको स्त्री का कौन सा रूप अच्छा लगता है? और क्यों?

मै.पु. : मुझे 'मित्र' रूप सबसे अच्छा लगता है। स्त्री किसी की मित्र हो, समाज यह नहीं मानता। स्त्री को रिश्तों की रस्सियों में बांधकर देखा जाता है कि वह उन रिश्तों पर खरी उतर रही है या नहीं। जबकि देखना यह चाहिए कि वह सबकी मित्र है या नहीं, आप उसके मित्र हैं या नहीं। सबसे अच्छा रिश्ता है स्त्री के साथ मित्र का और उसी रुप में वह मुझे सबसे अच्छी लगती है।

स्वीटी : स्त्री आत्मकथा को एक स्त्री का मुक्तिधर्मी आख्यान कहना कहाँ तक संगत है?

मै.पु. : स्त्री में इतनी ताकत आ गई है कि अब वह अपने जीवन को खोलने लगी है। अपने जीवन के साथ औरों का जीवन व्यवहार भी खुलता है। स्त्री आत्मकथाएं मुक्ति के लिए ही लिखी गई हैं। पहले स्त्री अपने नाम से नहीं लिख सकती थी। यह स्त्री का साहस है कि वह आज अपने बारे में लिख रही है।

स्वीटी : पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा? और क्यों?

मै.पु. : पुरुषों द्वारा लिखी आत्मकथाओं में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' मेरी प्रिय आत्मकथा है। 'अपनी खबर' में उग्र ने बड़ी ईमानदारी से अपने जीवन का ब्यौरा दिया है। कुछ आत्मकथाओं को पढ़ने से लगता है कि आत्मकथाकार ने आत्मकथा लिखते समय यह तय कर लिया था कि उसे किन प्रसंगों को लिखना है और किन प्रसंगों को छोड़ना है। इसीलिए ऐसी आत्मकथाएं मुझे ईमानदार नहीं लगतीं।

स्वीटी : क्या कारण है कि पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में स्त्रियाँ उतनी जगह नही पातीं जितनी कि स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में पुरुष?

मै.पु. : यह तो परंपरा से चला आ रहा है कि स्त्री का सारा जीवन पुरुष को देख–देख कर चलता है। पुरुषों की यह सोच रही है कि वह स्त्री को लिफ्ट ही नहीं देता। पुरुष स्वयं को हमेशा आगे रखता है और स्त्री हमेशा पुरुष को आगे रखती है। स्त्री जब तक पुरुष की बात नहीं करेगी उसे चैन नहीं पड़ेगा। वह सोचती है कि पुरुष से ही उसकी जिंदगी है। यहां भी कहीं–न–कहीं दासता चल रही है। इसीलिए आत्मकथाओं में भी यही हुआ है।

स्वीटी : स्त्री–विमर्श की किन–किन पुस्तकों से आप प्रभावित हैं?

मै.पु. : वर्जीनिया वुल्फ की 'अपना कमरा' से मैं बहुत प्रभावित हूँ। सीमोन द बोउवा की 'स्त्री उपेक्षिताः द सेकेंड सेक्स' पढ़कर हम अजीब दुविधा में चले जाते हैं और अन्याय के विरोध में रास्ता नहीं पाने की दुविधा में भटकने लगते हैं। 'स्त्री उपेक्षिता' को भारतीय परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं देखा जा सकता। इसीलिए 'स्त्री उपेक्षिता' मुझे इतनी प्रभावित नहीं कर सकी। मैं स्त्री–विमर्श को भारतीय परिप्रेक्ष्य में रखकर देखती हूँ। सीमोन द बोउवार के माहौल को हम यहां फिट नहीं कर सकते हैं।

स्वीटी : हिंदी साहित्य में आज स्त्री–विमर्श आपको किस मुकाम पर दिखाई देता है?

मै.पु. : स्त्री–विमर्श की शुरुआत तो अच्छी हुई थी लेकिन आज वह लड़खड़ा गया है। आज जो लेखिकाएं हैं वो केवल सेक्स के दायरे तक सीमित रह गई हैं। सेक्स के दायरे में रहकर स्त्री–विमर्श एक कोने में सिकुड़ गया है। राजनीतिक, सांस्कृतिक दायरों की ओर किसी का कोई ध्यान नहीं है। सेक्स के नाम पर लेखन एक प्रकार से विमर्श को बदनाम करने जैसा है। रचनात्मकता बिल्कुल गायब है। आज जरूरत है कि हम स्त्री के राजनैतिक हस्तक्षेप और सांस्कृतिक योगदान को भी दर्ज करें। देहमुक्ति स्त्रीमुक्ति नहीं है। स्त्री–विमर्श की मूल भावना को आज समझने की जरूरत है।

स्वीटी : एक सवर्ण स्त्री और एक दलित स्त्री के जीवन संघर्ष को आप किस प्रकार देखती हैं?

मै.पु. : सवर्ण स्त्री तो सुरक्षित रहती है जबकि दलित स्त्री को काम के लिए जगह–जगह जाना पड़ता है। उसे लोग 'नीच' समझते हैं। सवर्ण लोग उसे अपने उपयोग की वस्तु समझते हैं। जाति के कारण भी और दूसरा स्त्री होने के कारण उसे प्रताड़ित किया जाता है। अपने स्तर पर यदि वह उस अन्याय का प्रतिरोध करे तभी उसका जीवन अत्याचार से मुक्ति पाने की दिशा में सफल हो सकता है। प्रतिरोध तो स्त्री को करना ही पड़ेगा। क्योंकि शोषण तो सवर्ण और दलित दोनों स्त्रियों का होता है। फर्क यही है कि सवर्ण स्त्री आन–बान के कारण अपनी प्रताड़ना के बारे में नहीं कहती और दलित स्त्री मुंह खोलकर चिल्ला देती है।

स्वीटी : दलित साहित्य में समानांतर रुप से आलोचना भी विकसित होती रही है। स्त्री–विमर्श में आलोचना का स्वतंत्र विकास उस तरह से क्यों नहीं हो सका?

मै.पु. : स्त्री विमर्श जब अपने दायरे में सिकुड़ने लगा तो उसकी आलोचना क्या कोई करेगा? स्त्री–विमर्श सिर्फ सेक्स और शरीर के दायरे में सिमटकर रह गया है। इसलिए यही आलोचना है कि यह इस दायरे में आखिर क्यों कैद हो गया?

स्वीटी : अस्मितावादी विमर्श में आत्मकथा लेखन का दौर अब लगता है थम सा गया है। अब इसके आगे क्या लिखा जाना है।

मै.पु. : दौऱ तो नहीं थमना चाहिए क्योंकि जितनी तरह की स्त्रियाँ लिखेंगी उतने अनुभव सामने आएंगे। हर पुरुष और स्त्री का अपना एक निजी जीवन होता है। स्त्रियों में सच कहने की हिम्मत न होने के कारण आत्मकथा लेखन कम मात्रा में हुआ है। कहने और करने में भेद के कारण ईमानदारी से लिखना आज बहुत कठिन है। अपने समय को दर्ज करते हुए किसी भी विधा में रचनात्मक रुप से लिखना आज जरूरी है। सबसे पहली शर्त है कि आपका लेखन पाठक को पढ़ने के लिए विवश कर दे।

स्वीटी : उदारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में, जब बाजार और पूंजी से ऊपर कोई सत्ता नहीं है, स्त्री–विमर्श के संदर्भ में आप कौन–कौन सी चुनौतियां देखती हैं?

मै.पु. : स्त्री–विमर्श के संदर्भ में बाजार तो पूरी चुनौती है। आजकल स्त्रियाँ जो कुछ लिख रही हैं, उसके पीछे उनकी सोच यही होती है कि उनका लेखन बाजार में कैसे उतरे। ऐसा चटपटा लिखें कि बाजार में चर्चा का विषय बन जाए। बाजारू साहित्य लिखना उनका उद्देश्य हो गया है। प्रसिद्धि और चर्चा की लालसा में उनका लेखन एक दायरे में सिमट कर रह गया है। यह प्रसिद्धि कोई फ्रेम नहीं चटकारे वाली चर्चा भर है। स्त्री–विमर्श आज संकुचित हो गया है। अब बीहड़ों में भी घूमकर कोई नहीं लिख रहा है। फूलनदेवी की कथा कोई क्यों नहीं लिख रहा? होड़ देने की टक्कर में आज का स्त्री–विमर्श अपने रास्ते से भटक गया है।

स्वीटी : आज हमारे देश में लोकतंत्र का दायरा बहुत तेजी से सिमटता जा रहा है। राष्ट्रवाद और हिंदुत्व के आतंक में लोकतांत्रिक आवाजों का निर्मम दमन हो रहा है। स्त्री लेखन में इसका कितना प्रतिरोध दर्ज हो रहा है?

मै.पु. : अब दर्ज होना चाहिए और दर्ज होगा भी। धर्म और जाति को लेकर कितना क्रूर और कट्टर समय आने वाला है, इसे अब प्रमुखता से दर्ज किया जाना चाहिए। जो साहस करेगा वही इन समस्याओं पर लिखेगा। अभी हाल में मैंने फेसबुक पर जौहर के विषय में कुछ पंक्तियां लिखीं तो राजपूत और ठाकुर लोगों ने मुझे इतनी गालियां दी कि जिसे बयां नहीं किया जा सकता। मैंने गलत क्या लिखा था? यही न कि 'जलकर मरने से अच्छा था लड़कर मरना'।

स्वीटी : सभी सरकारें महिलाओं के कल्याण की योजनाएं बनाती हैं, फिर भी महिलाओं की हालत में सुधार नहीं दिखता है? इसके पीछे क्या कारण है?

मै.पु. : सरकारें योजनाएं तो बनाती है लेकिन वास्तविक रुप में ये योजनाएं लागू कितनी हो पाती हैं? परिवार भी महिलाओं का कल्याण होने कहाँ देते हैं? सारी योजनाओं का लाभ तो पुरुष ही ले लेते हैं। अभी प्रधान, जिलाध्यक्ष बनी हैं स्त्रियाँ लेकिन पुरुष उनको काम कहाँ करने देते हैं? कामकाज की डोर तो पुरुषों के हाथ में ही है। स्त्रियों की आवाज सामने कहाँ आ पा रही है? कई बार पुरुषों के बहकावे में आकर स्त्रियाँ वही बोलती हैं जो पुरुष उनसे कहलवाना चाहते हैं?

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना जाता है, किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

मै.पु. : विवाह के नाम पर शोषण तो है और कोई विकल्प भी नहीं है। विकल्प होगा भी तो अभी बहुत समय लगेगा। स्त्री को विवाह के नाम पर होने वाले शोषण से बचने के उपायों को स्वयं तलाशना होगा। यह नहीं कि ऐसी नौबत आए कि टूट–फूट हो जाए। एक बीच का भी रास्ता है जहाँ विवाह होता है किंतु तलाक नहीं। यह स्त्री की रणनीति पर निर्भर है। स्त्री ऐसी नौबत क्यों लाती है कि पुरुष उस पर हाथ उठा दे? चिल्लाने से कुछ नहीं होगा, कहने की जगह शांतिपूर्वक करने से हल सामने आएगा। ठहर ठहरकर चलना होगा, दौड़कर तो हम थक जाएंगे।

स्वीटी : स्त्री–विमर्श के तहत आमतौर पर पत्नी या प्रेमिका का पक्ष ही ज्यादा आता है, किंतु उसी की तुलना में पति की माँ–बहनों (सास–ननद) का पक्ष या तो कम आता है या नकारात्मक भूमिका में आता है। ऐसा क्यों है? क्या वे महिलाएं पुरुष पक्ष से संबंधित हैं इसलिए उत्पीड़क मान ली जाती गई हैं या वे स्त्री–विमर्श के दायरे से बाहर हैं?

मै.पु. : वे महिलाए वास्तविकता में स्त्री का पक्ष लेती ही नहीं हैं। वे पितृसत्ता की गुलामी को पूरी तरह निभाती हैं और पुरुष का ही पक्ष लेती हैं। इसके पीछे 'सुरक्षा' की भावना निहित होती है। लड़के की माँ को अपने बेटे में वृद्धावस्था का सहारा नजर आता है और वह बहू को प्रताड़ित करती हैं। लड़के की बहिन को शादी के बाद भाई का आश्रय एक बड़ा साधन लगता है इसलिए वह भाभी में ही गलतियां ढूंढती है। बहू और भाभी का पक्ष लेने वाले उदाहरण लगभग न के बराबर हैं।

स्वीटी : महिलाओं में भी ग्रामीण स्त्रियों और किसान–मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष ज्यादा विकट है जबकि हिंदी के स्त्री–लेखन में इन पर बहुत कम लिखा गया है। ऐसे में हिंदी के स्त्री–विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है?

मै.पु. : बिलकुल नहीं माना जा सकता है। ग्रामीण स्त्रियों पर आज की लेखिकाओं का अनुभव ही नहीं है। जब तक गाँव से लेखन नहीं आएगा तब तक यह संभव भी नहीं होगा। इसके लिए गहराई में जाने की जरूरत है। ग्रामीण स्त्रियों के अनुभव जानने के लिए उनके बीच ही रहना होगा। एक ग्रामीण स्त्री बनकर ही उन ग्रामीण महिलाओं के दुख–दर्द को समझा जा सकता है। आज की लेखिकाएं उनकी वेशभूषा उनके व्यवहार को केवल बाहरी स्तर पर दर्ज कर पाती हैं, क्योंकि उन ग्रामीण महिलाओं के बीच रहकर उनके आचार–व्यवहार को समझे बिना एक ग्रामीण स्त्री का अंकन संभव ही नहीं। ऐसा लेखन कब तक आएगा? इसके बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती हैं। कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

मै.पु. : स्त्री का भविष्य तो मैं अच्छा देख रही हूँ। इतने दिनों की गुलामी है, धीरे–धीरे ही स्त्री आगे बढ़ेगी। बढ़ते हुए कहीं–कहीं डगमगाती भी है लेकिन आगे बढ़ने की चाह काबिले तारीफ है। स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे, इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

स्वीटी : और अंत में, आप अपनी आत्मकथा के दोनों भाग 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' के माध्यम से इस देश की स्त्रियों को क्या संदेश देना चाहती हैं?

मै.पु. : वैवाहिक शोषण से मुक्ति कैसे मिल सकती है? इसे मैंने 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में दर्ज किया है। सेक्स ही स्त्री की एकमात्र स्वतंत्रता नहीं है और हमारा साहित्य सूचना भर नहीं है। शोषण के कारण होने वाली नाकेबंदी से मुक्ति का संदेश मैंने आत्मकथा के माध्यम से दिया है। लेखन की दिशा में भी मैंने जीवन में कई बाधाओं को पार किया है। परिवार की टूट–फूट के बिना आगे बढ़ने का तरीका स्त्रियों को एक संदेश देता है। जब स्त्री किसी पुरुष से मिलती है तो आपका उद्देश्य क्या है? क्या सेक्स उसका उद्देश्य है और फिर सेक्स संबंध के लिए पुरुष को दोषी बना देना

कहाँ तक न्यायसंगत है। जब तक स्त्री स्वयं छूट नहीं देती है तब तक पुरुष उसके साथ कैसे संबंध बना सकता है? पुरुष स्त्री की सहमति के बिना बलात्कार तो कर सकता है लेकिन संबंध नहीं बना सकता। राजेंद्र यादव को स्त्रियों ने अपने स्वार्थहित के लिए बदनाम किया। स्त्री का व्यवहार क्या हो? इसे मैंने 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में दिखाया है। पुरुष स्त्री से सेक्स की इच्छा तो जता सकता है लेकिन जबरन संबंध नहीं बना सकता। मेरे प्रति भी कुछ पुरुषों ने यह इच्छा जतायी लेकिन मैंने अपने व्यवहार से उसके साथ कैसे ट्रीट किया, यह महत्त्वपूर्ण है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैंने इसे दिखाया भी है। मैं चाहती तभी कुछ हो सकता था लेकिन मैंने नहीं चाहा तो कुछ नहीं हुआ। यह स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है। किसी को दोष देना सही नहीं है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैंने इन बातों को दृश्यों के माध्यम से समझाया है।

मन्नू भंडारी

(मन्नू भंडारी ने साक्षात्कारों के क्रम में अनेक प्रश्नों के जवाब में अपनी पुस्तक 'मेरे साक्षात्कार' का जिक्र किया और वहीं से उत्तर उठा लेने की सलाह भी दी। इसीलिए आप देखेंगे कि इस साक्षात्कार में कुछ प्रश्नों का जवाब मन्नू भंडारी ने दिया है और अनेक प्रश्नों के जवाब उनकी पुस्तक 'मेरे साक्षात्कार' से लिए गए हैं। इंटरव्यू की प्रति उन्हें दिखाकर अपेक्षित सुधार कर लिया गया है।)

स्वीटी : आत्मकथा से आपका क्या तात्पर्य है?

म.भं : आत्मकथा अर्थात् पूरे जीवन की कथा किन्तु सम्पूर्ण जीवन की कथा संभव नहीं है इसलिए जीवन के कुछ हिस्से को लिया जाता है। यह लेखक पर निर्भर करता है कि वह जीवन के किन प्रसंगों को उठाए और किन प्रसंगों को छोड़े।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा में भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा में कितना प्रतिशत आत्म है और कितना प्रतिशत कथा?

म.भं : आत्मकथाकार जीवन के सम्पूर्ण प्रसंगों का वर्णन आत्मकथा में नहीं कर सकता। जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंगों को आत्मकथाकार पाठक के सामने रखता है। आत्मकथा लेखन के लिए बेहद जरूरी है कि लेखक ईमानदारी से अपने जीवन को सामने रखे। 'एक कहानी यह भी' में आत्म भी मेरा है और कथा भी मेरी। आत्मकथा में आत्म के साथ कथा स्वतः ही आ जाती है। आत्मकथाकार के लिए आवश्यक है कि जीवन की घटनाओं को बिना किसी कल्पना के ज्यों का त्यों रख दे। सच्चाई तो यह है कि 'एक कहानी यह भी' को मैंने आत्मकथा के रूप में लिखा ही नहीं था। मैं अपने लेखन की कहानी को सामने रखना चाहती थी लेकिन अंतिम प्रसंग के कारण इसे आत्मकथा समझ लिया जाता है।

इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा भी है "आत्मकथा को पाठक लेखक के आत्म को, उसके निजी प्रसंगों को जानने के लिए ही पढ़ता है और उसमें उसकी भरपूर रुचि भी रहती है। इसे मैंने आत्मकथ्य के रूप में लिखना शुरु ही नहीं किया था, जैसा कि मैंने अपनी भूमिका में ही स्पष्ट किया है। यह रचना मेरी लेखकीय यात्रा पर केंद्रित है। पर अब लेखक है तो उसका परिवेश भी होगा और कुछ व्यक्तिगत संपर्क, सम्बन्ध भी,

जिनका वर्णन तो आएगा ही। पर मैं नहीं चाहती थी कि व्यक्तिगत प्रसंग कुछ ज्यादा आएं। पर जब राजेंद्र की आत्मकथा 'मुड़–मुड़के देखता हूं' तद्भव के तीन अंकों में छपी और उसकी अंतिम किश्त अखिलेश ने छपने से पहले मुझे पढ़ने को दी तो पढ़कर मुझे लगा कि बात एकतरफा हो रही है और मेरे लिखे बिना पूरा सच सामने नहीं आएगा, तो मैंने अखिलेश से कहा कि इसका उत्तर मैं लिखना चाहती हूं पर शर्त इतनी ही है कि आप इसे राजेंद्र की आत्मकथा के साथ ही छापेंगे। अखिलेश खुशी–खुशी राजी हो गए और मेरा उत्तर भी उसी अंक में छपा। वही हिस्सा मैंने अपनी पुस्तक 'एक कहानी यह भी' के अंत में पूरक प्रश्न के रूप में दे दिया। यह शुद्ध आत्मकथात्मक है और इसीलिए यह पुस्तक एक तरह से मेरी लेखकीय यात्रा की कथा और आत्मकथा का घालमेल हो गई।"[1]

स्वीटी : आज स्त्री–विमर्श आपको किस मुकाम पर दिखाई देता है?

म.भं : मन्नू भंडारी ने इसे उनके लेखन में देखने की बात की। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "भारत में स्त्री विमर्श जैसा कोई आंदोलन नहीं है। यहाँ समाज के स्वाभाविक विकास के साथ स्त्रियों की हालत सुधरी है। स्त्री की योनि शुचिता की बात अब कहां होती है। स्त्री के चारों ओर जो संकीर्ण दायरे थे – बंधन थे जिससे उनका शोषण होता था – उनसे मुक्ति महत्वपूर्ण थी। हुई भी और यह प्रक्रिया सतत जारी है। स्त्री मात्र देह नहीं है, उसके मुकम्मल व्यक्तित्व के बारे में सोचिए। वह बुद्धि, मन, भावना, प्रतिभा और सेक्स भी है।"[2]

स्वीटी : क्या कारण रहा कि 'एक कहानी यह भी' में आप मीता को लेकर मौन रहीं? स्थितियां और स्पष्ट होतीं यदि आप मीता के बारे में भी लिखतीं?

म.भं : मन्नू जी का फिर वही जवाब। उन्होंने लिखा है, "ऐसा नहीं है कि मैंने मीता को लेकर कुछ लिखा ही नहीं। 'स्त्री सुबोधिनी' और 'एक बार और' दो कहानियां मीता को केंद्र में रखकर ही लिखी गई हैं जिसमें पुरुष द्वारा छले जाने के दुख को पूरी संवेदना के साथ उजागर किया है। जहाँ तक आत्मकथा में उस पर लिखने का प्रश्न है यह संभव ही नहीं था क्योंकि मैं उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में इतना कुछ जानती ही नहीं कि प्रामाणिकता के साथ कुछ लिख सकूं और काल्पनिक बातें लिखने का तो यहां प्रश्न ही नहीं उठता। वैसे भी मेरे मन में उसे लेकर इतना आक्रोश कभी रहा भी नहीं... मेरा सारा आक्रोश – आरोप तो राजेंद्र को लेकर ही था। मीता को लेकर अगर कोई शिकायत थी तो इतनी ही कि उसने जब

राजेंद्र से पूरी तरह सम्बन्ध तोड़ लिया था और काफी समय तक ये लोग बिल्कुल संवादहीनता की स्थिति में भी रहे तो फिर यह सुनते ही कि राजेंद्र–मन्नू विवाह कर रहे हैं वह क्यों पूरे जोश–खरोश के साथ राजेंद्र से सम्बन्ध जोड़ने में लग गई और राजेंद्र से आश्वासन पाकर ही निश्चिंत हुई। पर होनी कुछ और ही थी। इस पूरे प्रसंग से अनभिज्ञ मैं... विवाह मुझसे हो गया। इसके बावजूद वह बराबर कोशिश करती रही... शारीरिक रूप से भी अपने को समर्पित किया... इस उम्मीद में कि राजेंद्र मुझसे सम्बन्ध तोड़कर उससे विवाह कर लेंगे। मैं उसकी जगह होती तो एक बार सम्बन्ध टूटने के बाद फिर उधर झांकती भी नहीं... और उस स्थिति में तो बिल्कुल भी नहीं यदि राजेंद्र ने उससे विवाह कर लिया होता। मैं उन स्त्रियों की मानसिकता को न समझ पाती हूं, न सहानुभूति दे पाती हूं जो बने–बनाए घर–सम्बन्ध तोड़ कर खुद उसमें घुसती हैं। पुरुष तो यह चाहता ही है कि एक पत्नी भी रहे और एक प्रेमिका भी और वे दोनों से अपना स्वार्थ साधते रहें पर स्त्री... उसे तो दूसरी स्त्री का दुख–दर्द समझना चाहिए। मीता अपनी सारी कोशिशों के बावजूद अपना मनचाहा तो पा न सकी। मिली तो एक खाली खोखली जिंदगी।

अब राजेंद्र के मन में उसके लिए यदि सच्चा प्यार था तो मेरे अलग होने के बाद तो उसे साथ लाकर रख सकते थे। उसके भाई भी यह आग्रह लेकर आए थे पर राजेंद्र कुछ सोच समझकर टाल गए। इसलिए मीता मेरे लिए आक्रोश का पात्र नहीं सहानुभूति का पात्र ही रहीं। इस सहानुभूति के चलते ही मैं दो कहानियां भी लिख पाई।"[3]

स्वीटी : आज के समय में हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श एक आंदोलन के तौर पर उभर कर आया है। आप अपने को स्त्री विमर्श से कितना सम्बद्ध पाती हैं?

म.भं : मन्नू भंडारी ने लिखा है, "स्त्रियों की दयनीय स्थिति... उनके संघर्ष के प्रति मैं भी हमेशा सजग रही हूं। मैंने उस पर कुछ लिखा नहीं, ऐसी बात भी नहीं है... हां स्त्री विमर्श का झंडा लेकर नहीं चली... उसकी जरूरत ही महसूस नहीं हुई। स्त्री विमर्श का शोर मचाए बिना भी इस पर पहले बहुत कुछ लिखा गया है... केवल लिखा ही नहीं गया उसे जीवन में भी ढ़ाला गया है। सबसे ज्वलंत उदाहरण तो है मीरा का। राजस्थान के राजघराने की बहू होकर भी साधु–संतों के साथ गाते–नाचते जीवन जीने की हिम्मत उसी ने दिखाई। महादेवी वर्मा कृत 'शृंखला की कड़ियां' भी स्त्री विमर्श का उत्कृष्ट नमूना तो है ही... व्यक्तिगत जीवन में भी उस

जमाने में पति से अलग होने का साहस भी उन्होंने दिखाया। अपनी पीढ़ी की हम तीन लेखिकाएं – कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा और मैं, हम तीनों ने इस विषय पर केवल लिखा ही नहीं, जीवन में अपने अपने ढंग से ढ़ाला भी। अभय कुमार दुबे ने अपने एक लेख में ठीक ही लिखा है कि स्त्री विमर्श की पुरोधा प्रभा खेतान डॉक्टर सर्राफ की ज्यादतियों से दुखी तो बहुत रहीं पर मृत्युपर्यंत रहीं, उन्हीं के साथ जबकि मन्नू भंडारी बिना स्त्री विमर्श का शोर मचाए एक स्थिति के बाद राजेंद्र यादव से अलग हो गई।"[4]

स्वीटी : आपका राजेंद्र यादव से प्रेम विवाह हुआ, फिर ऐसा क्या हुआ जो अलगाव का कारण बना?

म.भं : यह जरुरी नहीं है कि प्रेम विवाह हो और फिर अलगाव न हो। प्रेम विवाह में भी अलगाव हो सकता है। राजेंद्र यादव से शुरुआत से ही सम्बन्ध अच्छे बने ही नहीं। अलगाव का मुख्य कारण राजेंद्र यादव के अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्ध थे। मैं एक सम्बन्ध में विश्वास करती हूं। मैंने एक संबंध जिया और उसी में विश्वास रखा। मैं राजेंद्र यादव के प्रति समर्पित रही और चाहती थी कि वह भी मेरे प्रति समर्पित रहे। मैं क्या, लगभग हर स्त्री अपने पति से यही आकांक्षा रखती है। प्रेम देने के बदले हर स्त्री प्रेम लेने की भी कामना रखती है।

बकौल मन्नू भंडारी, "हम लोग मिलते–जुलते थे। हम लोगों ने ही एक–दूसरे को पसंद किया। ...वह पत्रकार किस्म के आदमी थे। राजनीतिक रूप से भी सक्रिय। थोड़े दिन बाद उन्हें लगा कि जिस तरह की उनकी जिंदगी होगी उसके कारण वे मुझे स्थायित्व सा कुछ नहीं दे पाएंगे। इसलिए नहीं चाहते थे कि... ।"[5]

स्वीटी : राजेंद्र यादव से आपके सम्बन्ध–विच्छेद का मुख्य कारण राजेंद्र यादव के विवाहेतर सम्बन्ध थे या अन्य कारण भी सम्बन्ध विच्छेद के लिए उत्तरदायी रहे?

म.भं : इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "दूसरी चीजें भी थीं। मैं कमाती थी और ये घर पर रहते थे। इससे इनको कॉम्प्लेक्स था। मगर उसका समाधान क्या था? या तो मैं नौकरी छोड़ूं या आप भी नौकरी कर लो। वरना खाएंगे क्या? रहेंगे कैसे? उधर ठाकौर साहब कभी इनकी खिंचाई करते कि तुम्हारा क्या है, बीवी कमा रही है। जबकि हमारे परिवार में इस

तरह की कोई बात नहीं होती थी। सब चीजें सबकी थीं। अब आप कॉम्प्लेक्स से भी सफर करेंगे और उसके लिए कुछ करेंगे भी नहीं तो क्या होगा? मैंने नया–नया कॉलेज ज्वाइन किया और ये कहें कि मैं नहीं रखूंगा बच्ची को। मैं कहती कि आपको करना कुछ नहीं है, दो महीने की बच्ची है, सोती ही रहेगी। गीला करे तो बस कपड़ा हटा देना। रोए तो बस बोतल में दूध दे देना। उस पर भी ये नखरे करते कि नहीं–नहीं, यह सब मुझसे नहीं होगा। तुम कुछ इंतजाम करके जाओ। कितनी बार मैं अपनी बड़ी बहन को बुलाती। जब इनको 'सारिका' की संपादकी ऑफर हुई तो मुझे खुशी हुई कि इनके मन की नौकरी होगी। सब लोग खुश थे मगर मैं जानती थी कि ये उस नौकरी को कभी नहीं लेंगे। वजह? राकेश की छोड़ी हुई नौकरी कैसे ले लें? बाद में इन्होंने माना कि राकेश इनका कॉम्प्लेक्स थे।"[6]

स्वीटी : स्त्री–जीवन से आपका क्या अर्थ है? एक स्त्री होने के नाते आपके जीवन की मुख्य पीड़ा क्या रही है?

म.भं : स्त्री का अपना–अपना जीवन होता है। ग्रामीण स्त्री अलग ढंग से जीवन जीती है जबकि शहरी स्त्री अलग। उनके जीवन जीने के अपने–अपने ढंग, जीवन की अपनी–अपनी समस्याएं हैं। आज जब मैं मुड़कर अपने जीवन को देखती हूं तो कोई पछतावा नहीं होता जबकि जिस समय मैंने उन परिस्थितियों को झेला था तो बहुत तकलीफ हुई थी। अब लगता है वह सब बीती बातें हैं – बीत गई सो बात गई।

इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा भी है, "और वैसे कहूं तो राजेंद्र ने मुझे बहुत दुख दिए हैं। बहुत रातें मैंने रोकर काटी हैं। इतने तनाव में भी रही हूं। डॉक्टर्स ने यही पूछा कि क्या बहुत तनाव में रहती थीं? क्योंकि मुझे दूसरी कोई शिकायत–बी.पी., शुगर या हार्ट की – कभी नहीं रही। इस बीमारी का मुख्य कारण तनाव ही बताया जाता है। मैं राजेंद्र से भी यही कहती हूं कि आपने मुझे और कुछ दिया हो या न दिया हो, यह बीमारी जरूर दे दी है। मुझे पैसे का कभी मोह नहीं रहा। मैंने राजेंद्र से कह दिया था कि आप आर्थिक पक्ष मुझ पर छोड़ दो। मैं सब संभाल लूंगी मगर जो सोचा था वह नहीं हो सका... इसका गिला तो है।"[7]

स्वीटी : स्त्री–मुक्ति से आपका क्या तात्पर्य है?

म.भं : इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "नारी–मुक्ति आंदोलन को भारतीय संदर्भ में एक बिल्कुल दूसरे ढंग से देखना होगा। पश्चिम में रूढ़ियां,

अंधविश्वास, झूठी मान्यताएं नारी के विकास को इस तरह तोड़ती और कुचलती नहीं, जैसा हमारे यहां आज भी है। उनकी समस्या कुछ व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक और मानसिक रुप से पुरुष निर्भरता से मुक्ति की समस्या है, जबकि हमारे यहां सामाजिक संस्कारों और रूढ़ियों से उबरने की। यहां तो दहेज, जाति, आर्थिक परतंत्रता, शील–सुरक्षा, सतीत्व या 'भारतीय नारी' का बहुप्रचारित शिकंजा और भी ऐसी अनेक रुकावटें हैं जो हमें खुला आसमान देखने ही नहीं देतीं।"[8]

स्वीटी : भारतीय परिप्रेक्ष्य में आप विवाह संस्था को किस प्रकार देखती हैं?

म.भं : इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "इसके परंपरागत दकियानूसी रूप ने तो इसे परिवार में पुरुष के वर्चस्व का आधार बना रखा है, जिसमें स्त्री के लिए विवाह सम्बन्ध नहीं, मात्र बंधन बनकर रह गया है। अब आज की आधुनिक स्त्री इस बंधन को स्वीकार करने को तैयार नहीं, परिणाम... तलाक की बढ़ती संख्या। ऐसी स्थिति में विवाह की जरूरत पर ही प्रश्न उठने लगे हैं। आजकल विशेषरूप से महानगरों में 'लिव इन' परंपरा की जो शुरुआत हुई है वह एक तरह से विवाह संस्था का नकार ही है। जब तक सम्बन्ध अच्छी तरह निभा, साथ रहे... जैसे ही सम्बन्ध गड़बड़ाया अलग। यहां तलाक की उस बेहूदी और झंझटिया प्रक्रिया से गुजरने की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि युवा लोगों का इसकी ओर रुझान बढ़ रहा है। पर बच्चों का इसमें एक तरह से नकार ही है और यदि स्वीकार है तो अलग होने पर उनकी समस्या फिर बंटी वाली ही होगी। अब बच्चों के लिए जो समस्याग्रस्त है 'लिव–इन' की वह परंपरा इस देश में जड़ें जमा पाएंगी क्या? संभव ही नहीं है। स्कैंडिनेवियन कंट्रीज–स्वीडन, फिनलैंड, नॉर्वे में कोई तीन पीढ़ियों से लिव–इन की परंपरा चल रही है पर मात्र 40–50% लोग ही इस तरह रहते हैं। इन आंकड़ों की मेरी जानकारी बहुत प्रामाणिक नहीं है कुछ कम ज्यादा हो सकती है। पर इतना तो तय है कि वहां भी आधी जनता के करीब तो विवाह करके ही रहती है। अब हमारा तो परंपरावादी देश है। यहां से तो विवाह संस्था के समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। बस जैसा कि मैंने पहले कहा विवाह के रूप को बदलना होगा और महानगरों में तो इसका सिलसिला शुरू भी हो गया है जो धीरे–धीरे आगे भी फैलेगा।"[9]

स्वीटी : आजकल स्त्री विमर्श में स्त्री–मुक्ति को देह–मुक्ति से जोड़कर देखा जाता है। स्त्री की देह–मुक्ति से आपका क्या तात्पर्य है?

म.भं : इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा है, "इस पुरुष प्रधान समाज में सदियों से स्त्री के शरीर के साथ पवित्रता का जो तमगा लटका रखा है उससे स्त्री की मुक्ति क्योंकि इसके चलते ही तो आज तक तलाकशुदा या बलात्कार की शिकार स्त्रियां त्याज्य मानी जाती थीं। किसी एक के साथ सम्बन्ध जुड़ने पर फिर वह किसी और के साथ सम्बन्ध रखने लायक मानी ही नहीं जाती थी... क्योंकि उस स्थिति में उसका शरीर अपवित्र माना जाता था। पुरुष चाहे दस जगह मुंह मारता फिरे उसके लिए पवित्रता का ऐसा कोई बंधन कभी रहा ही नहीं पर स्त्री को केवल एक पुरुष यानी पति के साथ ही सारा जीवन गुजारना होता था। पति की मृत्यु के बाद वैधव्य जीवन की यातनाओं से कौन परिचित नहीं? सो मेरा भी आग्रह है कि स्त्री के शरीर को पवित्रता के तमगे से बिल्कुल मुक्त किया जाए और जो अधिकार पुरुष को प्राप्त हैं वे उसे भी मिलें।

हां, देह की मुक्ति अगर किसी के लिए सेक्स की मुक्ति का पर्याय हो यानी कि स्त्री को एक साथ कई जगह सेक्स सम्बन्ध रखने की छूट हो तो इससे मेरी असहमति है। कम से कम इस देश में तो यह संभव ही नहीं क्योंकि इसके लिए एक सम्बन्धहीन जीवन अनिवार्य है और आज तक तो हमारे देश का स्त्री विमर्श न पति–परिवार निरपेक्ष है... न संतान निरपेक्ष है। हां, इतनी छूट तो उसके लिए अनिवार्य है कि पति के साथ सम्बन्ध गड़बड़ाने पर वह उसे छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ ले... पर कईयों के साथ सेक्स सम्बन्ध साथ–साथ चलने वाली स्थिति कम से कम मुझे तो स्वीकार्य नहीं, क्योंकि सम्बन्धों की भी अपनी एक नैतिकता होती है, एक गरिमा होती है।"[10]

स्वीटी : आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर भी इतनी यंत्रणामयी परिस्थितियों के बावजूद क्या कारण रहा कि 35 वर्षों तक आप राजेंद्र यादव से जुड़ी रहीं?

म.भं : यह प्रश्न मैं स्वयं अपने से पूछती हूँ कि मैं आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर थी और मेरी ही कमाई पर सारा घर निर्भर था। इसके बावजूद मैं 35 साल तक राजेंद्र यादव के साथ रही। जबकि अब मुझे लगता है कि मुझे इतने लंबे समय तक साथ रहना ही नहीं चाहिए था। अब इसे संस्कार कह लो या कुछ और...।

इस संदर्भ में मन्नू भंडारी ने लिखा भी है, "जब राजेंद्र जी मेरे पास आए तो उन्होंने बताया कि मीता से उनका सम्बन्ध था, लेकिन अब खत्म हो

गया। उन्होंने कहा कि वे क्लीन चिट की तरह आए हैं। मैंने कहा कोई बात नहीं, मेरी तो सगाई भी हो चुकी थी। मैं भी उसे भुलाकर क्लीनचिट की तरह आई हूं। लेकिन थोड़े समय बाद मीता फिर इनके जीवन में आ गई। मैं शुरू में ही राजेंद्र जी को समझ गई थी, लेकिन 35 साल तक निभाया। दरअसल आत्मीय सम्बन्धों में यातना भी भुगतनी पड़ती है। उम्मीद की डोर में बंधे रहे कि शायद सुधर जाएं। राजेंद्र तो बिल्कुल अलग नहीं होना चाहते थे।

अलगाव के शुरुआती दिनों में जब राजेंद्र एक दोस्त के यहां पेइंग गेस्ट थे तो एक दिन गिरिराज किशोर और बासु चटर्जी मेरे पास आए और कहा, 'राजेंद्र की स्थिति बहुत खराब है, हम उसका सामान लेकर तुम्हारे पास आ रहे हैं।' मैंने दोनों हाथ जोड़ दिए। बाद में गिरिराज किशोर ने राजेंद्र को 6 माह के लिए आईआईटी कानपुर में बुलवा लिया। कानपुर से उन्हें 'हंस' के लिए बीच–बीच में दिल्ली आना पड़ता था। पहली बार आए, तो बेटी के यहां ठहरे। बेटी ने फोन किया – बापू आए हैं, आप भी आ जाओ, साथ में खाना खाएंगे। मैं गई, खाना खाया और वापस आ गई। कुछ कहा नहीं। उन्हें शायद उम्मीद रही होगी कि मैं अपने घर आने के लिए कहूंगी। ...वे अलग होना ही नहीं चाहते थे। जब अलग फ्लैट ले लिया तो भी दोस्तों को यही कहते थे कि कुछ महीनों की बात है, फिर सब ठीक हो जाएगा। लेकिन मैं किसी से नहीं छिपाती थी, साफ कह देती थी कि हमारा सम्बन्ध टूट चुका है।"[11]

स्वीटी : आपके संघर्ष का मुख्य केंद्रबिंदु क्या है?

म.भं : जीवन की अनेक घटनाएं संघर्ष का केंद्रबिंदु रही हैं। राजेंद्र के साथ सम्बन्धों का तनाव और अच्छे सम्बन्ध न होना मेरे जीवन के संघर्ष का मुख्य बिंदु रहा है।

स्वीटी : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती है?

म.भं : सभी के अपने जीवन के अपने–अपने संघर्ष होते हैं। किस कारण से किस स्त्री ने क्या–क्या झेला, यह महत्वपूर्ण है। सभी स्त्रियां अपने–अपने ढंग से जीवन में आई कठिनाइयों, परिस्थितियों को झेलती हैं।

स्वीटी : समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं क्या है?

म.भं : समाज स्त्री की भूमिकाएं निर्धारित तो करता है लेकिन जब स्त्रियां अपना जीवन जीती हैं तो अलग ढंग से जीती हैं। सबसे पहले तो यह देखना भी आवश्यक है कि समाज ने स्त्री के लिए क्या–क्या भूमिकाएं निर्धारित की हैं। यदि स्त्री को वे भूमिकाएं अपने जीवन के लिए उचित और सकारात्मक लगे तो वह उसे स्वीकार कर ले। यह आवश्यक नहीं कि समाज द्वारा थोपी गई भूमिकाओं का वह जबरदस्ती वहन करे।

स्वीटी : क्या कुछ महत्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका या वे प्रसंग जो आत्मकथा लिखने के बाद आपके जीवन में प्रमुख रूप से घटित हुए?

म.भं : लगभग सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का जिक्र मैंने 'एक कहानी यह भी' में किया है। 'एक कहानी यह भी' लिखने के बाद ऐसा कुछ महत्वपूर्ण नहीं घटा, जिसे मैं दर्ज करूँ।

स्वीटी : एक सवर्ण स्त्री और एक दलित स्त्री के जीवन–संघर्ष को आप किस प्रकार देखती हैं?

म.भं : दलित स्त्रियों ने अपने जीवन में जितना संघर्ष झेला है, उतना सवर्ण स्त्रियों ने नहीं। स्वतंत्रता के मामले में दलित स्त्री, सवर्ण स्त्री की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र है। दोनों के रहने का तरीका भी जीवन–संघर्ष को निर्धारित करता है।

स्वीटी : विवाह को स्त्री–विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना जाता है, किन्तु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

म.भं : यह निर्भर करता है कि आपके वैवाहिक सम्बन्ध कैसे हैं। सफल विवाह जीवन हो, तो बहुत अच्छा भी माना जाता है। यह सच है कि विवाह की जगह अन्य कोई विकल्प अभी तक सामने नहीं आया है। सफल वैवाहिक जीवन कभी–कभी भाग्य पर भी निर्भर करता है। आजकल सफल वैवाहिक जीवन कम ही देखने को मिलता है।

स्वीटी : महिलाओं में ग्रामीण स्त्रियों और किसान–मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष ज्यादा विकट हैं, जबकि हिंदी के स्त्री लेखन में इन पर बहुत

कम लिखा... गया है। ऐसे में हिंदी के स्त्री–विमर्श को महिलाओं की की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है?

म.भं : यह सच है कि मजदूर और ग्रामीण स्त्रियों पर कम ही लिखा गया है। यह कहना बड़ा मुश्किल है कि हिंदी के स्त्री–विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जाए या नहीं।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती है? कहने का आशय है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

म.भं : यदि स्त्री दबंग है और पढ़ी–लिखी है तब तो वह अच्छे ढंग से रह सकती है अन्यथा उसे दबा हुआ रहना पड़ता है। आगे स्त्रियां जो झेलेंगी, वही उनके भविष्य को निर्धारित करेगा। आगे आने वाला समय बताएगा कि स्त्री अपने अधिकार कब तक हासिल कर लेगी। स्त्री इस दिशा में प्रयासरत तो है ही और आने वाला समय उसके अधिकारों के बारे में बताएगा।

स्वीटी : और अंत में, आप अपनी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' के माध्यम से इस देश की स्त्रियों को क्या संदेश देना चाहती हैं?

उत्तर स्त्रियों को दबकर नहीं रहना चाहिए। स्त्रियां अपने अधिकारों के साथ रहें, स्वाभिमान के साथ रहें, मेरा यही संदेश है।

संदर्भ

1. सुशील सिद्धार्थ (संपा.) – मन्नू भंडारी : मेरे साक्षात्कार, पृ. 109
2. वही, पृ. 144
3. वही, पृ. 110–111
4. वही, पृ. 112
5. वही, पृ. 14
6. वही, पृ. 26
7. वही, पृ. 46–47
8. वही, पृ. 77
9. वही, पृ. 99
10. वही, पृ. 101–102
11. वही, 172

सुशीला टाकभौरे

स्वीटी : आत्मकथा से आपका क्या तात्पर्य है?

सु.टा. : आत्मकथा अर्थात् अपने जीवन की कथा। अपने जीवन में पाए अनुभवों, अनुभूतियों, सुख–दुख की सत्यकथा का लेखन ही आत्मकथा है। स्थापित हिंदी साहित्य में अनेक सवर्ण पुरुषों और सवर्ण स्त्रियों ने अपनी आत्मकथा लिखी है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बाद से अभी तक अनेक दलित आत्मकथाएं भी प्रकाश में आई हैं। लेकिन गैरदलित आत्मकथाओं और दलित आत्मकथाओं में बहुत अंतर है। उनके लेखन, शिल्प सौंदर्य के साथ उनकी विषयवस्तु में भी अंतर है। इसी तरह एक दलित पुरुष और दलित स्त्री की आत्मकथा में भी उनके विषय और भाव अभिव्यक्ति की दृष्टि से अंतर दिखाई देता है। मेरी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' एक दलित स्त्री की आत्मकथा है। जिसमें दलित और स्त्री दोनों ही रूप में पायी वेदना, संवेदना, मान, अपमान और अभाव, अपेक्षाओं आदि का विस्तृत चित्रण है।

स्वीटी : स्त्री विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं?

सु.टा. : स्त्री विमर्श के संदर्भ में मैं आत्मकथा की आवश्यकता को सर्वोपरि मानती हूं। सच्ची आत्मकथाएं व्यक्ति के जीवन को सत्य रूप में सबके सामने प्रस्तुत करती हैं। स्त्रियों के जीवन की सच्चाई भी आत्मकथाओं के माध्यम से समाज के सामने आयी है। स्त्री जीवन के दुख–सुख, समाज में उनकी स्थिति, उनके जीवन की समस्याएं और उनके निदान के सुझाव स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से बहुत सरलता और विपुलता के साथ समझे जा सकते हैं।

यद्यपि यह भी सच है कि स्त्रियों की आत्मकथाएं बहुत कम संख्या में समाज के सामने आ सकी हैं। यह भी सच है कि वह अपने जीवन का पूरा सच शायद न बता पाई हो। फिर भी जितना सच सामने आया है, उससे यह अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है कि अभी इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भी स्त्रियां कितनी स्वतंत्रता पा सकी हैं। और अपने समता एवं सम्मान के अधिकार को कितना हासिल कर सकी हैं। हर व्यक्ति के जीवन की अपनी अलग समस्या होती है। आत्मकथाओं में अलग जीवन क्षेत्र और अलग अनुभव, अनुभूतियों की बातें सामने आती

हैं। गैर दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं को देखकर यह सहज ही समझा जा सकता है। गैर दलित स्त्री आत्मकथाओं में सवर्ण स्त्रियों के जीवन की अपनी समस्याओं का चित्रण है। इनके साथ यदि दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं का विश्लेषण किया जाए तो उनके जीवन की समस्याएं अलग और अधिक विकराल रूप में सामने आती हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री विमर्श को सरलता से समझा जा सकता है।

स्वीटी : चूंकि आत्मकथा में भी अंततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

सु.टा. : आत्मकथा और कथा में अंतर है। कथा कल्पना से लिखी जाती है। कथा दूसरों की भी लिखी जाती है मगर आत्मकथा सिर्फ स्वयं की ही लिखी जाती है। इसमें कल्पना का नाम मात्र भी स्थान नहीं होता है। मैंने अपनी आत्मकथा लिखी है। मैं जानती हूं और मानती हूं कि आत्मकथा में आत्म और कथा एक ही होते हैं, दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। और यदि वे अलग हैं तो फिर उस कृति को ईमानदारी से आत्मकथा नहीं कहा जा सकता। मैं अपनी आत्मकथा के लिए कह सकती हूं कि वह समग्र रुप से एक आत्मकथा है। यहाँ कितने प्रतिशत आत्म और कितनी प्रतिशत कथा का कोई सवाल ही नहीं है।

स्वीटी : साहित्य की अन्य विधाओं में आपकी बातें अभिव्यक्त नहीं हो सकीं कि आपने आत्मकथा लिखने का निर्णय लिया?

सु.टा. : कविता, कहानी, लेख, एकांकी, नाटक, उपन्यास आदि अनेक विधाओं में मैंने साहित्य लेखन किया है और हर विधा में मैंने अपनी बातें, विचार और भावना, अनुभूति को सरलता के साथ अभिव्यक्त किया है। मेरी आत्मकथा छपने के पहले मैंने जो भी लिखा और जिस विधा में लिखा, वह निश्चित उद्देश्य को लेकर लिखा गया, दलित विमर्श और नारी विमर्श के उद्देश्य से लिखा गया। उसमें मैं भी हूं, समाज भी है, यथार्थ भी है, कहीं कल्पना का उद्रेक भी है। वह सब अपनी अभिव्यक्ति स्वयं करने में सक्षम है।

आत्मकथा लिखने का मेरा अलग उद्देश्य रहा है। मेरे अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव, यातना, अपमान, लगातार संघर्ष और अपनी सफलताओं को मैं समाज के सामने लाना चाहती थी। मैं संपूर्ण स्त्री समाज को और दलित समाज को अपने जीवन का उदाहरण बताना चाहती थी कि हम

अपनी जमीन से ऊपर उठकर, किस तरह अपना आसमान भी पा सकते हैं। इसी उद्देश्य को लेकर मैंने आत्मकथा लिखी। मेरी आत्मकथा में न कहीं कल्पना है और न ही कहीं अतिशयोक्ति है। सहज सरल भाषा में बहुत ही सादगी के साथ मैंने अपने जीवन के सच को आत्मकथा के रूप में रखा है।

यह कहना कि साहित्य की अन्य विधाओं में मैं अपनी बातें अभिव्यक्त नहीं कर सकी, इसलिए मैंने आत्मकथा लिखी यह बहुत ही गलत दृष्टिकोण है। आत्मकथा लेखन के बाद भी मेरे कहानी संग्रह, उपन्यास और कई महत्वपूर्ण पुस्तकें छपी हैं। यदि ऐसा होता, तो आत्मकथा के बाद मुझे कुछ भी लिखने और छपवाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

स्वीटी : आपके संघर्ष के मुख्य केंद्र बिंदु क्या है?

सु.टा. : मेरे संघर्ष के मुख्य केंद्र बिंदु दलित और स्त्री हैं। उन्हीं के हित में मैं लेखन कर रही हूं, उन्हीं की जागृति और अधिकारों की लड़ाई के लिए मैं दलित और नारी मुक्ति आंदोलन से जुडी हूं। मैंने अपने जीवन में भी समता, स्वतंत्रता और सम्मान के लिए संघर्ष किया है। यही मैं अपने साहित्य के माध्यम से समाज को प्रेरणा के रूप में बताना चाहती हूं।

स्वीटी : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं?

उत्तर इस देश की सभी स्त्रियों को देखें तो यह सत्य सामने आता है कि बहुत कम स्त्रियां सबल, सक्षम और आत्मनिर्भर हो पाई हैं। लेकिन बहुसंख्यक स्त्रियां अभी भी शोषण का जीवन जी रही हैं। घर में, परिवार में और समाज में अभी भी उनके साथ हिंसा, अन्याय, अपमान और उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है। ऐसी स्थिति को देखते हुए, मैं अपने संघर्ष को सार्थक मानती हूं। क्योंकि मैं स्वयं अपने जीवन में अति सामान्य स्थिति से आगे बढ़ी हूं, यह मेरे जीवन की सफलता है। साथ ही यह भी विशेष बात है कि मैं सिर्फ स्वयं तक सीमित नहीं हूं बल्कि संपूर्ण स्त्री वर्ग की प्रगति और जागृति के लिए प्रयत्नशील हूं। इस दृष्टि से मैं अपने संघर्ष को महत्वपूर्ण और अधिक सार्थक मानती हूं।

स्वीटी : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद हैं जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

सु.टा. : अभी तक ऐसे कोई महत्त्वपूर्ण प्रसंग याद नहीं आए, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका। हाँ, यदि ऐसा कुछ याद आएगा, तब मैं उन्हें भी आत्मकथा भाग 2 के रूप में जरूर लिखना चाहूंगी। 'शिकंजे का दर्द' लिखते समय मैंने अपने सभी यादगार प्रसंगों को आत्मकथा में लिखा है। याद आने पर भी जानबूझ कर छोड़ा गया, ऐसा नहीं है।

स्वीटी : क्या कारण रहा कि सक्षम और स्वालम्बी होने के बावजूद पति के अत्याचारों को सहते हुए भी आप पति से अलग नहीं हो पायी?

सु.टा. : विवाह के बाद मैंने बी.एड. किया। इसके 6–7 माह बाद ही मुझे स्कूल में शिक्षिका की नौकरी मिल गई थी। 1986 में मैं कॉलेज में प्राध्यापिका की नौकरी करती थी। मैं सक्षम और स्वावलंबी महिला थी, फिर भी मेरे साथ इतना अपमान और अत्याचार का व्यवहार होता रहा। मैं चाहती तो अपने पति से अलग होकर अपने दम पर रह सकती थी, मगर मैं ऐसा नहीं कर सकी। इसके अनेक कारण मैंने आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में बताए हैं। बचपन से ही माता–पिता के दिए हुए संस्कार इतने गहरे थे कि मैं पति से अलग रहने की बात को भी अच्छा नहीं मानती थी। बच्चों को उसका पिता चाहिए, यह भी मैं जानती थी। साथ ही पति का व्यवहार ऐसा था कि जब मैं भी अपना गुस्सा दिखाती थी या अलग रहने की बात कहती थी, तब वे अपना बुरा व्यवहार बदल कर अच्छा व्यवहार करने लगते थे। तब मैं भी अपने निर्णय को बदल लेती थी। लगातार यह चलता रहा। मैं अपनी नौकरी, लेखन सामाजिक कार्यों में इतनी व्यस्त रहती थी कि घरेलू हिंसा या पति के दुर्व्यवहार को मैं भूल जाती या भूलने का प्रयत्न करके अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों में मन लगा लेती थी।

पति से अलग रहकर अकेले रहने की समस्याओं को मैं जानती थी। अकेली मां के लिए बच्चों की जिम्मेदारी उठाना भी कठिन होता है। साथ ही समाज में अपने मान सम्मान को बचाए रखने के लिए, मैं पति से अलग रहने का निर्णय नहीं कर पायी।

स्वीटी : स्त्री जीवन से आपका क्या तात्पर्य है? समाज द्वारा निर्धारित स्त्री की भूमिकाएं क्या हैं?

सु.टा. : जब हम स्त्री–पुरुष समानता की बात करते हैं, तब स्त्री जीवन को अलग से निर्धारित या रेखांकित नहीं किया जाना चाहिए। भारतीय समाज में हिंदू धर्मग्रंथों और मनुस्मृति द्वारा स्त्रियों की भूमिकाएं निर्धारित की गई हैं,

जैसे जीवन भर आयु के अनुसार पिता, भाई, पति और पुत्र रूपी पुरुषों के नियंत्रण में रहना, पुरुषों को प्रथम और स्वयं को दूसरे स्थान पर मानना। त्याग, उत्सर्ग, क्षमा, दया, सेवा, आज्ञाकारिणी आदि गुणों के साथ अपने कर्तव्य पूरे करते रहना – आदि ऐसी अनेक भूमिकाएं स्त्रियों के लिए निर्धारित हैं।

स्त्री के प्रति ये नियम और प्रतिबंध शुरू से अभी तक समाज में देखे जा सकते हैं। मगर अब स्त्रियां भी शिक्षा पा रही हैं, स्वावलंबी होकर धन कमा रही हैं। अब वे पुरुष के बराबर काम करके, पुरुष के बराबर महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रही हैं। अब स्त्रियां अपने पर थोपे गए बंधनों को स्वयं तोड़कर अपने अधिकारों की बातें करने लगी हैं। यह देखते हुए 'स्त्री जीवन' के प्रति मेरा तात्पर्य यही है कि 'स्त्री जीवन' यानी पुरुष के समकक्ष और पुरुष के लिए स्त्री का सहयोगी होना है। स्त्री जीवन समाज के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण है। स्त्री जीवन के विकास से ही समाज का विकास संभव है।

स्वीटी : पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथा? और क्यों?

सु.टा. : पुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की आत्मकथा 'जूठन' महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है। इस आत्मकथा में छुआछूत, अपमान, गरीबी और अभाव के अनेक प्रसंग बहुत मार्मिक हैं। कठिन परिस्थितियों में संघर्ष करते हुए उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी और परंपरा से अलग हटकर अच्छी नौकरी प्राप्त की। नौकरी के प्रशिक्षण के लिए वे महाराष्ट्र आए। बाद में चंद्रपुर में भी वे रहे। यहाँ रहकर उन्होंने डॉक्टर अंबेडकर के आंदोलन को नजदीक से देखा और समझा, इसलिए उनकी आत्मकथा में यथार्थ है। वे दलितों में दलित सफाईकर्मी समाज के थे। उनकी आत्मकथा में सफाईकर्मी समाज के जीवन में व्याप्त गरीबी, अभाव, अपमान और पीड़ा, वेदना अन्य दलितों के जीवन से अधिक है। इस आत्मकथा का देश की कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। विदेशों में इस आत्मकथा को प्रशंसा के साथ स्वीकृति मिली है।

स्वीटी : हिंदी साहित्य में आज स्त्री विमर्श आपको किस मुकाम पर दिखाई देता है?

सु.टा. : हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श सही मुकाम पर है, यह कहा जा सकता है। क्योंकि स्त्री जीवन की समस्याओं पर विचार–विमर्श पहले उतना नहीं था, जितना अब हो रहा है। स्त्री लेखन में वृद्धि हुई है, स्त्री आत्मकथाएं

प्रकाशित हो रही हैं। स्त्रियां अपनी बात स्वयं कह रही हैं। जो बातें पहले पर्दे के पीछे थीं, वे अब विश्व स्तर पर सामने आ रही हैं। की स्त्री विमर्श पर लगातार सेमिनार, विचार–गोष्ठी, कार्यक्रम हो रहे हैं जिससे विश्लेषण, सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा स्त्री–विमर्श को अधिक गहराई और विस्तार के साथ समझा जा रहा है। भविष्य में स्त्री विमर्श अपनी मंजिल जरूर प्राप्त करेगा, यह उम्मीद है।

स्वीटी : विवाह को स्त्री विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण माना गया है। किंतु आज तक विवाह की जगह कोई और विकल्प सामने नहीं रखा जा सका जिसके दम पर विवाह को अपदस्थ किया जा सके। तो क्या यह मान लिया जाए कि फिलहाल शोषण ही स्त्री की एकमात्र नियति है?

सु.टा. : स्त्री विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण स्त्री का अबला होना माना गया है। स्त्री के अबला या कमजोर स्वरूप को बदलने के लिए ही स्त्री सबलीकरण का आंदोलन चलाया जा रहा है। स्त्री यदि शारीरिक और मानसिक रूप से सबल होगी और अपने समता, स्वतंत्रता और सम्मान का अधिकार लेने में सक्षम होगी, तब उसके शोषण, उत्पीड़न की संभावना नहीं होगी। तब विवाह के बाद भी उसका शोषण, उत्पीड़न कोई नहीं कर सकेगा। इस तरह यह बात पूर्णतः स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि विवाह स्त्री विमर्श में महिलाओं के उत्पीड़न का प्रमुख कारण नहीं है। स्त्री उत्पीड़न का प्रमुख कारण स्त्री का स्वयं कमजोर होना है। शिक्षा और स्वावलम्बन स्त्रियों को सबलता प्रदान करते हैं। इसके साथ यह भी जरूरी है कि स्त्रियों को अपनी अस्मिता और अस्तित्व की पहचान हो। वे अपनी समता, सम्मान और स्वतंत्रता के अधिकारों से परिचित हों तथा अपने दम पर अपने अधिकारों पर अमल करें। ऐसी सबल और सक्षम स्त्री को विवाह संस्था उत्पीड़ित नहीं कर सकती। यद्यपि विवाह संस्था के विकल्प ढूंढना अति आधुनिक स्त्री के स्वयं के विचार हो सकते हैं। मगर विवाह के पर्याय वे विकल्प सफल नहीं हो सकते, क्योंकि तब भी अंत में स्त्री ही शोषित पीड़ित होती है।

स्वीटी : स्त्री विमर्श के तहत आमतौर पर पत्नी या प्रेमिका का पक्ष ही ज्यादा आता है, किंतु उसकी तुलना में पति की मां, बहनों (सास–ननद) का पक्ष या तो कम आता है या नकारात्मक भूमिका में आता है। ऐसा क्यों है? क्या ये महिलाएं पुरुष पक्ष से संबंधित हैं, इसलिए उत्पीड़क मान ली गई हैं या वे स्त्री विमर्श के दायरे से बाहर हैं?

सु.टा. : आपकी यह बात महत्वपूर्ण है। सास–ननद द्वारा किए गए स्त्री उत्पीड़न को देखते हुए ही कहा जाता है कि स्त्री भी स्त्री का शोषण, उत्पीड़न करती है। यद्यपि सभी स्त्रियां शोषित हैं। वे अपनी भाभी या बहू का शोषण भले ही कर लें, मगर वे भी पुरुष सत्ता से शोषित और अनुबंधित होती हैं। सास–बहू और ननद–भौजाई के रिश्ते में कहीं तकरार होती है, तो कभी प्रेम और अपमान भी होता है। मगर सामाजिक मूल्य और पुरुष प्रधान मानसिकता के कारण इन विषयों के व्यवहार में स्त्री का ही शोषण होता है, कभी ननद और सास भी उत्पीड़ित बनाई जा सकती हैं अर्थात शोषण स्त्री का ही होना निश्चित होता है।

बेटी, बहन और मां के रूप में स्त्रियां कहीं संरक्षित होती हैं, तो कहीं अनुशासित होती हैं। अपने दायरे में रहते हुए वे पुरुष सत्ता का सम्मान और आज्ञापालन करके ही शोषण मुक्त हो सकती हैं। यदि वे अपनी मर्जी से स्वच्छन्द व्यवहार करने लगें, तब वह मां, बहन, बेटी होने पर भी शोषित, पीड़ित की जाती हैं। इनके शोषण के आसपास सामाजिक बंधनों या अनुबंध की गरिमा की दीवारें खड़ी होती हैं। दीवारों के अंदर शोषण होता है। बाहर कुछ दिखाई नहीं देता, न ही बताया जाता है। क्योंकि पिता, भाई, पुत्र अपने ही होते हैं। यहाँ पितृसत्ता के विरोध के बदले, अपनेपन के सामने झुकना या सहना सहज ही स्त्री स्वीकार करती है। इसमें वह अपनी गरिमा मानती है या विरोध न करके अपने रिश्तो की गरिमा को बचाए रखना चाहती है।

पत्नी या प्रेमिका की बात को स्त्री विमर्श के दायरे में सर्वाधिक विश्लेषित किया जाता है। वह पत्नी या प्रेमिका के रूप में अपने पति या प्रेमी से प्रेम भी पाती है और उत्पीड़न भी पाती है। हमारी सामाजिक व्यवस्था में जब स्त्री को पुरुष अपने समान या बराबर नहीं मानता, तब स्त्री सहज ही तुच्छ, निम्न दोयम या पददलित मान ली जाती है या बना दी जाती है। ऐसी स्थिति में पत्नी और प्रेयसी के प्रति अन्याय, अपमान और शोषण, उत्पीड़न सहज रुप में शुरू हो जाता है। यहाँ पत्नी या प्रेयसी रूपी स्त्री खुलकर विरोध और विद्रोह करती है। मां, बहन, बेटी की अपेक्षा पत्नी या प्रेयसी पुरुष–अन्याय का विरोध तटस्थ रहकर और डटकर करती है। इसीलिए स्त्री विमर्श में पत्नी या प्रेयसी के उत्पीड़न और प्रतिरोध को केंद्रित रूप में देखा जाता है।

स्वीटी : महिलाओं में भी ग्रामीण स्त्रियों और किसान मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष ज्यादा विकट हैं जबकि हिंदी के स्त्री लेखन में इन पर बहुत कम लिखा गया है। ऐसे में हिंदी के स्त्री विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है?

सु.टा. : यह सत्य है कि महिलाओं में ग्रामीण स्त्रियों और किसान मजदूर महिलाओं की स्थिति तथा संघर्ष विकट है, लेकिन यह ज्यादा सत्य है कि भारतीय समाज में सबसे अधिक शोषित, पीड़ित दलित स्त्री ही है। खेतों में काम करने वाली किसान और मजदूर स्त्रियां दलित पिछड़ी जाति की ही होती हैं। शहरों में भी उनका उत्पीड़न होता है, ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा होता है। इनकी स्थिति सबसे अधिक विकट है। वे जाति के कारण भी उत्पीड़ित की जाती हैं और स्त्री होने के कारण भी। हिंदी के स्त्री लेखन में इन दलित पिछड़ी स्त्रियों पर ही अधिक लिखा गया है। स्त्री विमर्श के केंद्र में भी दलित पिछड़ी स्त्रियां ही हैं। इसलिए हिंदी के स्त्री विमर्श को महिलाओं की प्रतिनिधि आवाज माना जा सकता है।

स्त्री का शोषण स्त्री होने के कारण होता है। फिर चाहे वह दलित हो या गैरदलित, वह स्त्री शोषण ही कहलाता है। स्त्री विमर्श में स्त्री शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है। सवर्ण महिला भी यदि शोषित है तो वह स्त्री विमर्श के अन्तर्गत है। मगर ऐसे केस इक्का–दुक्का ही सामने आते हैं, जबकि दलित महिलाओं का शोषण सवर्ण पुरुषों द्वारा खुलेआम और निडरता व उद्दण्डता के साथ किया जाता है। वह इतना वीभत्स और करुण होता है कि तुरन्त न्याय की मांग करता है। मगर पुलिस, न्याय, सुविधा, सामर्थ्य कुछ भी उनके पक्ष में नहीं रहता। आम जनता भी ऐसी घटनाओं को उपेक्षा और निर्विकार रूप से देखती है। तब स्त्री विमर्श के द्वारा ही स्त्री शोषण को समाज के सामने लाकर, स्त्रियों को न्याय दिलाया जा सकता है।

स्वीटी : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती हैं? कहने का आशय है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

सु.टा. : इस देश में स्त्री का भविष्य भी अच्छा बन सकता है बशर्ते कि स्त्री विमर्श चलता रहे और स्त्री जागृति आंदोलन के द्वारा स्त्रियों को जागृत और सक्षम बनाया जाता रहे। आज की पीढ़ी आने वाली पीढ़ियों को अपने कर्त्तव्य और दायित्व सौंपती है। यदि आज की स्त्री आने वाली स्त्री पीढ़ियों को उनके अधिकार, साहस, सबलता और सक्षमता सौंपती रहेगी,

तब भविष्य में स्त्री जीवन अच्छा बनेगा। किसी को उसका अधिकार मिलना बड़ी बात नहीं है बल्कि बड़ी बात यह है कि उन अधिकारों को हमेशा कैसे सुरक्षित रखा जाए। स्त्रियों को उनके अधिकार मिलने के बाद भी उनसे छीने जा सकते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि स्त्रियां हमेशा सतर्क रहें, शिक्षा और नौकरी से स्वयं सक्षम बनें और अपनी बेटियों को भी सक्षम बनाएं। यह सिलसिला लगातार चलता रहे। स्त्रियां स्वयं अपने अधिकारों को लड़कर लें। उन्हें अपने लिए सुरक्षित रखें और अधिकार हनन होने पर संघर्ष करती रहें। तभी वे अधिकार संपन्न होकर रह सकेंगी, तभी उनका भविष्य सुरक्षित हो सकेगा।

स्त्रियों में जागृति आयी है। वे जीवन के हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं। भविष्य की स्त्री और अधिक जागरूक होगी, प्रगतिशील और उन्नत होगी, यह हमारा विश्वास होना चाहिए।

स्त्री का भविष्य अच्छा है। वह जागरुक बनकर अपने अधिकारों का पूर्ण उपयोग करे, तभी समाज की मानसिकता बदलेगी और तभी वर्तमान और भविष्य में स्त्रियों की स्थिति अच्छी बन सकेगी।

स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे? यह समय की सीमा का प्रश्न नहीं है बल्कि इस बात पर निर्भर है कि स्त्रियां कब सक्षम बनेंगी अर्थात किस तरह सक्षम बन सकती हैं। जब वे सक्षम होंगी तभी वे अपने अधिकार हासिल कर सकती हैं। कभी स्त्रियों के सबल बनने के बाद, उनके निर्बल बनने के या बनाए जाने के प्रसंग भी आते हैं तब उनके हासिल किए गए अधिकार भी उनके हाथों से चले जाते हैं। अतः यह बात अति महत्त्वपूर्ण है कि स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति हमेशा जागरूक रहें। वे समाज की उन सभी रूढ़ि, परंपराओं को तोड़ दें, जो उन्हें निर्बल बनाने का षड्यंत्र करती हैं। तभी उनका भविष्य अच्छा होगा और तभी वे अपने अधिकारों को हासिल करके अपने पास सुरक्षित रख सकेंगी।

स्वीटी : एक दलित स्त्री की व्यवस्था के तमाम बन्धनों से मुक्ति किस प्रकार संभव है?

सु.टा. : स्त्री दलित हो या गैरदलित, व्यवस्था के तमाम बन्धनों से उसकी मुक्ति तभी संभव है, जब वह अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति जागरुक होगी। शिक्षा और आत्मनिर्भरता के साथ उसे निडर और साहसी भी बनना होगा। हिंदू समाज व्यवस्था में स्त्री को हमेशा ही कमजोर बनाए

रखने की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था के विरुद्ध उसे संघर्ष करके, इसे बदल देना होगा। तब स्त्री पुरुषों से पीछे या दोयम स्थान पर न होकर पुरुष के समकक्ष मानी जाएगी। तब वह समता, सम्मान और स्वतंत्रता का अधिकार पाकर व्यवस्था के तमाम बंधनों से मुक्ति पा सकेगी।

दलित स्त्री के लिए इस स्थिति तक पहुंचना अधिक कठिन होगा, क्योंकि अभी तक संपूर्ण दलित समाज ही पिछड़ी स्थिति में है। दलित स्त्री अपने दलित समाज को जागृत करने के साथ ही सभी स्त्रियों को जागृत करेगी तभी वे शिक्षा, संगठन और संघर्ष के साथ व्यवस्था के बंधनों से मुक्त हो सकेंगी।

स्वीटी : और अंत में, इस देश की स्त्रियों को आप क्या संदेश देना चाहती हैं?

सु.टा. : मैं संपूर्ण स्त्रियों से यही कहना चाहूंगी कि स्त्री के शोषण, उत्पीड़न की परंपरा को खत्म करना है। न तो स्वयं अन्याय सहना है और न ही किसी अन्य स्त्री को अन्याय सहने देना है। सबको यह बता दो कि हम भी इन्सान हैं, हमें भी जीवन के हर क्षेत्र में बराबरी का हक है। अब हमारे अधिकार हमसे कोई नहीं छीन सकता। इसके साथ यह भी जरूरी है कि हमारी कथनी और करनी में अंतर नहीं होना चाहिए। जो हम कहते हैं, वही हमारे आचरण में भी आना चाहिए। दबी–कुचली अपंग मानसिकता से हमें मुक्त होना है, तभी हम सब स्त्री बनकर अपने स्त्री समाज को सबलता का संदेश दे सकेंगी। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने नारी मुक्ति का मार्ग हमारे लिए बना दिया है। बाबासाहब के विचारों को लेकर चलते हुए, हमें उनके नारी मुक्ति के संदेश को घर घर तक और जन जन तक पहुंचाना है। स्वीटी जी, आपको भी और सभी को नारी मुक्ति और नारी प्रगति के इस अभियान में अपना योगदान देना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1 अमृतलाल नागर – टुकड़े–टुकड़े दास्तान
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2008

2 अशोक वाजपेयी – पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003

3 ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

4 कमलेश्वर – जो मैंने जिया
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2012

5 कमलेश्वर यादों का चिराग
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2011

6 कमलेश्वर जलती हुई नदी
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2012

7 कुसुम अंसल – जो कहा नहीं गया
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–1996

8 कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा
सामयिक बुक्स, दिल्ली, संस्करण–2010

9 कृष्णा अग्निहोत्री – और... और... औरत
सामयिक बुक्स, दिल्ली, संस्करण–2010

10 कौसल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2009

11 चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना
पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

12 तुलसीराम — मुर्दहिया
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

13 तुलसीराम — मणिकर्णिका
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

14 पद्मा सचदेव — बूँद बावड़ी
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1999

15 प्रभा खेतान — अन्या से अनन्या
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

16 भगवतीचरण वर्मा — कहि न जाए का कहिए
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2001

17 मन्नू भंडारी — एक कहानी यह भी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

18 मोहनदास नैमिशराय — अपने–अपने पिंजरे, भाग–1
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

19 मोहनदास नैमिशराय — अपने–अपने पिंजरे, भाग–2
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

20 राजेन्द्र यादव — मुड़–मुड़के देखता हूँ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2001

21 विष्णु प्रभाकर — पंखहीन
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2006

22 विष्णु प्रभाकर — मुक्तगगन में
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2004

23 विष्णु प्रभाकर — और पंछी उड़ गया
राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2004

24 सुशीला टाकभौरे — शिकंजे का दर्द
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

25 सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत
अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण–2005

26 सूरजपाल चौहान – संतप्त
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

सहायक ग्रंथ

1 अर्चना वर्मा – अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर
मेघा बुक्स, दिल्ली, संस्करण–2008

2 अनामिका – कविता में औरत
इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2004

3 अनामिका – कहती हैं औरतें
साहित्य उपक्रम, इलाहाबाद, संस्करण–2007

4 अनामिका – चुनी हुई कविताएं
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

5 अनामिका – कवि ने कहा
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

6 अनामिका – स्त्रीत्व का मानचित्र
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2000

7 अनामिका – मन मांझने की जरूरत
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2000

8 अमृता प्रीतम – रसीदी टिकट
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

9 अरविंद जैन – औरत : अस्तित्व और अस्मिता
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2000

10 अरविंद जैन – उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2001

11 अरविंद जैन – औरत होने की सजा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

12 अरविंद जैन – बचपन से बलात्कार
शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2004

13 अरविंद जैन — स्त्री मुक्ति का सपना
लीलाधर मंडलोई (संपा.) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

14 अरुण कमल — गद्य की पहचान
अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण–2012

15 अशोक सिंह (अनु.) — अपने घर की तलाश में
(निर्मला पुतुल की संताली कविताओं का हिंदी अनुवाद)
रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, संस्करण–2004

16 आशारानी व्होरा — स्त्री सरोकार
आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, संस्करण–2006

17 ओमप्रकाश वाल्मीकि — दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

18 उमा चक्रवर्ती — जाति समाज में पितृसत्ता
ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2011

19 उमा शुक्ल — भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2009

20 ऊषा महाजन — बाधाओं के बावजूद नई औरत
मेघा बुक्स, दिल्ली, संस्करण–2002

21 कमलेश सिंह — हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण–2007

22 कात्यायनी — प्रेम, परम्परा और विद्रोह
परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण–2000

23 कुमुद शर्मा — आधी दुनिया का सच
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

23 कुसुम अंसल — मेरे साक्षात्कार
राजेश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2015

24 के.एम. कपाड़िया — भारत में विवाह एवं परिवार
मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित, दिल्ली
संस्करण–2000

25 कैलाश चन्द्र भाटिया – हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएं
यूनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली, संस्करण–1979

26 डॉ. गोपा जोशी – भारत में स्त्री असमानता
हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण–2006

27 चन्द्रमोहन अग्रवाल – नारी और समाज
श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, संस्करण–1994

28 चम्पा श्रीवास्तव – हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य
साहित्य वाणी, इलाहाबाद, संस्करण–2000

29 जगदीश्वर चतुर्वेदी – स्त्रीत्ववादी साहित्य विमर्श
अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली
संस्करण–2004

31 जवाहरलाल नेहरू – मेरी कहानी
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण–2007

32 डॉ. डी.एम. वणकर – सूरजपाल चौहान के साहित्य में दलित विमर्श
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

33 ताराबाई शिंदे – स्त्री–पुरुष तुलना
संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण–1999

34 दया पवार – अछूत
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

35 दीपक कुमार,
देवेन्द्र चौबे (संपा) – हाशिए का वृत्तांत
आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण–2011

36 डॉ. धर्मवीर (संपा.) – सीमंतनी उपदेश
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

37 डॉ. नगेन्द्र – हिंदी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपरबैक्स, गाजियाबाद, संस्करण–2007

38 नन्ददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003

39 नन्ददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2007

40 नासिरा शर्मा – औरत के लिए औरत
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

41 नितीन गायकवाड़ (संपा.) – दलित जीवन : संघर्ष और स्वप्न
अमर प्रकाशन, कानपुर, संस्करण–2013

42 निर्मल वर्मा – शब्द और स्मृति
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1976

43 नीलम कुलश्रेष्ठ – धर्म की बेड़ियाँ खोल रही हैं औरत
नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2008

44 नैया (संपा.) – अबलाओं का इंसाफ
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013

45 पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति और अपनी खबर
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1997

46 पंकज विष्ट (संपा.) – धर्म : प्रासंगिकता के सवाल
समयांतर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2006

47 प्रगति सक्सेना (अनु.) – स्त्रियों की पराधीनता
(जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013

48 प्रतिभा जैन व संगीता शर्मा – भारतीय स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ
रावत पब्लिकेशन, जयपुर, संस्करण–1998

49 प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री उपेक्षिता
(सीमोन द बोऊवार की पुस्तक 'The Second Sex' का हिंदी अनुवाद)
हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण–2002

50 प्रभा खेतान — उपनिवेश में स्त्री
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003

51 प्रभाकर क्षोत्रिय — समय, समाज और साहित्य
किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2003

52 पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' — अपनी खबर
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

53 पुरुषोत्तम अग्रवाल — संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

54 डॉ. बच्चन सिंह — हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2008

55 बजरंग बिहारी तिवारी — दलित साहित्य : एक अन्तर्यात्रा
नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण–2015

56 डॉ. बैजनाथ सिंहल — हिंदी विधाएं : स्वरूपात्मक अध्ययन
हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, सं.–1988

57 भगवत शरण उपाध्याय — भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2004

58 भगवान शरण भारद्वाज — हिंदी जीवन साहित्य : सिद्धांत और अध्ययन
परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1978

59 भीष्म साहनी — आज के अतीत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2003

60 डॉ. मंजू सुमन — दलित महिलाएं
सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2004

61 डॉ. मंजू सुमन — दलित नारी : एक विमर्श
सम्भव प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

62 ममता कालिया — खाँटी घरेलू औरत
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

63 ममता कालिया — कितने प्रश्न करूँ
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

64 ममता जैतली, श्री प्रकाश शर्मा — आधी आबादी का संघर्ष
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

65 मनीषा — हम सभ्य औरतें
सामयिक प्रकाशन, दिल्ली

66 महादेवी वर्मा — शृंखला की कड़ियां
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2008

67 मीरा देसाई — भारतीय समाज में नारी
मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण–2082

68 मुनमुन सरकार — तसलीमा नसरीन की कविताएं
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2005

69 मुनमुन सरकार (अनु.) — लज्जा
(तसलीमा नसरीन की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

70 मुनमुन सरकार (अनु.) — औरत के हक में
(तसलीमा नसरीन की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

71 मृणाल पाण्डे — ओ उब्बीरी
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2003

72 मृणाल पाण्डे, क्षमा शर्मा (संपा.) — बंद गलियों के विरुद्ध
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2002

73 मृणाल पाण्डे — देह की राजनीति से देश की राजनीति तक
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

74 मृणाल पाण्डे — परिधि पर स्त्री
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

75 मृणाल पाण्डे – जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

76 मृणाल पाण्डे – स्त्री लम्बा सफर
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2015

77 मृदुला सिन्हा – मात्र देह नहीं है औरत
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2012

78 मृदुला सिन्हा – बिटिया है विशेष
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

79 मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2002

80 मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

81 मैत्रेयी पुष्पा – सुनो मालिक सुनो
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

82 मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

83 मैत्रेयी पुष्पा – खुली खिड़कियाँ
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2016

84 मैत्रेयी पुष्पा – तब्दील निगाहें
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2012

85 मैत्रेयी पुष्पा – वह सफर था कि मुकाम था
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2017

86 मैत्रेयी पुष्पा – आवाज
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

87 मैनेजर पाण्डेय – भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013

88 मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे : समीक्षात्मक अध्ययन
श्रीनटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

89 मोहनदास नैमिशराय – दलित उत्पीड़न की परंपरा और वर्तमान
गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, संस्करण–2009

90 युगांक धीर (अनु.) – रूसो की आत्मकथा, भाग–2 और 2 (आत्मस्वीकृतियाँ)
संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2004

91 युगांक धीर, रमेंद्रनाथ (अनु.) – स्वतंत्रता और प्रेम की राह
(सिमोन द बोऊवार की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण–2002

92 रंजना जायसवाल – स्त्री और सेंसेक्स
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

93 रंजीत वर्मा – बलात्कार और कानून
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

94 रमणिका गुप्ता – स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012

95 रमणिका गुप्ता – स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने
शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2008

96 रमणिका गुप्ता – पातियां प्रेम की
समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2017

97 रमणिका गुप्ता, विमल थोराट (संपा.) – स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण
नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2009

98 रमाबाई – हिंदू स्त्री का जीवन
संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण–2006

99 रवीन्द्र कुमार पाठक – जनसंख्या समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

100 राजकिशोर (सं.) – स्त्री के लिए जगह
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

101 राजकिशोर — स्त्री, परंपरा और आधुनिकता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010

102 राजकिशोर — नैतिकता के नए सवाल
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

103 राजकिशोर — स्त्री–पुरुष : कुछ पुनर्विचार
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

104 राजेन्द्र यादव — आदमी की निगाह में औरत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

105 राजेन्द्र यादव — जवाब दो विक्रमादित्य
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

106 राजेन्द्र यादव (सं.) — देहरी भई विदेस
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

107 राधाकुमार — स्त्री संघर्ष का इतिहास
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

108 रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण–2045

109 रामचन्द्र तिवारी — हिंदी का गद्य साहित्य
विश्वविद्याकलय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2007

110 रामस्वरूप चतुर्वेदी — हिंदी गद्य : विन्यास और विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2006

111 रामस्वरूप चतुर्वेदी — हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2008

112 रूपा सिंह — स्त्री अस्मिता और कृष्णा सोबती
पूर्वोदय प्रकाशन, मेरठ, संस्करण–2006

113 रेखा अवस्थी — प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य
शब्द शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1978

114 लता सिंहल – भारतीय संस्कृति में नारी
परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण–1991

115 विजयपाल (संपा.) – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2014

116 विनीता अग्रवाल – हिंदी आत्मकथाएं, सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण
सचिन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1998

117 विमल थोराट – स्त्रीत्व का उत्सव
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

118 विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े – भारतीय विवाह संस्था का इतिहास
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 2000

119 विश्वबंधु शास्त्री विद्यालंकार – हिंदी का आत्मकथा साहित्य
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1984

120 विष्णु प्रभाकर – दायित्व लेखन का, संपूर्ण निबंध–2
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1994

121 वीरेन्द्र सिंह यादव (संपा.) – समय से मुठभेड़ करती दलित आत्मकथाएं
पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण–2012

122 वृंदा करात – जीना है तो लड़ना होगा
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

123 शरण कुमार लिंबाले – अक्करमाशी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

124 शशिकला त्रिपाठी – उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2006

125 शांति खन्ना – आधुनिक हिंदी का जीवनीपरक साहित्य
सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1973

126 शिव बाबू मिश्र (संपा.) – जूठन : एक विमर्श
शब्द सृष्टि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2006

127 संजीव चंदन — दलित स्त्रीवाद
द मर्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, वर्धा, सं. 2017

128 सरला महेश्वरी — नारी प्रश्न
राधाकृष्ण प्रकाशन, नइ दिल्ली, संस्करण–2007

129 साधना आर्य, निवेदिता मेनन जिनी लोकनीता — नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली
संस्करण–2001

130 सीमा दीक्षित — स्त्री अस्मिता : शय्या से सर्वोच्च अदालत तक
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

131 सुधा अरोड़ा — आम औरत जिंदा सवाल
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

132 सुधा सिंह — ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ
ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, संस्करण–2008

133 सुधा सिंह — साहित्य और विचारधारा
आनंद प्रकाशन, कोलकाता, संस्करण–2008

134 सुनीता गुप्ता — स्त्री चेतना के प्रस्थान बिंदु
प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण–2010

135 सुनीता जैन — गन्धर्व पर्व
रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा.लि., गाजियाबाद
संस्करण–2008

136 सुनीता जैन — क्षमा
रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा.लि., गाजियाबाद
संस्करण–2008

137 सुभाष चन्द्र — दलित आत्मकथाएं : अनुभव से चिंतन
इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2006

138 सुमन राजे — हिंदी साहित्य का आधा इतिहास
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण–2004

139 सुमन राजे — बीसवीं सदी का हिन्दी महिला लेखन
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण–2008

140 सुशील गुप्ता — औरत का कोई देश नहीं
(तसलीमा नसरीन की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009

141 सुशील सिद्धार्थ (संपा.) — मन्नू भंडारी : मेरे साक्षात्कार
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016

142 सुषमा सेठ — महिलाओं के कानूनी अधिकार
नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण–2008

143 सूर्यनारायण रणसुभे (अनु.) — उचक्का
(लक्ष्मण गायकवाड़ की पुस्तक का हिंदी अनुवाद)
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011

144 सूरजपाल चौहान — दलित आत्मकथा
अनुभव प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2006

145 श्रीधरम (संपा.) — तुलसीराम : व्यक्तित्व और कृतित्व
अंतिमा प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण 2016

146 क्षमा शर्मा — स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2012

पत्र–पत्रिकाओं के अंक, लेख और लेखक

1	अर्चना वर्मा	–	'रचनात्मक सूत्रों की तलाश में पुनर्यात्रा : एक आत्मकथ्य', हंस, मई 2007
2	अर्चना वर्मा	–	'परिवार, सत्ता और स्त्री विमर्श', हंस, नवम्बर 2009
3	अर्चना वर्मा	–	'एक मुक्त स्त्री का रेखाचित्र (अन्या से अनन्या)', हंस, जून 2007
4	अजय नावरिया	–	'दलित नैतिकता यौन शुचिता नहीं, यौन निष्ठा', हंस, सितम्बर, 2005
5.	अनामिका	–	'स्त्रीवादी बावड़ी में एक बूँद 'बूँद बावड़ी', हंस, सितम्बर, 2001
6	अभय कुमार दुबे	–	'प्रभा खेतान के बहाने : नारीवाद की हिंदी राजनीति', हंस, नवम्बर 2009
7	अभिषेक कश्यप	–	'कमलेश्वर की मानू', हंस मार्च 2007
8	अमिता मिश्र	–	'एक पत्र प्रभा खेतान के नाम', हंस, अप्रैल, 2008
9	अरविंद जैन	–	'स्त्री विमर्श : सत्ता और समर्पण', हंस, फरवरी 1997
10	अरविंद जैन	–	'मातृत्व : स्त्री की सार्थकता या बेड़ियां', हंस, दिसम्बर 1996
11	अरविंद जैन	–	'कृष्णा अग्निहोत्री हाजिर हों', हंस–दिसम्बर, 1998
12	ओमप्रकाश वाल्मीकि	–	'दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववादी', हंस, सितम्बर 2005
13	ओमप्रकाश वाल्मीकि	–	'दलित आत्मकथाओं का सामाजिक साहित्य परिदृश्य', जुलाई–सितंबर 2011
14	ओमा शर्मा	–	'आत्मकथा लेखन : आत्मछलना के प्रयोग', हंस, फरवरी, 2002
15	कमलेश जैन	–	'कानून, स्त्री और नैतिकता', हंस, सितम्बर 2005
16	कुसुम अंसल	–	'स्त्री की देह उसके पास सबसे बड़ा हथियार है', हंस, सितम्बर 2005
17	कृष्ण कुमार गुप्ता	–	'स्त्री अस्मिता और प्रभा खेतान', आजकल, मार्च 2009
18	कृष्णा अग्निहोत्री	–	'मैं लिखती रहूँ, रिसती रहूँ, व्यक्त होती रहूँ', सन्ध्या छाया

19 कृष्णा अग्निहोत्री – 'दोस्त राजेन्द्र अवस्थी',
हंस, अप्रैल 2010

20 गरिमा श्रीवास्तव – 'प्रतिरोध की संस्कृति : स्त्री आत्मकथाएं',
आलोचना, अक्टूबर–दिसम्बर 2009

21 गीता श्री – 'स्त्री ही स्त्री पर पहरा बिठाती है',
हंस, सितम्बर 2005

22 चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – 'भाई ने बच्चनजी से मेरी शादी का प्रस्ताव ठुकरा दिया',
नया ज्ञानोदय, मई 2000

23 चन्द्रभान सिंह यादव – 'दलित आत्मकथाएं : दर्द के दस्तावेज',
हंस, अप्रैल, 2011

24 तसलीमा नसरीन – 'पुरुष के लिए अधिकार नारी के लिए दायित्व',
हंस, नवम्बर 2011

25 तसलीमा नसरीन – 'असभ्यता',
हंस सितम्बर 2011

26 निवेदिता मेनन – 'स्वायत्तता एक बहुत बड़ा मूल्य है',
हंस, सितम्बर 2005

27 निशा नाग – 'अपने आइने में आत्मकथाएं',
हंस, मार्च 2000

28 पंकज चतुर्वेदी – 'आत्मकथा की अधूरी संस्कृति',
समयांतर, अक्टूबर 2004

29 प्रभा खेतान – 'स्त्री विमर्श : व्यक्तिगत का सामाजिक होना',
हंस, दिसम्बर 1996

30 प्रभा खेतान – 'पुरुषवादी नैतिकता, नारीवाद और भूमंडलीकरण',
हंस, अगस्त 2005

31 प्रभा खेतान – स्त्री विमर्श : इतिहास में अपनी जगह',
हंस, जनवरी–फरवरी 2000

32 प्रभा खेतान – 'पुरुषवादी नैतिकता, नारीवाद और भूमंडलीकरण',
हंस, अगस्त 2005

33 बजरंग बिहारी – 'तिहरा अभिशाप अर्थात् दलित अस्मिता विमर्श में स्त्री',
हंस, जुलाई 2000

34 बलवंत कौर – 'खांटी घरेलू औरत की कहानी' (पिंजरे की मैना),
हंस, जुलाई 2009

35 भारत भारद्वाज – 'हिंदी की पहली आत्मकथा अर्द्धकथानक',
हंस, जून 2009

36 भारत भारद्वाज – 'कथा, आत्मकथा और आलोचकथा',
हंस, जुलाई 2010

37 भारत भारद्वाज – 'अरे यायावर रहेगा याद : प्रभा खेतान',
हंस, नवम्बर 2008

38 मधु किश्वर – 'नैतिकता हर समाज व जाति में अलग–अलग होती है', हंस, सितम्बर 2005

39 मन्नू भंडारी – 'कितने कमलेश्वर', तहलका, जनवरी 2014

40 ममता कालिया – 'पिंजरे समेत उड़ती मैना', नया ज्ञानोदय, मई 2008

41 महाश्वेता देवी – 'अनन्या थीं प्रभा खेतान', हंस, नवम्बर 2008

42 मैत्रेयी पुष्पा – 'मुक्ति की दावेदारी', हंस, नवम्बर 2005

43 मैत्रेयी पुष्पा – 'लीक तोड़ने वाले लेखक बदनाम होने के लिए अभिशप्त हैं', हंस, सितम्बर 2005

44 मैत्रेयी पुष्पा – 'प्रेम के हर क्षण को शुभ मुहूर्त मानती हूँ', आलेख संवाद, मई 2008

45 मैनेजर पाण्डेय – 'आत्मा का आईना', हंस, मार्च 2010

46 मैनेजर पाण्डेय – 'सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे', हंस, जुलाई 2004

47 मोहनदास नैमिशराय – 'तिरस्कृत : जीवन से उगते कांटो की कथा', हंस, सितम्बर 2002

48 रमणिका गुप्ता – 'शर्म की परतें खुलती हैं आत्मकथाओं में', हंस, सितम्बर 2005

49 रवीन्द्र त्रिपाठी – 'आत्मकथा में नारीवादी विमर्श' हंस, अप्रैल 2007

50 राजकुमार – 'आत्म और आत्मचरित', तद्भव

51 राजेन्द्र यादव – 'पीड़ा के दावेदार' हंस, नवम्बर 2002

52 राजेन्द्र यादव – 'प्रेम का दूसरा नाम सेक्स है', आलेख संवाद, मई 2008

53 राजेन्द्र यादव – 'एक और स्त्री विमर्श', हंस, जून 2008

54 राजेन्द्र यादव – 'हर महान पुरुष के पीछे एक ...', हंस, जुलाई, 2007

55 राजेन्द्र यादव – 'हर धर्म स्त्री का शत्रु है', हंस, अक्टूबर 2007

56 राजेन्द्र यादव – 'अरे ये लाइन क्यों कट गई' प्रभा खेतान : एक अधूरी आत्मकथा', हंस, नवम्बर 2000

57 राजेन्द्र यादव – 'आत्म की कथाओं का सफर',
हंस, दिसम्बर 2006

58 राजेन्द्र यादव – 'सीढ़ियां हैं आत्मकथाएं',
हंस, फरवरी 2011

59 राजेश कुमार चौहान – 'स्त्री छवि के नए रोड की तलाश', (अन्या से अनन्या)
युद्धरत आम आदमी

60 रोहिणी अग्रवाल – 'एक कहानी यह भी : कठघरे में खड़े अहं',
हंस, मई 2007

61 लता शर्मा – 'शैय्या से शिखर तक',
हंस, सितम्बर 2005

62 शरद सिंह – 'स्त्री और आत्मकथा'
हंस, सितम्बर 2010

63 शिल्पी – हाशिए पर एक सवाल : नारी मुक्ति',
हंस, सितम्बर 2008

64 सरोज वशिष्ठ – 'अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य',
हंस, मई 2000

65 सुंदर चंद ठाकुर – 'धर्म, सेक्स और नैतिकता',
हंस, अगस्त 2005

66 सुधा अरोड़ा – 'क्या पति अपने रकीब को सहानुभूति देंगे',
हंस, अगस्त 2010

67 सुरेश श्रीवास्तव – 'नारी मुक्ति के मानदंड अर्थव्यवस्था से तय होंगे न कि आत्मकथाओं से',
हंस, दिसम्बर 2010

68 हिमांशु जोशी – 'प्रेम आदमी को आदमी होने का एहसास दिलाता है',
आलेख संवाद, मई 2008

69 क्षमा शर्मा – 'मनुवादी तालिबानों का घोषणापत्र',
हंस, फरवरी 1997

70 ज्ञानेन्द्र कुमार सन्तोष – 'आत्मकथा और उपन्यास'
आलोचना, अप्रैल–जून 2012

पत्र–पत्रिका विशेषांक

1 अपेक्षा, अंक–4, वर्ष–1, दलित आत्मवृत्त विशेषांक, जुलाई–सितम्बर 2003
2 अपेक्षा, अंक 32–33, दलित आत्मवृत्त विशेषांक, जुलाई–दिसम्बर 2010
3 कल्याण, नारी अंक, बाईसवें वर्ष का विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2072
4 पाखी, मन्नू भंडारी पर केंद्रित, जनवरी 2016
5 वर्तमान संदर्भ, स्त्रीमुक्ति : यथार्थ और यूटोपिया, अगस्त 2009, वर्ष 8, अंक 18
6 वाङ्मय, त्रैमासिक, फरवरी–जुलाई 2004
7 हंस, आत्मकथा अंक, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2000